इन्द्रप्रस्थ

भारती

जुलाई - सितम्बर

१९८८

र्ष १

ंक ३

हिन्दी अकादमी दिल्ली
की
महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

आर्थिक सहयोग व सहायता

साहित्यकार सहयोग : विपत्तिग्रस्त या जरूरतमन्द साहित्यकारों अथवा उनके परिवार के आश्रितों को सहायता प्रदान की जाती है।

छात्र सहयोग : छात्रों को अध्ययन अथवा शोध-कार्य के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

संस्था सहयोग : हिन्दी के विकास एवं प्रचार प्रसार के कार्य में संलग्न स्वयंसेवी संस्थाओं आदि को सहयोग प्रदान किया जाता है।

स्कूल व कॉलेजों को सहायता : स्कूल और कॉलेजों में हिन्दी की प्रतियोगिताओं, गोष्ठियों, सम्मेलनों आदि कार्यक्रमों के आयोजन के लिए सहायता प्रदान की जाती है।

प्रकाशन सहयोग : लेखकों को उनकी पाण्डुलिपियों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

लघु पत्र-पत्रिका सहयोग : लघु पत्र-पत्रिकाओं को भी विज्ञापन देकर सहयोग दिया जाता है।

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

सचिव
हिन्दी अकादमी, दिल्ली,
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२

परामर्श मण्डल
अक्षयकुमार जैन
कन्हैयालाल नन्दन
गोपालप्रसाद व्यास
डॉ० गोपाल शर्मा
प्रो० विजयेन्द्र स्नातक
विनोदकुमार मिश्र
विष्णु प्रभाकर

संपादक
डॉ० नारायणदत्त पालीवाल

सहायक संपादक
हरिसुमन बिष्ट

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपर्क सम्पादक हिन्दी अकादमी दिल्ली ए-२६/२७, सनलाइट इश्योरैंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११० ००२

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध विद्वान और हिन्दी साहित्यकार डॉ० भदन्त आनन्द कौसल्यायन का २२ जून, ८८ को सायं ७-१५ बजे मेयो अस्पताल, नागपुर में निधन हो गया। वे ८३ वर्ष के थे।

हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा दिनांक ६ जुलाई ८८ को पुराना सचिवालय के सभागार में स्व०भदन्त आनन्द कौसल्यायन को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। इस अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करने में कार्यकारी पार्षद (शिक्षा) श्री कुलानन्द भारतीय, बाबू गंगाशरण सिंह, श्री मधुकर राव चौधरी (राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के अध्यक्ष), श्री द्वारकादास वेद (रा०भा० प्र०स० के प्रधान मंत्री), डॉ० माजदा असद, डॉ० गोपाल शर्मा तथा हिन्दी अकादमी के सचिव डॉ० नारायणदत्त पालीवाल सहित विभिन्न हिन्दी सेवी संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन का जन्म ५ फरवरी, १९०५ को चण्डीगढ के समीप सुहाना नामक गांव में हुआ था। आपका बचपन का नाम हरिनाम दास था। पिता रामसरन दास हिन्दू मोहम्मडन हाईस्कूल अम्बाला में प्रधानाचार्य थे। कुशल शिक्षाविद् के पुत्र होने पर भी बालक हरिनाम का मन मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर पढ़ाई से ऊब गया और अल्पायु में ही आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। इस दौरान लाला लाजपत राय के सम्पर्क में आकर किशोर हरिनाम दास को लाला लाजपत राय के कौमी विश्वविद्यालय में बी० ए० में प्रवेश मिल गया। इस विश्वविद्यालय में क्रांतिकारी भगतसिंह, सुखदेव व यशपाल के सम्पर्क में आकर देश की आजादी के लिए आपके मन में सुलग रही चिंगारी को हवा मिली। १९ वर्ष की आयु में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ-साथ स्वयं को स्वातंत्र्य समर से जोड़ दिया।

२१ वर्ष की आयु में आपने ग्रह त्याग किया। (शेषांश पृष्ठ १८८ पर)

इन्द्रप्रस्थ भारती

वर्ष १ : अंक ३.

जुलाई-अगस्त-सितम्बर-१९८८.

सम्पादकीय : भाषाई स्वाभिमान / ४

लेख : वसुधैव कुटुम्बकम् / **विद्यानिवास मिश्र** ६
समसामयिक आलोचना और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल / **कृष्णदत्त पालीवाल** १४
नागार्जुन की काव्यानुभूति / **प्रेमसिंह** २८
कहानीकार कमलेश्वर और युगीन चेतना / **रतनलाल शर्मा** ४१

कहानियाँ : चाकू / **सुरेन्द्र कुमार पाल** ४७ गद्दार / **गौरी शंकर राजहंस** ५५ और सृष्टि बनी / **पंकज बिष्ट** ६४ बदलाव / **राजकुमार सैनी** ७३ मरुद्वीप / **उषा यादव** ७७

ग़ज़ल : **ज्ञान प्रकाश विवेक** की चार ग़ज़लें / ८३

कविताएँ : **गंगाप्रसाद विमल**/८५ **राजा खुगशाल** /८८ **अनिल विभाकर** /९१ **भारत यायावर**/ ९४

व्यंग्य : केशव केसन असिकरी, जस अरिहूँ न कराय/ **बरसाने लाल चतुर्वेदी** ९६ शपथ महिमा / **शेरजंग गर्ग** ९९

नाटक : चबूतरा / **सुरेन्द्र तिवारी** १०३

साहित्य भारती : पंजाबी कवि **पाश** की लम्बी कविता / १२४
बाङ्ला कविताएँ **तुलसी मुखोपाध्याय**/१२९ **राजाराम चौधरी**/१३० **जतीन्द्रनाथ मंडल**/१३९ संन्यासिनी (मराठी कहानी)/**अनिल सोनार**/१३२ संगम (तमिल कहानी) **सु० राममूर्ति** / १३८

पुस्तकें : माटी का खिलौना : एक रोमानी तथा रूहानी रचना / **दर्शन सेठी** १४२ देवताओं की मृत्यु / **उदय प्रकाश** १४५

विश्व साहित्य : कलाकार का जन्म (फ्रेंच कहानी) / **आन्द्रे मोर्वा** १४८ वृद्ध सप्ताह (जापानी कहानी)/ **कोजाबुरो ओए** १५२

कला : यथार्थ-अयथार्थ के मध्य हुसेन / **आनन्द कुमार अग्रवाल** १६४ आनन्द देव / **आनन्द कुमार अग्रवाल** १६७

संस्था उपलब्धि : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की गतिविधियाँ / **कृष्ण कुमार गोस्वामी** १७१

विशेष : दिल्ली कवि समाज, इन्द्रप्रस्थ समाज और शनिवार समाज / **ईश कुमार ईश** १७६

इस पत्रिका में व्यक्त विचार रचनाकारों के अपने हैं। इनसे सम्पादक की नीतियों व विचारों का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

© सुरक्षित

आवरण सज्जा एवं चित्र
संजय कुमार अग्रवाल

शुल्क : एक प्रति **पाँच रूपये**, वार्षिक **बीस रूपये**। वार्षिक ग्राहक बनने के लिए शुल्क,

सचिव,
हिन्दी अकादमी, दिल्ली,
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड,
नई दिल्ली/११० ००२ को भेजें।

सम्पादकीय

हिन्दी दिवस पर विशेष

भाषाई स्वाभिमान

देश की सभी भाषाएँ हमारे लिए अत्यन्त आदरणीय हैं। इन सभी भाषाओं का विकास हिन्दी को शक्ति प्रदान करता आया है। अतः हिन्दी और सभी भारतीय भाषाओं के बीच तालमेल और पारस्परिक आदान-प्रदान का बहुत महत्व है। भारत के संविधान में हिन्दी को राजभाषा का गौरवपूर्ण पद दिया गया है। हिन्दी भारतीय सभ्यता, संस्कृति और गौरव की सहज वाहिका के रूप में सदा इस देश को जोड़ती आई है। यह संतों और भक्तों की वाणी के जादू से जुड़ी हुई है। इस भाषा ने हमारे जीवन-दर्शन, आदर्शों और मान्यताओं को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दिनों इसी भाषा के माध्यम से सेनानियों की आवाज देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँची। राष्ट्रीय भावना के प्रचार-प्रसार और जन जागरण के कार्य में हिन्दी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ तक कि स्वतंत्रता आन्दोलन के दिग्गजों, सेनानियों और अहिन्दी भाषी नेताओं तक ने क्रांति और चेतना के लिए अपने विचार इस भाषा में अभिव्यक्त करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। महात्मा गाँधी के हिन्दुस्तानी आंदोलन के पीछे पारस्परिक आदान-प्रदान और भाषाई तालमेल की इसी भावना ने काम किया। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, नेताजी, विपिन चन्द्र पाल, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए नई प्रेरणा दी और इस भाषा के प्रति अपनी आस्था के स्वर मुखरित किए। इस प्रकार देश भर में अधिकांश लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली हिन्दी अन्य भाषाओं के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के रूप में फलती और पनपती गई। आज भी उत्तर प्रदेश में लगभग ९३ प्रतिशत, राजस्थान में लगभग ९२ प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में लगभग ८७ प्रतिशत, हरियाणा में लगभग ८९ प्रतिशत, मध्य प्रदेश में लगभग ८४ प्रतिशत, बिहार में लगभग ८० प्रतिशत, चण्डीगढ़ में लगभग ५६ प्रतिशत और दिल्ली में लगभग ७६ प्रतिशत लोग हिन्दी भाषी हैं। क्या यहाँ सभी जगह हिन्दी को उसका गौरवपूर्ण स्थान मिला है? इन राज्यों में क्या कठिनाई है? हिन्दीतर राज्यों से तो हम हिन्दी अपनाने की बात करें पर स्वयं हिन्दीभाषी क्षेत्र अंग्रेजी से चिपके रहें, यह कहाँ का न्याय है। इन राज्यों को हिन्दी की दिशा में पहल करके हिन्दीतर राज्यों को सहयोग प्रदान कर भाषाई तालमेल, सौमनस्य और सद्भाव का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

जहाँ तक सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने और उसे बढ़ावा देने का प्रश्न है, इसके लिए कई उपाय अपेक्षित हैं, जिनको बहुत संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है—

मनोवैज्ञानिक संकोच—प्रायः देखा जाता है कि हिन्दी का प्रयोग करने के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं होते हैं। विशेषकर उच्च अधिकारी तो हिन्दी का प्रयोग अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं मानते। इसके कई अपवाद हैं। अधिकतर उच्च अधिकारी हिन्दी को छोटे कर्मचारियों की भाषा मानकर, स्वयं अपनी अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी का सहारा लेना अपना गौरव की बात समझते हैं। अतः हिन्दी को जब तक सभी स्तरों पर मन से नहीं जोड़ा जाए और भाषाई स्वाभिमान जगाकर उसको कार्य व्यवहार में प्रयोग नहीं लिया जाए तब तक इस दिशा में प्रगति की आशा नहीं है। यह हम अपने ४० वर्षों के अनुभव से देख ही रहे हैं।

कार्यालय साहित्य—कार्यालयों में विशेष प्रकार के फार्मों, प्रपत्रों, नियमों, उप-नियमों संहिताओं आदि का प्रचलन है। इनकी एक विशेष प्रकार की भाषा और शैली होती है। यदि इनके मानक रूप उपलब्ध हों और उनकी भाषा सहज एवं सरल हो, तो अंग्रेजी के बदले हिन्दी में प्रयोग करना सुविधाजनक हो जाए। ऐसे कार्य किए भी गए, प्रयोग में भी आ रहे हैं। परन्तु कहीं-कहीं भाषा अत्यन्त जटिल और तकनीकी रूप ले लेती है। अतः कुछ कठिनाइयाँ भी आ सकती हैं। ऐसी दशा में हमें ऐसे फार्मों, प्रपत्रों आदि को मूल रूप से हिन्दी में तैयार करने का प्रयास भी करना चाहिए। अनुवाद के कारण भाषा बोझिल हो जाती है। कभी-कभी ऐसे अनुवाद भी हो जाते हैं जो अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। यही अनुवादी हिन्दी भी हिन्दी के प्रचार और प्रसार में बाधक ही सिद्ध हुई है। अतः इस दिशा में नयी सोच अपेक्षित है।

तकनीकी शब्दावली, शब्द संकलन एवं शब्द-कोश—जब माध्यम परिवर्तन होता है तो एक भाषा के तकनीकी शब्दों का या वाक्यांशों का दूसरी भाषा में रूपांतर अपेक्षित होता है। हिन्दी का प्रयोग करते समय हमें सरकारी कार्य व्यवहार में प्रचलित अंग्रेजी की शब्दावली को हिन्दी में परिवर्तित करना होता है। ऐसे अनेक शब्द-कोश, शब्द संकलन और शब्द संग्रह सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर उपलब्ध हैं, जिनमें प्रशासनिक क्षेत्र में प्रचलित शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची दिए गए हैं। शब्दों का शब्द-कोश में उपलब्ध मात्र होना ही पर्याप्त नहीं है, उनके सही रूप में प्रयोग के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। इसके लिए सरकारी कार्य-पद्धति को समझते हुए विशेष प्रयोजन के लिए प्रयुक्त शब्द को समझना और उसी के अनुरूप उसका पर्यायवाची हिन्दी में लिखना अपेक्षित होता है। अलग-अलग विषयों के अनुसार शब्दावली भी विभाग तैयार करा सकते हैं। सरकारी कार्यालयों में यदि विभिन्न विषयों से जुड़े हुए सहायक तथा कर्मचारी अपने दैनिक कार्य व्यवहार में बार-बार प्रयोग में आने वाले शब्दों की सूची अपनी मेज पर तैयार रखें तो अपना काम सरलता से कर सकते हैं। इसमें भी एक मुख्य बात है कि जहाँ कार्य प्रारम्भिक स्थिति में हो वहाँ यदि बीच-बीच में कुछ तकनीकी शब्दों को केवल देवनागरी लिपि में लिख दिया जाए तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। धीरे-धीरे वे शब्द भी हिन्दी में बदलने लगेंगे।

टीप और पत्र-व्यवहार—सरकारी कार्यालयों में फाइलों में टीपें लिखी जाती हैं। कार्यालय पद्धति के अनुसार किसी भी विषय पर कार्यवाही करते समय संबंधित कर्मचारी अपनी टीप उच्च अधिकारियों तक पहुँचाता है। टीप लिखने का भी सरकारी कार्यालयों में एक विशेष अन्दाज है। बराबर अभ्यास करने पर हम अंग्रेजी के स्थान पर टीपों का हिन्दी स्वरूप प्रदान

करते हुए स्वयं हिन्दी की अच्छी टीपों के नमूने प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार पत्र-व्यवहार के लिए पहले प्रारूप तैयार किया जाता है। अनुमोदन होने पर उसे स्वच्छ रूप दिया जाता है। अंग्रेजी में टीपों और प्रारूपण के लिए लगभग बीस-पच्चीस ऐसे वाक्य रूढ़ हैं जिन्हें रट लेने पर अंग्रेजी में बराबर टीपें लिखी जाती हैं। यही बात अंग्रेजी प्रारूपों पर भी लागू होती है। हिन्दी में काम करते समय यदि इन्हीं वाक्यों का जस-तस अनुवाद कर हम अपने पास तैयार रखें तो उनकी सहायता से हिन्दी में पत्र लिखना आसान हो सकता है, परन्तु इस कार्य में सतर्कता आवश्यक है। बात फिर अनुवाद पर ही आती है और जहाँ अनुवाद में हम मक्खी पर मक्खी बैठाने का प्रयास करते हैं, वहाँ भाषा बनावटी और बोझिल हो जाती है। इसलिए इस दिशा में भी हमें मूल प्रारूपण हिन्दी में करने का प्रयास करना चाहिए और अंग्रेजी की बैसाखी छोड़ देनी चाहिए।

विधि क्षेत्र—जहाँ तक विधि क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग का प्रश्न है वहाँ हम भाषा और शब्दावली संबंधी इतनी छूट नहीं ले सकते जितनी सामान्य प्रशासनिक कार्य में। अतः अधिनियमों, उपनियमों और अन्य कानून से संबद्ध सामग्री का अनुवाद करते समय निर्वचन अर्थात शब्दार्थ के प्रति सजग रहना होता है क्योंकि कानून में एक शब्द का एक ही अर्थ आवश्यक होता है। नियमों के प्रयोग में आने वाले केवल फार्मों, प्रपत्रों तथा अन्य साहित्य को हिन्दी में उपलब्ध करना भी आवश्यक होता है। इस दिशा में विधि मंत्रालय द्वारा बहुत कार्य किया जा चुका है। विधि शब्दावली भी बन गयी है और अनेक अधिनियमों का अनुवाद भी उपलब्ध है, आवश्यकता उनके प्रयोग और कार्य-व्यवहार में लाने की है। अनेक नियमों का हिन्दी में काम हो भी रहा है। यह एक शुभ संकेत है।

साधन—हिन्दी में काम करते समय टाइपराइटरों, टाइपिस्टों और आशुलिपिकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। पर्याप्त संख्या में हिन्दी के टाइपराइटर उपलब्ध हैं। अब इस क्षेत्र में कम्प्यूटरों की सुविधा उपलब्ध हो रही है। टाइपिस्टों और आशुलिपिकों को प्रशिक्षण भी दिया जा रहा है, परन्तु प्रशिक्षित कर्मचारियों को लगातार काम हिन्दी में नहीं मिलने के कारण उनका अभ्यास समाप्त हो जाता है और वे सीखा हुआ भूल जाते हैं। अतः इधर ध्यान देना आवश्यक है। इस प्रकार कर्मचारियों को भाषा कार्यशाला आदि के माध्यम से हिन्दी में कार्यालय कार्य-पद्धति का प्रशिक्षण दिया जाना अनिवार्य है, जिसमें भाषा का ज्ञान, वर्तनी का ज्ञान, फाइल कार्य का ज्ञान, तकनीकी शब्दावली सम्बन्धी प्रशिक्षण तथा राजभाषा से संबंधित नियमों आदि की जानकारी दी जा सकती है। इससे कर्मचारियों में आत्मविश्वास बढ़ेगा और हिन्दी में काम करने के लिए जो संकोच होता है वह धीरे-धीरे दूर होने लगेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग विभिन्न चरणों में बाँट कर प्रगति की ओर बढ़ाया जा सकता है। कार्यालय विषय चुनकर समयबद्ध रूप में हिन्दी अपना लें और एक बार हिन्दी अपना लिए जाने पर वापस अंग्रेजी में नहीं लौटें तो इसका बहुत बड़ा लाभ होगा। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ उच्च अधिकारी पहल करेंगे, हिन्दी का प्रयोग करेंगे, हिन्दी के प्रति निष्ठा और लगन बनायेंगे वहाँ अधीनस्थ कर्मचारी स्वतः ही हिंदी से जुड़ जायेंगे और कार्यालयों में स्वाभाविक रूप से हिन्दी में काम होने लगेगा, क्योंकि नियमों के आधार पर या आदेशों की प्रतीक्षा में हिन्दी का प्रचार और प्रसार हो जाएगा ऐसी आशा करना उचित नहीं।

कठिन या सरल हिन्दी—कई बार यह कहा जाता है कि सरकारी कामकाज में जन-

सामान्य की समझ में आ सकने वाली भाषा अथवा सरल शब्दावली का प्रयोग किया जाना चाहिए यह बात ठीक भी है, क्योंकि जहाँ जन-सामान्य से संबंधित विषयों पर फाइलों में लिखा पढ़ी या पत्र व्यवहार करना हो वहाँ न तो सूर और तुलसी की भाषा चल सकेगी न प्रसाद-पंत-निराला की। कार्यालय में जिस तकनीकी शब्दावली का प्रयोग होता है उसमें कई बार कठिनाई के कारण यह भी होता है कि लगभग समान अर्थ वाले कई शब्दों की एक ही शृंखला सरकारी कामकाज में प्रयुक्त होती है जैसे—सेंसन, अप्रूवल, कंसेंट, एसेंट कंक्रेंस, एक्सपटेंस आदि। सामान्य रूप में यदि आरंभिक अवस्था में इन शब्दों के लिए मंजूरी शब्द का प्रयोग कर लिया जाए तो हिन्दी सरल हो सकती है। वैसे इनके लिए क्रमशः संस्वीकृति, अनुमोदन, सहमति, सम्मति, स्वीकृति आदि शब्द भी प्रयोग किए जाते हैं। इसी प्रकार एक्ट, रूल बाइलॉज सैक्सन, आर्टिकल आदि शब्द कानून की परिधि के अन्तर्गत प्रयोग में आते हैं, जिनके लिए क्रमशः अधिनियम, नियम, उपनियम, धारा, अनुच्छेद आदि का प्रयोग होता है। कभी-कभी ऐसे शब्द अवश्य प्रयोग में आ जाते हैं जो कुछ अटपटे लगते हैं—जैसे सब डिविजनल मजिस्ट्रेट के लिए खंडमंडलाधीश, एक्जीक्यूटिव इंजीनियर के लिए अधिशासी अभियन्ता, डिविजन के लिए प्रखंड, अंडर साइंड के लिए अधोहस्ताक्षरी आदि शब्दों का प्रयोग कठिन तथा अव्यावहारिक लगता है। अनुवाद करते समय विशेषकर इस प्रकार की बोझिल भाषा देखने में आती है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकारी कामकाज में हम ऐसी भाषा का प्रयोग करें जिससे अर्थ तो स्पष्ट हो जाए, परन्तु जिनके लिए वह भाषा लिखी जा रही है उसकी समझ में भी आसानी से आ जाए।

स्वतन्त्रता के पश्चात सम्पर्क भाषा के रूप में संविधान में हिन्दी के विकास के साथ-साथ देश की सभी मान्यता प्राप्त भाषाओं के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम निर्धारित किए गये और योजनाएँ बनाई गईं। हिन्दी के व्यावहारिक प्रयोग की दिशा में सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर बहुत कुछ किया गया है और किया जा रहा है। आवश्यकता है दृढ़ संकल्प के साथ पहल करने की। अपनी भाषा अपनी ही होती है उसमें हम अपने मन की बात सहज और स्वाभाविक रूप में कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी के साथ देश का गौरव भी जुड़ा हुआ है। यह देश के स्वाभिमान और राष्ट्र की गरिमा से सम्बद्ध विषय है जिस पर हमें मनन करना होगा। हिन्दी की सेवा और इस भाषा की गरिमा तथा अन्य सभी भाषाओं के साथ इसके सामंजस्य की आवश्यकता भी है। भाषाई तालमेल, राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक मेल-जोल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हमें परम्पराओं, संस्कृतियों, मान्यताओं, मूल्यों और विश्वासों की विभिन्नता के बीच पारस्परिक सद्भाव और एकता की सुनहरी रेखा पहचाननी है। हिन्दी के विकास के लिए, भाषाई तालमेल के लिए, आपसी मेलजोल और सद्भाव के लिए तथा सभी भाषाओं की सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्ता की पहचान करते हुए देश की राष्ट्रभाषा, राजभाषा या सम्पर्क भाषा को बढावा देने की आवश्यकता है। जब तक हिन्दी के अनुकूल वातावरण नहीं बनेगा और जन-जन के मन में भारतीय भाषाओं के प्रति अनुराग पैदा नहीं होगा तब तक हम अंग्रेजी के जाल से नहीं बच सकेंगे और हिन्दी ही क्या कोई भी भारत की भाषा आगे नहीं बढ़ सकेगी।

हिन्दी के माध्यम से राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ होगी। आज हम सबको भाषाई सौमनस्य के लिए चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ाने की दिशा में कारगर

कदम उठाने हैं, सभी भाषाओं को बढ़ावा देना है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति के लिए अपने-अपने क्षेत्र में सभी भाषाएँ अपनाते हुए सम्पर्क और पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए हिन्दी का पोषण करना है। भारतीय भाषाओं की जड़ें इस धरती और मिट्टी में गहराई तक पहुँची हुई हैं। यहाँ के जन-मानस की आशाओं और आकांक्षाओं, यहाँ के दर्शन और यहाँ की आस्थाओं और मान्यताओं को वाणी देने में यहाँ की बोली-भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमें अपनी आस्थाओं और आदर की सभी भावनाओं को भारतीय भाषाओं की उन्नति और इस देश की एकता के लिए समर्पित करना है। हिन्दी ने इस देश के जन-जन के मन को जोड़ा और जिसके माध्यम से हमारे संतों, सूफियों, समाज-सुधारकों, भक्तों और गुरुओं ने अपने विचारों को वाणी दी और देश की सामाजिक संस्कृति का पोषण करने में इस भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। एकता की इस कड़ी को मजबूत करना है।

माध्यम परिवर्तन की स्थिति बहुत जटिल होती है और जब एक भाषा से दूसरी भाषा में काम करना प्रारम्भ किया जाता है तो उसके लिए बहुत से मानवीय एवं यांत्रिक साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ती है। अंग्रेजी के स्थान पर सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, विभिन्न संस्थानों और संगठनों में हिन्दी का प्रयोग करने की दिशा में ऐसी कठिनाइयाँ बराबर आई हैं जिनको दूर करके ही हम व्यावहारिक रूप से हिन्दी के प्रचार और प्रसार को बढ़ावा दे सकते हैं और अंग्रेजी के स्थान पर दैनिक कार्य में हिन्दी अपनाई जा सकती है। क्या ही अच्छा होता कि जब देश स्वतन्त्र हुआ था तो उसी समय हिन्दी को राजभाषा घोषित करते हुए अनिवार्य रूप से सरकारी कामकाज में इस भाषा के प्रयोग की घोषणा कर दी गई होती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इन चार दसकों में कई प्रकार के भाषाई और राजनीतिक विवाद एवं दबाव उभर कर आए जिससे हिन्दी के प्रयोग के मार्ग में बाधा पड़ी। यद्यपि सरकारी तौर पर बहुत ही प्रयत्न किए जा चुके हैं, फिर भी हिन्दी को अभी तक न तो वह गौरव मिला है जो संविधान ने इस भाषा को दिया है और न ही इसका प्रयोग अपेक्षित स्तर तक हो पा रहा है।

कभी-कभी यह सन्देह भी व्यक्त किया जाता है कि हिन्दी को बढ़ावा देने से अन्य भारतीय भाषाओं के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अन्य भारतीय भाषाएँ यह धारणा ठीक नहीं है। राज्यों में सरकारी कामकाज आदि क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से हो और अंग्रेजी का स्थान क्षेत्रीय भाषाएँ ले लें तो उससे हिन्दी का भी हित होगा क्योंकि हिन्दी का विरोध भारतीय भाषाओं के साथ नहीं बल्कि अंग्रेजी के साथ है। आज स्थिति यह है कि विभिन्न प्रदेश अपनी प्रादेशिक भाषाओं को अंग्रेजी के स्थान पर न तो प्रयोग में लाने का प्रयास करते हैं और न इस बात को महत्व ही देते हैं। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी का वर्चस्व बना हुआ है और हिन्दी सहित सभी प्रादेशिक भाषायें पिछड़ती जा रही हैं। यह स्थिति देश की भाषाई संस्कृति और भारतीय भाषाओं के उन्नयन तथा विकास की दृष्टि से अत्यन्त असंतोषजनक कही जा सकती है। हमारी सभी भाषाएँ समृद्ध है। भावनात्मक एकता के स्तर पर सभी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसलिए आज इस बात की आवश्यकता है कि हम प्रादेशिक भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में स्थापित करके राजकाज तथा दैनिक प्रयोग की भाषा के रूप में उनको बढ़ावा दें। जहाँ तक केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक आदान-प्रदान का सवाल है, वहाँ हिन्दी का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए न तो आदेशों की प्रतीक्षा की जानी चाहिए और न यह उत्तर-दायित्व केवल सरकार पर ही छोड़ा जाना चाहिए। बल्कि यह जिम्मेदारी सरकार और जन-

(शेषांश पृष्ठ १८६ पर)

लेख

वसुधैव कुटुम्बकम्

□ विद्यानिवास मिश्र

आज जब हम कुछ ज्यादा ही आत्मगौरव से स्फीत या ठीक कहें पीड़ित होते हैं, तो कहते हैं, हम तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने वाले हैं, हम समस्त विश्व को एक नीड़ बनाने वाले हैं, हम बहुत उदार हैं। परन्तु भीतर-भीतर हम त्रिपुरारि के तबेले वाली स्थिति में रहते हैं, परिवार का हर सदस्य हर दूसरे सदस्य से रार-तकरार मचाये रहता है, इस कुटुम्ब में बस जहर का प्याला पीकर सो जाने की तबियत होती है। इसका कारण यह है कि हम अपने आदर्शों को जीते नहीं, उन्हें शब्द के रूप में भी नहीं दुहराते, उन्हें समय-समय पर बिल्ला बनाकर अपनी पहचान कराने के लिए इस्तेमाल करते हैं, कि हम ये नहीं, हम वो हैं, अखिल संसार को चरित्र की शिक्षा देने वाले, सभ्यताओं के उदय के साक्षी, संस्कृति के सिरमौर। आज हममें से कितने हैं जो वसुधा का अर्थ समझते हैं और कुटुम्ब की तो बात ही जाने दीजिए, अणुकुटुम्ब के युग में जी रहे हैं, वह अणुकुटुम्ब भी अब परमाणु कुटुम्ब हो गया है, क्योंकि बच्चा या तो नानी-दादी-बुआ के बैंक में सेफ डिपाजिट में है, या अभी आया नहीं है, पति-पत्नी सुबह से शाम तक अपने-अपने धंधे में उलझे हुए, एक दूसरे की ओर अभिमुख भी हुए तो बस झींकने के लिए, तुमने बटन नहीं टांकी, तुमसे रात में ही कहा था डबलरोटी खत्म है, नहीं लाये, क्या टिफिन में रखूं और शाम को लौटे तो घर आयी एक के बाद एक सुनहले सपनों की लक्ष्मी के रुपहले पर्दे पर अवतरण के दृश्यों में खोये हुए, बहुत संक्षिप्त बातचीत और फिर एक शरीर की भूख नींद का शमन, इसको कुटुम्ब कहना चाहें तो कह लें, पर है यह कुटुम्ब परमाणु में विखंडन।

हमारे पास फुरसत भी तो नहीं है कि सोचें, कोई सोचकर हमें कुछ दे दे, और यह भी बता दे कि इसका कब और कैसे उपयोग करेंगे, हम उसका उपयोग कर लेंगे। वसुधा, वसुन्धरा, धरा, धरित्री, पृथिवी, मही, भू, भूमि, मेदिनी, श्री, विष्णुपत्नी, इतने सारे नामों की क्या-क्या अर्थच्छटायें हैं, हमें क्या पड़ी है कि इन्हें समझने की कोशिश करें? मैं भी न करता, पर मुझसे कहा जा रहा है भारतीय संस्कृति के कालजयी मूल्यों पर बोलूं और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' क्यों कालजयी मूल्य है, इस पर प्रकाश डालूं। मेरी लाचारी है कि इन शब्दों की गरिमा से परिचय

प्राप्त करें। भू नाम ही लें, भू का अर्थ होना है, पृथ्वी को भू कहते हैं तो हम होने की प्रक्रिया पर बल देते हैं, पृथ्वी जड़ नहीं, स्थिर नहीं, कुछ-के-कुछ हो रही है, किसी आकर्षण में घूम रही है, किसी प्रकाश पिण्ड की सापेक्ष है। भूमि का अर्थ होने की प्रक्रिया को आधार देने वाली अर्थात् स्वयं तो पृथ्वी परिवर्तमान है ही, अपने अंक में जिन्हें आश्रय देती है, उनको भी एक दूसरे के लिए क्रियाशील देखना चाहती है। धरा और धरित्री का अर्थ है धारण करने वाली, धारण करने वाले को बड़ा सृजनशील होना पड़ता है, इसलिए पृथ्वी का नाम है क्षमा, सहनशीलता, दुर्बलता नहीं है, शक्ति है, क्षमता है। धरित्री का अर्थ दूसरी माँ भी होता है, इसलिए उसे भाँति-भाँति के पोषक सम्भार अनन्त सन्तानों के लिए जुटाने होते हैं। दूसरी माँ है, इसलिए और अधिक सावधान है, कहीं कोई कुछ अपजस न लगाये, कोई भेद-भाव नहीं बरतती, किसकी क्या बोली है, क्या रूपरंग है, क्या विश्वास है, क्या स्वभाव है, सबका भरण करती है। धरती मैया बड़ी उदार है। इसी से उसे हम वसुधा और वसुन्धरा भी कहते हैं, कितनी सम्पदा इसके पास है, कितना रस इसके पास हैं, वसु धन भी है और वसु रहने का जीवनयापन का साधन भी है, वह देवता भी है, वह जीवन का प्रेरक भी है, वसु का अर्थ जोड़ना नहीं, रहना है, किसी के साथ किसी के लिए रहना है, घर बसाना है। वसुधा का अर्थ इसलिए घर मात्र नहीं है, घर की आत्मीयता भी है। पृथ्वी या पृथिवी का अर्थ विस्तार वाली है, फैलने वाली है, फैलाने वाली है, सबके लिए बाहें फैलाने वाली है। मेदिनी, श्री, विष्णुपत्नी ये नाम जगत् के पोषक देवता विष्णु के भाव से जुड़े हुए हैं। विष्णु ने मधुकैटभ का वध किया, उसके भेद से अनन्त में स्थूल-पिण्ड बन गया, वही मेदिनी कहलाया है, मधुकैटभ और कुछ नहीं ललक और कुलबुलाहट हैं। ललक किसी भी मीठी वस्तु के लिए जो हमें नहीं मिली और कुलबुलाहट जहाँ हैं, वहाँ न रहने के लिए। पार्थिव होने का अर्थ भी यही है कि हमारे भीतर जीवन की ललक हो, जीवन की आकुलता हो।

ये अर्थ सभी श्री में समाहित हैं। विश्व भर में सबसे पुरानी मूर्तियाँ, सोने की या मिट्टी की इसी श्री देवी या भूदेवी की मिलती हैं, कभी धान की बालियों के साथ, कभी कमल के साथ, प्रायः खड़ी। श्री का अर्थ शोभा है, पर मूल अर्थ आश्रय देने वाली है, आश्रय देने की प्रकृति है। इन सब अर्थों को समेटने वाली विपुला पृथ्वी की अवधारणा करें तो वसुधैव कुटुम्बकम् का आला अर्थ समझ में आये। हमारी वसुधा मानव जातियों का समूह मात्र नहीं, स्थूल द्रव्यों का संचय मात्र नहीं, नदी, पहाड़, वन, खेत, बस्ती मात्र नहीं। तरह-तरह के पशु-पक्षी, कीट-पतंगों का समुदाय मात्र नहीं, वह इन सबका साथ रहना है, साथ रहने के साथ-साथ एक दूसरे का अवलंबन लेना है। जिस वसुधा को हम कुटुम्ब के रूप में देखना चाहते हैं, वह वसुधा कदराने वालों की नहीं है, भयभीतों की नहीं है, कायरों की नहीं है, दूसरे को मिटा कर अपनी वीरता स्थापित करने वालों की भी नहीं है, वह कृपणों की नहीं है, वह दंभियों-अभिमानियों की नहीं है, वह माँ के वात्सल्य के अधिकारियों की है, माँ के सूत्र से एक दूसरे से जुड़ी संतानों की है, जो रोते हैं, गाते हैं, हँसते है, आपस में धक्का धुक्की करते हैं, तो इसलिए कि माँ देखते हमारा भाव समझ जाय। इस वसुधा को परिवार के रूप में देखने की अवधारणा एक ऐसे बड़े आंगन की अवधारणा है, जिसमें अनाज पसारा हुआ है, कितने लोगों के परिश्रम से पैदा किया गया अनाज पसारा हुआ है, सूखने के लिए, कितने हाथ उस अनाज को फटक रहे हैं, बीन रहे हैं, बीच-बीच में कितनी चिड़ियाँ आती हैं, दाना चुगकर भाग जाती हैं, गाय के बछड़े किलोल

करते आते हैं, मुंह में चार दाना भरकर डेवढ़ी छलांग जाते हैं, कितने लोग जिन्होंने अनाज पैदा करने में शिरकत नहीं की, हल गढ़ते रहे, कुदाली गढ़ते रहे, मिट्टी के बर्तन गढ़ते रहे (जिस में अनाज रखा जायेगा), अनाज फटकने के लिए सूप बनाते रहे, डलिया बनाते रहे, आ जाते हैं हमारा हिस्सा दो, सब हिस्सा पाते हैं, जो बचता है वह बखार में रखा जाता है। कितनी तृप्ति है बाँटने में, कितनी तृप्ति है मासूम-नादान हिस्सेदारों से झगड़ा कर बरबस हिस्सा ले लेने में। वस्तुतः कौन देता है, कौन लेता है, इसका महत्व नहीं, महत्व इसका है कि यह सबका है, यह इसका है, उसका है, सबका है, मेरा नहीं। मेरा बस यह आंगन है, आंगन का खुलापन है। या फिर सबके चेहरे पर जो एक खुशी की हिलोर आती है, नये अनाज की राशि देखकर, उस हिलोर का एक छींटा मेरे पास जो पहुँचता है, वह मेरा है।

मिट्टी में खेला, मिट्टी में सना। मैं गाँव में जनमा, बचपन का बड़ा हिस्सा नहीं बीता, किशोरावस्था की भी बड़ी कशिश की दुपहरी और अंधेरी उजाली रात गाँव में ही बीती, गाँवों में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, शक्ति के नये समीकरण हुए, शहर की सभी न्यामतें वहाँ पहुँच गयीं, शहरी आदतें भी पहुँच गयीं, देर से जगना, देर से सोना, शोर-शराबे में एकान्त का क्षण, पाना। देखता हूँ, बच्चे पूरे वाल्यूम पर रेडियो या टी० वी० चला देते हैं तभी पढ़ पाने की एकाग्रता उन्हें मिलती है। घर से न निकलना यह जानते हुए भी मुझे वह खुला आँगन बुलाता रहता है, इसमें तुम्हारा भी हिस्सा है, यहाँ कूटे जाते इस नये धान की महक में, कूटने वाली की चूड़ियों की खनक में और भरे पूरे होने की लहक में तुम्हारा भी हिस्सा है, दादा, आओ, ले लो, तुम्हारा हिस्सा किसी और को तो नहीं दे सकता। मुझे गाँव की वह अमराई बुलाती है जहाँ जेठ की दुपहरी कबड्डी को अर्पित होती थी, और कोई स्वर पुकारता है, गुइंया मेरा दाँव दे दो, दाँव दिये बिना जाने न पाओगे। गाँव से थोड़ी दूर की नदी राप्ती बुलाती है, इसकी एक लहर तो तुम भी हो, क्यों नहीं आकर और लहरों से मिलते। गंगोत्री बछिया, मंगल घोड़ा और दरवाज़े का संवरू कुत्ता, कब के चले गये, पर उन सबकी छबियाँ कभी-न-कभी न्योतती हैं गंगोत्री चाहती है मैं उसके गले के नीचे हाथ डाल कर सहलाऊँ। मंगल घोड़ा हिनहिनाता है, आओ सवार हो जाओ, तुम्हें सपनों के देश में पहुँचा दूंगा, संवरू कुत्ता दुम हिलाता है और पैरों के पास आकर बैठ जाता है, क्यों नहीं पुचकारते। यही सब तो मेरी वसुधा हैं, मेरी सम्पदा है, मेरा सम्बल है, इनका होकर ही तो मैं हूँ अगर हूँ तो अस्मि या हूँ का निरंतर अनुभव करने के लिए मुझे सबका होना पड़ेगा, क्योंकि वसुधा सबकी है।

जिस श्लोक के चतुर्थ चरण में वसुधैव कुटुम्बकम् आता है, वह पूरा इस प्रकार है—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। अर्थात् यह निजी वस्तु है, एकदम अपनी है, यह दूसरे की है, यह आदमी सबका है, यह पराया है, इससे खून का रिश्ता है, इससे नहीं यह सब हिसाब किताब वे करते हैं जिनका दिल छोटा होता है, जो स्वयं छोटे होते हैं (बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति क्यों न उनके पास हो), जिनकी करतूत में, उदारता है, सब हमारे हैं, सबके हम हैं, सबमें हम हैं, हममें सब हैं, सबसे मुझे लेना है, सबको मुझे देना है, उनके लिए तो पूरी वसुधा आधी अधूरी नहीं कुटुम्ब नहीं कुटुम्बकम् है, बस नन्हा-सा परिवार है। इतना बड़ा विपुल विस्तार छोटे से रिश्ते में बंधा हुआ है, बस मन बड़ा कर लीजिए और वाणी से अधिक कर्म को बड़ा कर लीजिए, फिर क्या वसुधा की छाती दूध से उपटने लगेगी, बस मेरे लिए।

मैंने जानबूझकर भारतीय संस्कृति का नाम तो शुरू में लिया, भारतीय संस्कृति और वसुधैव कुटुम्बकम् के बीच क्या तालमेल है, इसकी चर्चा नहीं की। इसका कारण है, भारतीय संस्कृति को इतने गलत सन्दर्भों में गाहे-बेगाहे जबर्दस्ती खींचा जाता है कि मैं भीतर से घबराता हूँ कि कहीं मेरे हाथ उसकी दुर्दशा न हो। भारतीय संस्कृति को अपने बाहर की बात मानता ही नहीं, अपने भीतर की बात करूँगा तो अपने आप मैं उसी की बात करूँगा, जो हमारी चेतना में बसी हुई है, हम भले ही न जाने कौन बसा हुआ है। भारत की वसुंधरा ही कहाँ जानती है, कौन-कौन बसे हुए हैं, कौन-कौन नस्लें हैं, कब ये नस्लें घुली-मिली, कौन-कौन भाषाएँ हैं और उनके अलग-अलग परिवार हैं, कौन-कौन लोग आये, किसने कितना कहर ढाया, किसने क्या छीना, क्या दिया, कहाँ वह हिसाब रखती है। इतना जानती है जो हैं, वे सब हमारी सन्तान हैं, सब सोने को होते हैं तो चंदा मामा सोने की कटोरी में दूधभात लाता है, सब जगने को होते हैं तो एक चिड़िया, एक रोशनी की चिनगी यकायक पूरब से लाती हुई दिखायी पड़ती है और चिड़िया उड़ जाती है, वह चिनगी लाल गोला के रूप में बढ़ती चली जाती है, सब संध्या के समय आंगन में एक छोटे से बिरवे के नीचे एक छोटा-सा दिया जलते देखना चाहते हैं क्योंकि उनके भीतर लौ पर लौ ऐ, माँ की, बहन की, भाभी की, पत्नी की, बहू की, बेटी की, सबके प्राणों में एक सी सोंधी गंध है, रोटी की, भात की, नये गुड़ की। इस सबसे अलग भी कोई भारतीयता है क्या, है तो उससे मेरा कोई सरोकार नहीं।

समास और विग्रह के रूप में भारतीय संस्कृति के विश्लेषण में पटु पंडितों को प्रणाम करता हूँ, वे आर्य, द्रविड़, कोल, किरात की व्यतीत या जाने कल्पित वास्तविकताओं के पीछे मरे जा रहे हैं। मैं देश के किसी छोर पर जाता हूँ तो देखता हूँ हल वैसे ही चलता है, घर की छाजन वैसी ही होती है, हर घर की देहली वैसे ही भीतर-बाहर को जोड़ती है, दिया वैसे ही जलाया जाता है, फूल वैसे ही तोड़े जाते हैं, वैसे ही लोग पालथी मारकर दायें हाथ से खाते हैं, कौर उठाने के पहले वैसे ही कुछ बुदबुदाते हैं, जैसे किसी से अनुमति ले रहे हों, हम अब विश्वम्भरा के लिए आत्मभरण करें। वही पक्षी सब जगह चहचहाते हैं, उमगाते हैं, हुलसाते हैं, हुलाते हैं, गुदगुदाते हैं। इसी भाव से मैं जब जब भारत के बाहर जाता हूँ तो मुझे अपरिचित हो बहुत कुछ लगता है, पर पराया कुछ नहीं कुछ उल्टा पुल्टा लगता है, पर ऐसा कुछ नहीं लगता अपनाया न जा सके। एक अंग्रेज प्रोफेसर मुझसे विदेश में मिलने आये, पाँच महीनों से अमरीका में थे, मिलने का कारण बातचीत शुद्ध बातचीत। मैं अकचकाया, एक सा भोजन, एक सा वेश, एक ही भाषा और बातचीत नहीं और मुझसे बात-चीत, हर तरह से बेगाने आदमी से। मैंने पूछा, क्यों आपको कोई मिला नहीं, बोले नहीं मिला, सबके सब इतने खुले हैं कि बन्द से भी बदतर हैं, खुले समाज का अभिशाप है, भीतर कड़ी गुठली होती है। आपके देश पर हमने शासन किया और मैं जानता हूँ कि अंग्रेजी शासन के प्रति आपके मन में प्रीतिकर भाव नहीं है, पर तो भी यह भी जानता हूँ कि वैर का ही सही, आप रिश्ता तो निभायेंगे, आप से बातचीत न हो सकेगी, अकेलापन दूर होगा। पहले तो मुझे अपने ऊपर अपने जातीय स्वभाव पर हँसी आयी कि हमीं सबके अकेलेपन को दूर करने के लिए बने हैं, इसी से हम इतना सहते रहे हैं अपनी चोट हमने नहीं देखी, बस दूसरों के घाव सहलाते रहे। क्या यह दुर्बलता नहीं, सबसे घुलना मिलना, अपनी अलग पहचान बनाने का आग्रह न रखना, अपने को ईश्वर की चुनी हुई संतान न मानना, क्या ठीक है ! फिर बातचीत हुई, जमके

हुई, उन्हें हिन्दुस्तान की चाय पिलायी जो अमरीका में कहीं भी नहीं मिलती है। बाद में मैंने अनुभव किया, नहीं यह जो समय मैंने दिया, यह गंवाना नहीं हुआ। यह अपने भीतर की रिश्तेदारी की एक नयी पहचान का उआस पाना हुआ। इसका रस वही जानेगा जो इस रस को चख चुका है सुबह से या व्यग्र है, बहुत दिनों बाद बाबू छुट्टी में घर आए हैं, उनके लिए यह बनाना है, वह बनाना है और जो माँ सामने बैंठी है, एक-एक व्यंजन परस रही है, बगल में बहन बीजना डुला रही है, घर का काम संभालने वाली महरिन दूर से चुहल कर रही है। उस सीधे-साधे भोजन का स्वाद जिसके भाग्य में नहीं बदा है, वह इस रस का स्वाद क्या समझेगा, जो अपने को परस कर पाया जाता है।

वसुधैव कुटुम्बकम् उसी प्रकार के रस के लिए एक खुला आमंत्रण है अपने को फटक बीन कर, कूट पीस कर, रोधकर, सिझाकर आस्वाद्य बनाने को तैयार हो, आत्मीयता के लिए आत्मदान के लिए तैयार हो तो आओ यह सरवस रस तुम्हारा है यह पूरी वसुधा तुम्हारी है, उस आत्मदान के अमृत मुहुर्त्त में केवल तुम्हारी है। है पर कठिन शर्त निजता के स्वर्ण पिंजर से क्या निकल पाओगे पक्षी।

समसामयिक आलोचना और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

□ कृष्णदत्त पालीवाल

आ० शुक्ल ने अपने बाद की समीक्षा के लिए सोचने-विचारने की एक सशक्त पृष्ठभूमि निर्मित की है। सर्जनात्मकता के भीतर से निष्पन्न सैद्धांतिकता तथा व्यावहारिकता के सचेतनतावादी मूल्यों के प्रति निष्ठा रखने के कारण समसामयिक समीक्षा और समीक्षकों के लिए शुक्ल जी ही 'को अस्मिन साम्प्रतंलोके' बने रहे हैं इसका प्रधान कारण यही है कि शुक्ल जी प्राचीनता एवं आधुनिकता से बनने वाले आलोचक थे। यह भी संयोग की बात है, कि शुक्ल के जीवन काल में ही समसामयिक समीक्षा की प्रधान प्रवृत्तियों तथा शैलियों का जैसे-मूल्यवादी तथा मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियों का उदय होने लगा था जिनमें नूतन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय रस-शास्त्र की नयी अर्थवत्ताओं-सम्भावनाओं पर विचार-तार्किकता से होने लगा और महायुद्ध के दौरान उभरने वाली विपत्तियों से उबरते हुए मानव ने साहित्य-समीक्षा पर नया चिन्तन शुरू कर दिया था। किन्तु शुक्लोत्तर समीक्षा का मूल्यांकन करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा विचार इतने तक ही सीमित है कि समसामयिक समीक्षा को शुक्ल जी का क्या प्रदेय है और वे आज भी कितने प्रासंगिक हैं। शुक्ल जी द्वारा स्थापित समीक्षा के प्रतिमानों को समसामयिक समीक्षा ने कितने संशोधित-सम्पादित रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ यह निवेदन ध्यातव्य है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटियाँ तो समकालीन आलोचना जल्दी बदलती रही हैं किन्तु रचना के समीक्षण की प्रक्रिया वही रही जिसे शुक्ल जी ने विकसित किया था। फिर भी यह अजीब बात है कि पिछले तीन-चार दशकों की हिन्दी-आलोचना पर गैर साहित्यिक दबाव—विशेषकर देशी-विदेशी दबाव इतने ज्यादा पड़े हैं कि वास्तविक कृतियाँ चाहे वह भारती जी का 'अन्धायुग' हो या दिनकर की 'उर्वशी', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' हो या सर्वेश्वर का काव्य-संग्रह 'खूंटियों पर टंगे लोग' हो—आलोचनात्मक दलबन्दी के शिकार हुए हैं। रचना को सार्थक सन्दर्भों में विश्लेषित करने की बजाय उस पर समाज-शास्त्रीय, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक तथा नैतिक आपत्तियों से भरी बहसों को उठाया गया है और कभी-कभार तो कृति के वस्तु और शिल्प का खतरनाक विभाजन किया गया है—जिसने रचना की समग्रता और अखण्डता को घातक चुनौती दी है। समकालीन आलोचना के बहुत से आलोचकों ने अनुभव की अद्वितीयता का नारा उछालकर व्यक्ति स्वातन्त्र्य के शेर की बोली बोली है। यह बात भुला दी गई है कि एक उत्कृष्ट रचना अपनी बनावट तथा बुना-

बट की जटिलता में अनेक अर्थस्तरों के साथ नये मूल्यों को सामने लाती है, क्योंकि कोई भी सच्चा सृजन कोरा शाब्दिक सरलीकरण नहीं होता। वह गहन सामाजिक विरोधाभासों से गहरे स्तर पर प्रतिबद्धता अवश्य रखता है।

समकालीन आलोचना में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों का युद्ध इतना बढ़ गया है कि आलोचना तथा राजनीति के सम्बन्धों पर बार-बार सोचने की जरूरत आ पड़ी है। शुक्ल जी ने कहा था कि साहित्य को राजनीति से ऊपर होना चाहिए। किन्तु आज स्थिति बिल्कुल उलट गयी है और साहित्य राजनीति के नीचे छिपा-दबा जीवित है। प्रायः रचना पर राजनीति के प्रतिमान ही बेखटके लागू किए जाते हैं और साहित्यिक प्रतिमानों की कोई परवाह नहीं की जाती है। प्रश्न उठता है कि क्या केवल राजनीतिक विचार-दृष्टि से रचना को परखना उचित है। मेरा उत्तर होगा—नहीं। अनुचित तभी होता है जब आलोचक रचना की 'आर्गेनिक थियरी' को ठुकराकर आगे बढ़ता है। इस क्षेत्र में हमें मुक्तिबोध से शिक्षा लेनी चाहिए—जिन्होंने रचना की आन्तरिक यात्रा में केवल राजनीतिक औजारों से ही काम नहीं लिया। आज की आलोचना में 'कामायनी पुनर्विचार' उनकी ऐसी ही आलोचना का माडल है।

बहुत से समसामयिक आलोचकों को यह बात भा गई है कि रचना में उपलब्ध भाव और विचार भाषा से स्वतन्त्र नहीं होते। ऐसी स्थिति में भाषावादी आलोचक मानते हैं कि रचना भाषा के माध्यम से अनुभव की पुनर्रचना है। आज की रचना को परखने का एक मात्र विश्वसनीय मूल्य भाषा ही रह गया है। समय-समय पर ऐसा विचार डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, सियाराम तिवारी, परमानन्द श्रीवास्तव और तमाम भाषावादी आलोचकों ने व्यक्त किया है। इन आलोचकों ने पश्चिम से विशेषकर रूसी संरचनावाद, फ्रान्सीसी रूपवाद, अंग्रेजी अमेरिकी नव्य समीक्षा तथा शैलीविज्ञान से चुपके-चुपके एक समझौता कर रखा है कि रचना में भाषा पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। यह एक मूल्यवान विरोधाभास है—जो हिन्दी में रैन्सम्, ब्रुक्स और एम्पसन आदि का बिना नाम लिए पनप रहा है। परम्परा तथा आधुनिकता के नाम पर जो नव्य रहस्यवाद तथा छद्म छायावाद पनप उठा है वह निश्चय ही चिन्ता का विषय है। और यह कार्य निश्चय ही आ० शुक्ल की राह से भटकाने का एक सुनियोजित तरीका भी कहा जा सकता है। आ० शुक्ल की राह से हटने का एक सीधा नुकसान तो यही हुआ है कि युवा-आलोचना में बौद्धिकता के नाम पर एक अबौद्धिकता, वयस्कता के नाम पर भ्रम और यथार्थ के नाम पर मृगतृष्णा पनपी है। कुछ नये आलोचकों में पुराने प्रतिमानों का जिक्र तो दूर पिछले दिनों की आलोचना में पनपे-मूल्य संघर्ष को भी भुलाने का कार्य चल रहा है। और किसी भी विचारधारा का खण्डन तार्किकता से न करके क्रान्तिकारी उत्साहधर्मिता से किया जाता है पर फतवेबाजी की दिशा कुन्द क्षणों में सौन्दर्यवाद से समझौता करके मन बहलाने लगती है।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी आलोचना में मूलतः चार प्रकार की आलोचना पद्धतियाँ विकसित हुईं—

(१) छायावादी आलोचकों, कवि आलोचकों की स्वच्छन्दतावादी आलोचना दृष्टि जिसके प्रतिनिधि थे—डा० नगेन्द्र, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी और कवियों में निराला, प्रसाद एवं महादेवी के विचार।

(२) मार्क्सवादी या समाजवादी आलोचना दृष्टि—जिसके प्रतिनिधि रहे—शिवदानसिंह

चौहान, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, ग० म० मुक्तिबोध तथा नामवरसिंह आदि ।

इन मार्क्सवादी आलोचकों में दोनों तरह के आलोचक रहे हैं, प्रगतिवादी तथा प्रगतिशील । ज्यादा प्रतिबद्ध प्रगतिवादी आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान आदि ने आ० शुक्ल को हिन्दू-दृष्टि का आलोचक घोषित किया है। रांगेय राघव शुक्ल जी को ब्राह्मण दृष्टि का आलोचक खुले तौर पर कहते रहे । स्वयं डा० नामवरसिंह ने शुक्ल जी को एकांगी समाजशास्त्री कहा । पर जब प्रगतिशील दृष्टि के या विश्व दृष्टि से सम्पन्न आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' पुस्तक लिखी और शुक्ल जी के मूल्यांकन की क्षमता, अर्थवत्ता तथा प्रासंगिकता का उद्‌घाटन किया तो सबसे ज्यादा तकलीफ भी शिवदान सिंह चौहान एवं प्रकाशचन्द गुप्त जैसे आलोचकों को ही हुई । लेकिन आ० शुक्ल को लेकर प्रगतिवादी और गैर प्रगतिवादी आलोचकों का सीधा विरोध ग० मा० मुक्तिबोध ने किया । यहाँ यह कथितव्य है कि मैं हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना के दो प्रतिनिधि आलोचक मानता हूँ—डॉ० रामविलास शर्मा और ग० मा० मुक्तिबोध । इन दोनों ही आलोचकों के समीक्षा-कर्म को देखने से साफ लगता है कि आ० शुक्ल जी की आलोचना का वास्तविक विकास इन्हीं के भीतर हुआ है ।

(३) मनोविश्लेषणात्मक आलोचना धारा—जिसके प्रतिनिधि रहे हैं—अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ।

(४) नव्य-समीक्षा के साथ अस्तित्ववादी-आलोचना दृष्टि—जिसके प्रतिनिधि हैं—लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा धर्मवीर भारती ।

इन सभी से अलग श्री विजयदेवनारायण साही, डा० रघुवंश, रमेशचन्द्र शाह आदि आलोचक आलोचना के समग्र रचना धर्म को समझते-समझाते रहे हैं और इन आलोचकों के ऊपर भी आ० शुक्ल की गहरी धमक रही है ।

हिन्दी की समसामयिक-आलोचना को आ० शुक्ल की सबसे बड़ी देन है—साहित्य के सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण की बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में महत्व-प्रतिष्ठा । यही कारण है कि समसामयिक आलोचकों के लिए आ० शुक्ल की प्रासंगिकता का अर्थ रहा है—उनकी दृष्टिगत सामाजिकता का नयी युग-चेतना के अनुकूल संशोधन-सम्पादन एवं विकास ।

डा० नगेन्द्र ने 'साकेत-एक अध्ययन' तथा 'देव और उनकी कविता' में शुक्ल जी की अर्थ-मीमांसा-पद्धति का नये ढंग से विकास किया । उन्होंने शुक्ल जी की परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए रस-सिद्धान्त की नूतन मनोविज्ञान की छाया में सूक्ष्म-गहन व्याख्या की । हालांकि वे अपने मूल-मन्तव्य में प्रसाद जी की शास्त्रनिष्ठ रस-परम्परा का ही साथ देते रहे जो आनन्द-वादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है । किन्तु कुछ समय बाद उनके रस को काव्य का सार्वदेशिक और सार्वभौमिक प्रतिमान बनाने का जोरदार विरोध हुआ । यह विरोध भी सबसे पहले 'इलाहाबाद स्कूल' के आलोचकों से ही उठा और तर्क दिया गया कि नयी सर्जनात्मकता पर रस-सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता । फिर नयी समीक्षा का हिन्दी में जन्म ही रस-विरोध की प्रक्रिया से हुआ है । नये समीक्षक का एक सीमित अर्थ वह समीक्षक भी रहा है जो रस-सिद्धान्त की सार्वभौमिकता एवं शाश्वतता को अस्वीकार करके चलता है । नये समीक्षकों के साथ हिन्दी के मूल्यवादी या प्रगतिशील समीक्षकों ने भी रस की शाश्वततावादी

दृष्टि का विरोध किया और वे डा० नगेन्द्र की रस-दृष्टि से हटकर पुनः आ० शुक्ल की रस-दृष्टि की ओर आते गए—जिसमें सामाजिक-परिवर्तन को महत्व मिला था। यह आवाज जोर देकर उठाई गई कि हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आ० शुक्ल ने रसवादी होकर भी अभिनवगुप्त तथा जयशंकर प्रसाद के दार्शनिक और शास्त्र-दृष्टि सम्पन्न रस शास्त्र का विरोध क्यों किया था।

आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी की प्रबन्ध-विवेचन दृष्टि को आदर देते हुए भी प्रगीत के प्रति किए गए उनके अन्याय का हवाला दिया और प्रगीत कला को न्याय दिलाने के लिए आ० वाजपेयी ने मूल्यवान प्रयास किए। किन्तु वाजपेयी जी भारी स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति से बहुत दूर न जा सके। स्वच्छन्दतावादी आलोचकों में केवल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही ऐसे आलोचक रहे हैं जिन्होंने शुक्ल जी का महत्व घोषित करने पर भी उनकी 'समझ' से अपने को काफी दूर रखा है। आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के लोक-धर्म-सिद्धान्त से अलग हटकर कबीर और तन्त्रवाद की परम्पराओं को खोजते हुए अपना लोकधर्म सिद्धान्त निर्मित किया। हिन्दी की समसामयिक आलोचना—आ० द्विवेदी के चिन्तन की शुक्ल जी के चिन्तन से भी ज्यादा ऋणी है क्योंकि 'लोक' और 'जन' के सही तालमेल को आचार्य द्विवेदी जी ही हिन्दी-आलोचना में बैठा सके हैं। आचार्य द्विवेदी पर शुक्ल जी की सोच का ऋण बहुत थोड़ा है—उन्हें बहुत अधिक ऋणी मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। जगह-जगह आचार्य द्विवेदी को आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का जोर देकर प्रतिवाद करना पड़ा। शुक्ल जी अपने वैष्णव-चिन्तन की ओट और आभिजात्यवादी संस्कारों की छाया में सिद्धों-नाथों की जन-चेतना धारा को नकारते रहे—उसे साम्प्रदायिक कहकर साहित्य क्षेत्र से खदेड़ते रहे। आचार्य द्विवेदी ने सिद्धों-नाथों की इस चिन्तनधारा को साहित्य मानते हुए भारतीय चिन्तन धारा का स्वाभाविक विकास माना है।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी का सांस्कृतिक बोध शुक्लजी की तुलना में बहुत आगे दृष्टिगत होता है। शुक्ल जी की एक दृष्टिगत सीमा यह थी कि वे भक्तिकाल में रमे और भक्तिकाल में भी उनकी आसक्ति विशेषकर सगुण भक्ति धारा में ही थी—सगुण धारा में भी राम-भक्ति-परम्परा में। इस कारण उनकी आलोचना कई हेत्वाभासों का शिकार होती रही। डा० देवराज ने शुक्ल जी की समीक्षा की रसग्राही शक्ति का लोहा मानते हुए भी कहा है कि उनके चिन्तन में सांस्कृतिक बोध की घोर कमी है। और फिर समीक्षा की इस कमी को पूरा करने के लिए ही उन्होंने अपने को सांस्कृतिक मूल्य-बोध का आलोचक बनाया है। इधर डा० नामवरसिंह ने आचार्य द्विवेदी की दूसरी-परंपरा की खोज का कार्य तेज किया—तो डा०देवराज ने आचार्य शुक्ल के चिन्तन को टटोल कर—'तीसरी परम्परा की खोज' का अभियान चलाया है और उसे उन्होंने उपनिषद् की ज्ञान-धारा से जोड़ा भी है।

ध्यातव्य है कि शुक्ल जी की आलोचना मूलतः कविता केन्द्रित आलोचना है। उनकी आलोचना में कहानी, उपन्यास, नाटक साहित्य आदि का गहन-विश्लेषण नहीं मिलता। इससे साफ है कि जितने मनोयोग से उन्होंने जायसी, सूर, तुलसी के काव्य का मर्म उद्घाटित किया—उतनी लगन से वे आधुनिक काल को 'गद्यकाल' कहकर भी कहानी-नाटक की आलोचना की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। भारतेन्दु के नाटकों तथा प्रेमचंद के कथासाहित्य पर उनका ध्यान ठीक से केन्द्रित नहीं हुआ जिसकी उनसे अपेक्षा थी। अतः शुक्ल जी के बाद के

आलोचकों को कथा-साहित्य, नाटक तथा रंगमंच के आलोचना कर्म में उनसे विशेष सहायता नहीं मिल सकी। नेमिचन्द्र जैन की आलोचनात्मक पुस्तकों से विशेषकर 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन' 'बदलते-परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनांतिक' की कथा-नाटक-रंगमंच-दृष्टि से आज यह तथ्य और स्पष्टता से उजागर हो गया है। फिर भी नेमिचन्द्र जैन तथा शुक्ल जी की एक समान चिन्तन भूमि यह है कि वे शुक्ल जी की भाँति 'अध्यात्म' 'अगोचर' तथा 'अव्यक्त' को आलोचना में फटकने तक नहीं देते हैं एवं भाववादी, कलावादी तथा सौन्दर्यवादी मूल्यों का खण्डन दृढ़ता से करते हैं। विचारधारात्मक सजगता से मानवद्रोही राजनीति की निन्दा करते हैं और साहित्य में इसी विचारधारा के प्रतिफलन से कहते हैं कि—'परिवेश के साथ कवि के सर्जनात्मक सम्बन्ध के मानक राजनीति में सिर से पैर तक डूबे हुए मुक्तिबोध के काव्य में मिलते हैं किसी चक्रान्त शिला के खोजी अज्ञेय की कविता में नहीं।' (जनान्तिक पृ० १७) परिवेश लगातार बदलता रहता है और बदलते परिवेश के साथ 'जो आलोचक चल नहीं पाता या अपने को बदल नहीं पाता—वह पीछे छूट जाता है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही 'परिवेश' पर इधर की सृजनात्मकता और समीक्षा में विशेष बल दिया गया है किन्तु यह परिवेश केवल आर्थिक सम्बन्धों का ही पर्याय नहीं है—इसमें अनिवार्यता-सामाजिक-राजनीतिक सम्बन्धों का सन्दर्भ भी निहित रहता है।

डा० रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्विरोधों से सामान्य रूप से इस पुस्तक का सम्बन्ध है।" डा० शर्मा ने आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि का सन्दर्भ उठाकर मार्क्सवादी आलोचना के अन्तर्विरोधों पर प्रकाश डाला है। इससे साफ हो गया है कि पिछले प्रगतिवादी आलोचकों में शुक्ल जी को लेकर जितनी हठधर्मिता रही है उतनी बाद के जनवादी आलोचकों में नहीं रही। इसीलिए डा० शर्मा के आचार्य शुक्ल सम्बन्धी विचारों का जनवादी तथा लोहिया की विचारधारा से प्रेरित समाजवादी आलोचक विजयदेव नारायण साही ने बहुत स्वागत किया। श्री साही ने 'जायसी' नामक पुस्तक में जायसी पर पुनर्विचार करते हुए और शुक्ल जी से अपने मूल-मंतव्यों को अलग स्थापित करते हुए भी आचार्य शुक्ल की तत्वाभिनिवेशी-दृष्टि की जगह-जगह सराहना की है। इधर हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'साहित्यकार का दायित्व' में अपने गुणा-भाग के साथ शुक्लजी की वैचारिकता के साही काफी नजदीक पहुँचे हैं और शुक्ल जी का लोकमंगल-सिद्धान्त ही यहाँ—'सामाजिक-मंगल' की दृष्टि लेकर सामने आया है। साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' तथा 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' में जिस ढंग की तार्किकता और तेजोदीप्त बौद्धिकता का परिचय दिया है—वह एक खास कोण से देखने पर शुक्ल जी की प्रखर बौद्धिकता का ही नया संस्करण है।

डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "हिन्दी आलोचना में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा का श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है।" अतः प्रगतिशील आलोचना के सौन्दर्य शास्त्रीय मानदण्डों में शुक्ल जी की विरासत को काफी दूर तक पहचानना पड़ेगा। मूल्यवादी समीक्षा वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा के संस्कारों से अलग और गतिशील सामाजिक यथार्थ चिन्तन के भीतर से अंकुरित हुई है। उसकी विशिष्ट दृष्टि है—सामाजिक प्रगतिशील दृष्टि में आस्था और संघर्षशील तत्वों की पकड़। आधुनिक भारत में सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करने की बात दो बार

तेजी से उठाई है— भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद (भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में) तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद रचना तथा आलोचना दोनों में कर्मवाद की पुकार लगाई गयी। सभी प्रबुद्ध आलोचकों ने भाग्यवादी तथा पश्चिम के वैयक्तिकतावादी सिद्धान्तों का खण्डन किया। तर्कों से सिद्ध किया गया कि लघुमानव-सिद्धान्त, मानव-गरिमा के विरोधी तथा मानव-विरोधी दर्शन अस्तित्ववाद की कुत्सित कोख से जन्मा है—जो अपनी रावणी शक्ति से मानव को अंधेरे में धकेलना चाहता है। ऐसी स्थिति में मूल्यवादी समीक्षा सामाजिक अन्तर्मानसिकता के नये सन्दर्भों को मानववाद-मानवतावाद के साथ जोड़कर प्रस्तुत हुई। इसने रचना तथा आलोचना में अतियथार्थवाद, दादावाद, मूल्य-निरंकुशता, दायित्वहीनता, उच्छृंखलता, क्षणवाद, भोगवाद आदि को पनपने से रोकने का बीड़ा उठाया। प्रयोगवादी आलोचना ने विघटित मूल्यों और ध्वस्त आस्था वाले जिस मनुष्य को नितान्त अन्तर्गुहावासी रूप दे दिया था उसे समसामयिक मूल्यवादी-समीक्षा ने बाहर निकाल कर चैन लिया। यही कारण है कि समसामयिक आलोचना में लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'नयी कविता के प्रतिमान' अप्रासंगिक सिद्ध हुए और डा० नामवर के 'कविता के नये प्रतिमान' ही समसामयिक आलोचना की दिशा-दृष्टि का प्रतीक बने। यहाँ साही जी, नामवरसिंह तथा मुक्तिबोध का तिगड्डा एक साथ मूल्यों की नयी अर्थवत्ता सिद्ध कर उठा।

आचार्य शुक्ल मानवीय स्वतन्त्रता और अस्तित्व के समर्थक रहे। 'क्षात्रधर्म के सौन्दर्य' नामक निबन्ध में उनका यह चिन्तन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ मिलता है। शुक्ल जी ने व्यक्तिवाद का कभी भी समर्थन नहीं किया। वे फ्रायडवाद को सम्भवतः इसीलिए अपने जीवन काल में ही अस्वीकार कर उठे थे। बाद में भी समसामयिक आलोचकों ने पाया कि फ्रायडवाद हिन्दी आलोचना के लिए कोई बहुत उपयोगी दृष्टि नहीं है। यह भी एक कारण है कि नयी कविता के काल की आलोचना में एक नवीन मूल्य दृष्टि का विकास हुआ जो कृति के भीतर से ही मूल्यांकन के मानदण्ड खोजती है और कृति के नैतिक बोध की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ जाती। यहाँ आधुनिकता या सम सामयिकता में युग-बोध की तीखी चेतना का दबाव बढ़ जाता है और प्रायोगिक तथा संस्कारशील मन का तनाव रिस कर वास्तविकता-बोध की ठोस भूमि पर आ जाता है। विश्व की चुनौतियों, समस्याओं, संघर्षों, मानवीय द्वन्द्वों, परिस्थितियों और घात प्रतिघात से उपजी प्रश्नाकुलताओं का निकट परिचय नये रचनाकार और आलोचक को होने लगता है। आधुनिकता और आलोचना की पृष्ठभूमि में फ्रायड, युंग, एडलर, एजरापाउण्ड टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स, सार्त्र और एलेनेटेट---प्रतीकवाद, मानववाद, बिम्बवाद, क्यूबिज्म, सररियलिज्म, रियलिज्म तथा प्रकृतवाद के साथ गरजते सुनाई देने लगते हैं। इनकी पारिभाषिक शब्दावली से समसामयिक आलोचना की भूमि पट जाती है—सैकड़ों पश्चिमी आलोचना के पारिभाषिक शब्द यहाँ बरस पड़ते हैं। यहीं पर सैद्धान्तिकता तथा व्यावहारिकता में अन्तर्विरोध बढ़ जाता है। और मुक्तिबोध तथा अज्ञेय की सैद्धान्तिकता में स्पष्ट पार्थक्य उभरने लगता है। नये सिरे से कला और कलाकार के दायित्व, रचना-प्रक्रिया, काव्य-परिभाषा भाव-विचार, कल्पना-बिम्ब, मिथक और प्रतीक, साधारणीकरण और सम्प्रेषण, साधारणीकरण और निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त, साधारणीकरण और समानानुभूति, काव्यानुभूति, रसानुभूति, जीवनानुभूति, रचना के विधायक उपकरण, काव्य-भाषा, छंद, अर्थ-लय, सह अनुभूति, अभि-व्यंजना और अभिव्यंजनावाद पर बड़ी-बड़ी बहसें छिड़ जाती हैं। और तभी नये आलोचकों को

आचार्य शुक्ल के चिन्तन क्षेत्र की याद सताने लगती है जब अनुभूति की ईमानदारी तथा प्रामाणिकता की खोज काव्य-प्रतिमान बन जाते हैं।

इधर समसामयिक आलोचना में विश्वविद्यालयों का 'पाण्डित्य' और 'आलोचना धर्म भी आमना-सामना कर उठा है। प्राध्यापकीय एकेडेमिक आलोचना ने पाठक को घबरा दिया है। उधर पत्रकारिता की आलोचना ने आलोचना के नाम पर सहजता और सम्प्रेषण का झंडा उठा लिया है। ऐसी स्थिति के कारण विश्वविद्यालय के आलोचक तथा पत्रकारिता से जुड़े आलोचक में सीधा टकराव हो उठा है। 'उर्वशी' की आलोचना ने जनवरी १९६४ की 'कल्पना' में इतना शोर किया कि हमारे सभी भ्रम टूट गये और हम फिर कृति केन्द्रित आलोचना की ओर झख मारकर मुड़ते दिखाई दिए। भगवतशरण उपाध्याय, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा आदि की आलोचना से लगा कि समसामयिक आलोचना में एक ही कृति को परखने की कितनी दृष्टिगत दूरियाँ हैं।

समसामयिक आलोचना में साहित्य और साहित्येतर प्रतिमानों को कृति पर लागू करने पर बड़ी बहसें हुई हैं किन्तु बाद में निश्चित सा हो गया कि कृति को समग्रता से परखने में केवल 'साहित्यिक प्रतिमान' ही पर्याप्त नहीं हैं—'साहित्येतर प्रतिमानों की भी गहरी मदद लेनी चाहिए। स्वयं आचार्य शुक्ल आलोचनाकर्म में साहित्यिकमूल्यों की शुद्धता के विरोधी रहे—क्योंकि ऐसा करना साहित्य को जीवन से काटना है। शुक्ल जी अपनी मान्यताओं में इसी दृष्टि के कारण आई० ए० रिचर्ड्‌स की ओर झुके भी थे—अन्यथा वे रिचर्ड्‌स के पास क्यों जाते। उन्हें बराबर लगता रहा कि काव्य के नैतिक और रूपवादी मूल्यों के प्रकृत-सम्बन्ध में परस्पर विरोध रहता ही है। अतः रचना और आलोचना का यह विरोध-पक्ष भारतीय द्वन्द्ववाद को समझकर ही उद्‌घाटित किया जा सकता है—यह बात शुक्ल जी को भी स्पष्ट है और इधर रामविलास शर्मा को भी। जिन्हें यह बात स्पष्ट नहीं है वे आलोचक साहित्य का समाजशास्त्र गढ़ने पर भी आज की रचना के आन्तरिक द्वन्द्व के रहस्य का मर्म नहीं खोल सके हैं। कारण, इस तरह के आलोचकों ने यह तथ्य भुला दिया है कि गहन-पाठ से रचना का अर्थ खुलता है हर रचना इतिहास में एक इकाई के रूप में अस्तित्व रखती है। फिर जिन्दा व्यक्ति की भाँति रचना अपना जीवन जीती है। रचना में इसी अर्थ में हमारे पुरखे बोल रहे होते हैं। यह बात शुक्ल जी ने अपनी प्रतिभा से 'रामचरितमानस' में पकड़ी थी और रामविलास ने निराला पढ़कर यही सिद्ध किया। दोनों ही आलोचक इतिहास की निरन्तरता में कृति की 'सामान्य भावभूमि' पहचानने की कोशिश करते हैं। शुक्ल जी की यह प्रकृत भाव-भूमि ही डा० नामवर की 'इतिहास और आलोचना' में नया बोध प्राप्त करती है।

शुक्ल जी ने साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र से 'अमूर्त' को खदेड़ कर 'मूर्त' को स्थापित किया था। इस मूर्त सिद्धान्त का प्रभाव समसामयिक आलोचना के अधिकांश आलोचकों पर परिलक्षित किया जा सकता है। आज के आलोचक के लिए शुक्ल जी का रस सिद्धान्त चिन्तन चाहे उतना बहुत महत्त्वपूर्ण न हो, जितना कि साहित्यिक मूर्त्त-'विवेचन'। (साक्षात्कार अंक १९८४ पृ० ९१ अगस्त-नवम्बर)।

आज भी हिन्दी आलोचना लोक धर्म की भूमि को नयी चेतना से पकड़ रही है। यह प्रश्न डा० नगेन्द्र और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को गम्भीरता से मथता रहा है कि शुक्ल जी के लोक-धर्म की व्याप्ति कहाँ तक है। क्या यह लोक धर्म अन्ततः वर्णाश्रम-धर्म पर आधृत

मर्यादावाद का कच्चा-बच्चा है। शुक्ल जी ने अपनी लोक धर्म की अवधारणा को 'तुलसीदास' के विवेचन में वर्णाश्रम धर्म से जोड़ा है और यह जोड़ डा० नगेन्द्र ने 'भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि' में स्पष्ट भी किया है। किन्तु तर्क करने पर लगता है कि शुक्लजी का लोकधर्म आंशिक रूप से ही वर्णाश्रम-धर्म की ओर झुका था वे मूलतः लौकिक लोक-धर्म की चिन्ता में मग्न थे। डा० रामविलास शर्मा ने 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्स-वाद' पुस्तक में लिखा है कि "मध्य युगीन भक्तों का काम यूरोप में बाइबिल का अनुवाद करने वालों के काम से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। क्योंकि शास्त्रानुवाद के स्थान पर वे लौकिक लोक-धर्म की स्थापना कर रहे थे।"

शुक्ल जी को हिन्दी साहित्य और उसकी पृष्ठभूमि के अध्ययन-विवेचन से स्पष्ट हुआ था कि तन्त्रवाद तथा भक्तिवाद के बीच सीधा विरोध अपने मूल में विकृत साधना तथा प्रकृत-साधना का विरोध है। ऐसी स्थिति में भक्तिवाद ही शुक्ल जी का 'लोकधर्म' बना। किन्तु इस भूमि पर कबीर का शुक्ल जी विरोध नहीं करते। वे कहते हैं—"कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेम तत्व लिया और अपना 'निर्गुण पंथ' बड़ी धूमधाम से निकला। कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला, जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया। 'मुझे लगता है कि आचार्य शुक्ल के इसी विचार का विकास मुक्तिबोध ने 'मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के एक पहलू' नामक निबन्ध में किया है।

लोकधर्म की भूमि पर खड़े होकर ही शुक्ल जी ने साहित्य और धर्म दोनों में करामात या चमत्कारवाद का विरोध किया। यह अलग बात है कि उनके क्रोध का शिकार तंत्रवादी ही बने। भक्त कवियों ने जहाँ जनता की लोकभाषा की प्रतिष्ठा की—जीवन में सरसता का संचार करके जीवन में जीने की चाह बनी रहने दी वहाँ भी उन्होंने रहस्यवाद, व्यक्तिवाद तथा चमत्कारवाद का विरोध किया। कविता क्या है। 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप', 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' जैसे निबन्धों में उन्होंने खुलकर व्यक्तिवाद चमत्कारवाद के बाद खिलाफ लड़ाई लड़ी। मूल्यों के लिए शुक्ल जी की इस लड़ाई को समसामयिक आलोचक बड़े महत्व का मानते हैं। अपनी लोकधर्म दृष्टि में शुक्ल जी ने उस करामात और जादू टोना को नहीं धँसने दिया जिसका सम्बन्ध 'शास्त्र दृष्टि' से था। यहाँ ध्यान रखना होगा कि शुक्ल जी ने योग-धर्म तथा तन्त्रवाद में भेद किया है—उनके विचार से योग-धर्म मन की साधना है—किन्तु तन्त्रवाद धर्म की विकृति में महा सुखवाद और गुह्य साधना है।

शुक्ल जी ने मध्ययुगीन बोध का विरोध तो किया ही शंकर के उस मायावाद का भी विरोध किया जो इस जगत को मिथ्या और उस जगत को सत्य मानता था। मूलतः यह दृष्टि पलायनवादी तथा कर्म-विरोधी थी। शुक्ल जी ने जगह-जगह स्पष्ट किया कि ब्रह्म के व्यक्त सत्ता रूप में यह नाम रूपात्मक जगत सत्य है और इसके संघर्ष सत्य हैं तथा इसी को बनाने-सुधारने-बदलने में मानव का कल्याण है। काव्य में लोक-मंगल की साधना की यही धुरी है जो छात्र-धर्म के सौन्दर्य को ही चरम साध्य मानती है।

शुक्ल जी ने 'सच्चे कवि' तथा 'नकली कवि'—की वास्तविक पहचान कराने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उनकी इस विषय पर दृढ़ धारणा थी कि कवि के काव्य का चरम उत्कर्ष वही होता है—जहाँ वह अपने हृदय को लोक हृदय में लीन कर देता है—लोक-हृदय में अपने हृदय को लीन करने की दशा ही रस दशा है। व्यापक-अर्थों में यह रसदशा—हृदय की उन्मुक्तता है— यह हृदय की उमड़न लौकिक-जीवनानुभूति है—जिसे शुक्ल जी 'ब्रह्मानन्द सहोदर' 'चिन्मय' 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' नहीं कहते हैं। दार्शनिक ढंग के रसवादी रस को आत्मानन्द में धकेल देते थे पर इधर शुक्ल जी की लौकिकतावादी दृष्टि का साथ डा० नामवर सिंह ने 'कविता के प्रतिमान' में 'रस प्रतिमान की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए स्पष्ट रूप में दिया है। लेकिन जब नयी कविता और रस-दृष्टि को लेकर समसामयिक आलोचना में एक मल्ल युद्ध चल पड़ता है—तब साही जी को कहना पड़ता है कि—'अधिकांशतः आज के लेखकों और आलोचकों की धारणा या आदत पड़ती जा रही है कि रस-सिद्धान्त पर बहस बन्द हो जानी चाहिए और लग-भग प्रच्छन्न रूप से सब सहमत होते जा रहे हैं कि अब फायदा नहीं निकलेगा। 'रस' कहने से जो सहसा साहित्यिक रुचि की प्रतीति होती है उससे मैं निश्चय ही अपने को भिन्न पाता हूँ। लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए इस शास्त्र से उलझना आवश्यक है। यानी जब हम कालि-दास पढ़ें तो रस-सिद्धान्त लागू करें और लक्ष्मीकांत वर्मा को पढ़ें तो आज की रुचि लागू करें। इस अवसरवादिता को साहित्यिक रुचि से बहिष्कृत करना बहुत जरूरी है। ऐसी स्थिति में आज मूलप्रश्न यह है कि रस सिद्धान्त में आज की सृजनात्मकता के लिए कितनी क्षमता शेष बची है। फिर यह देखना भी जरूरी है कि शुक्ल जी रस के सामाजिक आधार को ही स्वीकृति देते हैं—प्राचीन रसवादी तत्ववाद को नहीं। शुक्ल जी अपनी इन्हीं सामाजिक मान्यताओं के कारण अर्थ-मीमांसा की ओर तो बढ़े किन्तु रिचर्ड्स के संवेग सिद्धान्त की व्यक्तिवादिता को समझ कर भी खामोश रहे। आज की अंग्रेजी-अमरीकी समीक्षा-जो रिचर्ड्स के कदमों पर चली—उसने यह बात तो साफ कर दी कि आचार्य शुक्ल की मूल दृष्टि ही ठीक थी। वे रस को—'सिद्धांत' न मानकर 'रस पद्धति', मानते थे—और यह रस पद्धति का काव्यास्वाद की ही प्रक्रिया है—प्रतिमान नहीं। आस्वाद की यह प्रक्रिया अर्थ-मीमांसा पर आधृत है जिसका सम-सामयिक आलोचना में मान कम नहीं हुआ है।

जब श्री विजयदेव नारायण साही ने नयी कविता के प्रतिमानों पर बहस न उठाकर कविता के नये प्रतिमानों को निर्मित करने की जरूरत पर बल दिया, तब 'पुराने प्रतिमानों' से उनका तात्पर्य 'प्राचीन संस्कारों' से ही था। उनकी धारणा थी कि नये प्रतिमानों के लिए सबसे बड़ी चुनौती 'छायावादी संस्कार' हैं। अधिकांश नये समीक्षकों की राय यही है कि 'छायावादी-संस्कार' आ० शुक्ल में कम नहीं हैं। दूर से देखने पर वे छायावाद के विरोधी आचार्य दृष्टिगत होते हैं किन्तु नजदीक से देखने पर लगता है कि वे छायावादी-संस्कार के स्वच्छन्दतावादी आचार्य हैं। वे कविता में अनुभूति को सबसे ऊपर रखते थे और प्रकृत भावभूमि के कायल थे। उनकी कविता के वस्तु और रूप की पूरी पदावली आज यह सिद्ध करती है—उनमें छायावादी संस्कार काफी गहरा था और इन्हीं संस्कारों से उन्होंने पूरे हिन्दी साहित्य की व्याख्या-विवेचना की, जिनका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के पाठक में छायावादी-संस्कारों की जड़ें गहरी धंसती गई हैं जिन्हें आज भी समीक्षा से समूल निकाल फेंकना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति के कारण हिन्दी के अधिकांश नये समीक्षक प्रत्यक्ष में तो छायावादी-संस्कारों के विरोधी और क्रांतिकारी

ढंग के दृष्टिगत होते हैं—किन्तु सच है कि ज्यादातर नये समीक्षकों पर शुक्ल जी के छायावादी संस्कार प्रभावी ढंग से सक्रिय हैं। डा० नामवरसिंह ने ठीक कहा है कि "बहरहाल, इतिहास की यह भी एक बिडंबना ही है कि छायावाद का विरोध करके भी आचार्य शुक्ल आधुनिक हिन्दी के काव्य पाठक को बहुत कुछ छायावादी-रुचि से संवलित कर गए, जिसे 'छायावाद का पतन' जैसी पुस्तक भी न तोड़ सकी।"

समसामयिक हिन्दी आलोचना का सबसे बड़ा अतिवाद यह है कि यह अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी स्थितियों के बीच भटक रही है। अन्तर्मुखी आलोचना के आलोचक बिम्ब-प्रतीक, मिथक और भाषा को लेकर वैयक्तिक एवं सामूहिक अवचेतन की गहराइयों में तो उतरते जाते हैं लेकिन भीतर से बाहर नहीं झाँकते। दूसरी ओर बहिर्मुखी प्रवृत्ति के आलोचक वस्तुनिष्ठता के चक्कर में समय-समाज के सन्दर्भों को लेकर तो आकाश पाताल के कुलावे एक कर देते हैं लेकिन रचनाकार के अन्तर्मन में नहीं झाँकते। ये दोनों ही आलोचना-पद्धतियाँ सहयोग करने के बजाय पीठ से पीठ मिलाए खड़ी हैं। यहाँ भी शुक्ल जी से सीखने की बात यह है कि वे अपनी व्यावहारिक आलोचना में अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दृष्टि का सामंजस्य स्थापित करते चलते हैं। सामंजस्य की यह शक्ति शुक्ल जी में इतनी प्रबल है कि वे रचना की 'क्लोज रीडिंग' तक ही नहीं रह जाते बल्कि संरचना को प्रभावित करने वाले तत्वों की सामाजिकता को भी परखने में प्रमाद नहीं करते हैं।

शुक्ल जी के बाद हिन्दी-आलोचना में पश्चिमी अनुकृति के ढंग पर न्यूक्रिटिसिज्म उभर कर आई है। यह नयी समीक्षा कृति के पाठ-विश्लेषण तथा भाषिक गठन पर बल देती है। इस नयी समीक्षा का सार-संक्षेप इतना ही है कि 'कृति' का अस्तित्व उनकी भाषागत निर्मिति में ही निहित है। ऐसी स्थिति में यह समीक्षा कृति के विश्लेषण में तो प्रवृत्त होती है किन्तु मूल्यों की चर्चा नहीं करती। आज बिना मूल्यों के मूल्यांकन सम्भव नहीं है। नयी समीक्षा ऊपर से आधुनिकता को ओढ़ने पर भी भीतर से चुपके-चुपके अस्तित्ववादी चिन्तन से आक्रान्त है। इसीलिए इन आलोचकों की केन्द्रीय शब्दावली में लघु मानव-सिद्धान्त, तनाव, विरोधाभास, विडम्बना, रूपक, संत्रास, निराशा और अस्वीकृति का भाव-बोध रहता है। अतः नयी समीक्षा की आधुनिकता वैसी ही है जैसी अमेरिकी टेकनालाजी आधुनिक है। कम्प्यूटर मानव आधुनिक है जो मानव का हर तरह से भावनात्मक-बौद्धिक शोषण कर रहा है। एक प्रकार से यह आधुनिकता-मार्क्सवाद के विरोध में खड़ी अस्तित्ववादी बनाम अन्तर्राष्ट्रीय साजिश की अमरबेल है जो भारतीय वृक्ष चेतना को चूसने का संकल्प लेकर जन्मी है। हिन्दी में यह भी सच है कि कुछ लोग जानकर और कुछ अज्ञानवश इस अस्तित्ववादी आलोचना के चक्कर में पड़े हैं। अशोक वाजपेयी और रमेशचन्द्र शाह एक ऐसा ही रीतिवाद ला रहे हैं जो काफी खतरनाक है। आज जरूरत है कि हम हिन्दी आलोचना में आ० शुक्ल की दिशा और दृष्टि को समझकर इस नव्यालोचना या न्यू क्रिटिसिज्म का विरोध करें। साहित्य में उपस्थित प्रत्येक ढंग के रीतिवाद से युद्ध करना और साहित्य को उससे मुक्त करना ही आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विजय होगी।

आखिरकार बहुत सोचने-विचारने के बाद ही शुक्ल जी ने यह निर्णय लिया था कि काव्य में मनोमयकोश और सिद्धान्त में भाव-योग सिद्धान्त से आगे बढ़ने की जरूरत नहीं है। आगे बढ़ने पर अमूर्त्तता और अगोचरता का खतरा उन्हें साफ दिखलाई देता था। शुक्ल जी ने

अपने चिन्तन की केन्द्रीय शब्दावली में संश्लिष्ट-चित्रण लोकमंगल तथा लोकचित्तवृत्ति का त्रिक् बनाया। लोक-मंगलवादी सिद्धान्त संहिता के पीछे भी रसानुभूति बनाम सौन्दर्यानुभूति बनाम जीवनानुभूति वाली मानव-जीवन की संश्लिष्ट दृष्टि ही थी।

यह अजीब संयोग की बात है कि आधुनिक हिन्दी कविता में सर्वाधिक टकराव का बिन्दु 'कामायनी' की आलोचना में निहित रहा है। स्वयं आचार्य शुक्ल के सभी काव्य प्रतिमान 'कामायनी' के सामने शीर्षासन कर उठे थे। कहना होगा कि आचार्य शुक्ल तुलसीदास के काव्य प्रतिमानों से 'कामायनी' की समीक्षा करते रहे जिसमें उनकी आलोचना के मानों की पोल भी खुली। लेकिन मूल्यांकन की इन कमजोरियों के बावजूद उन्होंने अपने 'ईमानदार आलोचक' की रक्षा की और मूल्यांकन के मानों में अवसरवादिता का ढुलमुल रूप नहीं अपनाया। उन्होंने 'कामायनी' का मूल्यांकन एक दार्शनिक रचना के रूप में नहीं किया—प्रबन्ध कला की चेतना में एक प्रश्न उठाया—कामायनी की अन्तर्योजना के खंडित होने का और कहा—यदि मधु चर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की विशद योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती है। साथ ही यह भी कहा कि "श्रद्धा के मंगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही है।" आचार्य शुक्ल के बाद 'कामायनी' पर ही सर्वाधिक आलोचनाएं लिखी गईं और अनेक पद्धतियों-प्रतिधियों-रुचियों से 'कामायनी' को समझा समझाया गया। छायावाद के दो बड़े आलोचक डा० नगेन्द्र तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'कामायनी' पर ही विस्तार से विचार करते रहे। डा० नगेन्द्र 'कामायनी' को मानव-चेतना का महाकाव्य घोषित करने के साथ कृति के संश्लिष्ट विधान को 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' पुस्तक में खोलते रहे। स्वयं वाजपेयी जी 'कामायनी' के संश्लिष्ट विधान से ही जूझे और पस्त हो गए। डा० फतेह सिंह से लेकर डा० रामलाल सिंह तक रूपक को समझाने का क्रम तो जारी रहा पर इस काव्य कृति के समग्र विधान की ओर आलोचक न जा सके। नये आलोचकों में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'कामायनी' के पुनर्मूल्यांकन का पुनः बीड़ा उठाते हुए कहा कि "रचना को वास्तुशिल्प मूर्ति या चित्र की तरह किसी स्तर पर समग्रता में उसके अनुभव की संश्लिष्टता में देखने का यत्न' किया गया है। किन्तु डा० चतुर्वेदी ने जितनी बड़ी सैद्धान्तिक भूमि तैयार की उतनी समग्रता में कृति के काव्य-बोध की ठीक-ठीक परख नहीं की। वे एकेडेमिक आलोचना के टूल्ज अपनाकर 'संश्लिष्ट काव्य विधान' के भीतर ही रम गए। 'कामायनी' के मूल्यांकन में ग० मा० मुक्तिबोध को बीस बरस सिर खपाना पड़ा। उन्होंने 'कामायनी पुनर्विचार' पुस्तक में कामायनी को विशाल फैण्टेसी के रूप में विवेचित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'कामायनी' "कलाकार की विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना है।" यहाँ ध्यातव्य है—'विधायक कल्पना' जैसी शब्दावली लेने में उनके लिए आचार्य शुक्ल ही काम आए। कामायनी की 'बिम्ब माला के जटिल विधान को डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी बड़ी तार्किकता से उद्घाटित कर चुके थे किन्तु मुक्तिबोध भी अपने ही ढंग से आलोचना करने वाले आलोचक थे। उन्होंने कामायनी के प्रतीकों की चरित्रों की वर्ग-चेतना दृष्टि से व्याख्या की। स्वयं डा० नामवरसिंह 'इतिहास और आलोचना' में कामायनी के प्रतीकों की वर्ग दृष्टि से व्याख्या कर चुके थे। किन्तु मुक्तिबोध ने भारतीय समाज के द्वन्द्ववाद को समझते हुए मनु तथा प्रसाद पर अपनी नयी स्थापनाएं की। 'कामायनी' के कथानक और चरित्रों के बीच विद्यमान जिन असंगतियों की

ओर आचार्य शुक्ल का ध्यान गया था—उन पर मुक्तिबोध ने विशेष टिप्पणियाँ कीं। 'कामायनी' के रूपक-निर्वाह की असंगतियों पर भी आचार्य शुक्ल का ध्यान गया था—और उन्होंने प्रसाद के 'रहस्यवाद' की ओर खुला संकेत भी किया था—जिसे डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी तो टाल गए लेकिन मुक्तिबोध ने नहीं टाला। कामायनी की मूल्य चेतना पर ध्यान देते हुए मुक्तिबोध को कहना पड़ा—"हुआ यह कि प्रसाद जी की, कामायनी' साहित्य के रसवादी छायावादी पुराण पंथियों के हाथ में, नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र बन गई। उन्होंने मनु के व्यक्तिवाद के विनाशकारी रूप का उद्घाटन नहीं किया, प्रसाद जी की सभ्यता-समीक्षा की बात को ढांक लिया। किन्तु यही दो बातें हैं जिनके कारण 'कामायनी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई है। भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया। उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध में हर तरह की ऊंचे किस्म की गलतफहमियाँ भी फैलाई।" इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध ने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम लेकर कहा कि वे किस प्रकार 'कामायनी' के द्वारा छायावाद के प्रतिगामी मूल्यों को फैलाते रहे और प्रगतिशील मूल्यों से आँख मूँदे रहे। इसलिए मुक्तिबोध ने छायावाद तथा कामायनी के प्रतिक्रियावादी मूल्यों से संघर्ष करते हुए हिन्दी-आलोचना का छायावादी रंगमहल ही ध्वस्त कर डाला। आगे चलकर उन्होंने यही कार्य नयी कविता की सृजनात्मकता के तेजोदीप्त रूप को प्रकट करने के लिए 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध और नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' लिखकर जारी रखा। नयी कविता की ऐतिहासिक सामाजिक शक्तियों की पहचान कराते हुए उन्होंने यह भी कहा कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग है—जिसमें कवि वस्तु के लिए, अभिव्यक्ति सम्पदा के विकास के लिए तथा थियरी या जीवन-दृष्टि के निर्माण के लिए तिकोना संघर्ष झेलता है। रचना में यह संघर्ष मुक्तिबोध ने स्वयं झेला और इस संघर्ष की ईमानदारी को अज्ञेय और उसकी परम्परा के कवियों में न पाकर दुःख प्रकट किया। कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के समसामयिक आलोचना में दो ही उत्तराधिकारी हैं—मुक्तिबोध और डा० रामविलास शर्मा। शुक्ल जी जीवन-भर कलावादी, भाववादी, रहस्यवादी, अध्यात्मवादी, रूपवादी, अभिव्यंजनावादी, प्रतीकवादी, बिम्बवादी, प्रभाववादी, फ्रायडवादी आलोचना दृष्टि से संघर्ष करते रहे हैं और यही संघर्ष मुक्तिबोध तथा डा० रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि की बुनियाद में विद्यमान हैं। आज इसी राह पर समसामयिक आलोचना चल रही है जिसे शुक्ल जी के चिन्तन की विजय यात्रा कहा जा सकता है।

हालांकि शुक्ल जी की आलोचना के अन्तर्विरोध—धर्म बनाम अध्यात्म, ज्ञान बनाम प्रेम, विश्वमानव बनाम हिन्दू नवजागरण आदि भी आज काफी चटकीले रंगों में उभर पड़े हैं और समसामयिक समीक्षा आचार्य शुक्ल के इन अन्तर्विरोधों से बचकर चलने का प्रयास कर रही है। लेकिन शुक्ल की छात्र-धर्म दृष्टि में तैरती तिलक की विचार धारा, देश-भक्ति का एक नया आयाम सामने लाती है। आचार्य शुक्ल विचारधारात्मक संघर्ष को तेज करते हुए अपने युग में ही गांधी, रवीन्द्र तथा टाल्स्टाय जैसे तीन महान व्यक्तित्वों का विरोध करते हैं—क्योंकि तीनों का ही चिंतन उन्हें प्रतिगामिता की ओर ले जाने वाला लगता है। समसामयिक हिन्दी आलोचना में वैचारिक संघर्ष बढ़ जाने पर यह तथ्य दुहराया तिहराया गया है कि आचार्य शुक्ल ने गांधी, रवीन्द्र तथा टाल्स्टाय का विरोध करके अपनी दूरदर्शिता का ही परिचय दिया था।

आचार्य शुक्ल के लिए तिलक की विचारधारा के समर्थन का मतलब था—देश की क्रांतिकारी विचारधारा का साथ देना तथा भविष्य के लिए दिशा-निर्धारित करना। शुक्ल जी ने देश-प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य-चित्रण दृष्टि में फ्रायड को फटकारते हुए जातीय सामूहिक अवचेतन-दृष्टि को स्वीकार किया जिसमें आदिमत्ता, आद्य-बिम्बों के रूप में संस्कार, वासना, वंशानुगत में विद्यमान रहती है। प्रकृति तथा मानव के चिर साहचर्य संभूत संस्कार की चेतना को उन्होंने 'रसात्मकबोध के विविध रूप' निबन्ध में 'स्मृति-रूप-विधान' कहकर ही सन्तोष किया। अतः 'अतीत' और 'प्रकृति' को शुक्ल जी ने रसात्मक भूमिका माना। इसी भूमिका में विरुद्धों के सामंजस्य की भावना भी बनी रही।

समसामयिक आलोचना में यह मत तेजी से व्यक्त किया जा रहा है कि सृजनात्मकता के भीतर से ही मानदंड या प्रतिमान कमाए जाने चाहिए। ध्यातव्य है कि यह कार्य शुक्ल जी ने 'तुलसी', 'सूर', 'जायसी' की भूमिकाओं में प्रथम बार अपने ढंग से किया था। अतः उन्होंने अपने प्रतिमान 'शास्त्र' से न कमाकर 'लोक' या सृजनात्मकता के भीतर से विकसित किए थे। वैचारिक प्रतिबद्धता को आरोपण से मुक्त रखा—यह इस बात का प्रमाण है कि वैचारिकता को वे एक मानसिक परिवेश मानते थे। लेकिन सिद्धान्त की जड़ता के कायल न थे। शुक्ल जी से इधर की आलोचना में सच्ची सीख डा० रामविलास शर्मा ने ली है—जिन्होंने अपनी आलोचना से सिद्ध कर दिया है कि वैचारिकता-प्रतिबद्धता की अतिशयता आलोचक को चाट-चर जाती है और वैचारिक गतिशीलता, विवेक वयस्कता को आलोचना में निष्पन्न करती है। डा० शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पुस्तक में एक पूरे युग को मथकर फेंक दिया। लेकिन एक जिद्दी मार्क्सवादी चिन्तन से वे दूर रहे। किस प्रकार से कितनी दूर रहे यह विचार अन्यत्र करूँगा। उन्होंने इतना तो सिद्ध किया ही कि किसी सिद्धान्त की माला जपने से ही कोई आलोचक नहीं हो जाता उसे साहित्य और साहित्येत्तर मूल्यों को साथ-साथ रखकर विवेक वयस्कता से रचना को मूल्यांकित करना पड़ता है। स्वयं डा०शर्मा ने अनेक मार्क्सवादियों को नाराज किया है—लेकिन वे यह नाराजगी सहकर भी भारतीय चिन्तन के द्वन्द्ववाद को समझते-समझाते चल रहे हैं। यही आचार्य शुक्ल की दृष्टि का सच्चा विकास उनमें हो रहा है। अतः आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में जिस मौलिक-काव्यशास्त्र की नींव रखी है उसीका विकास डा० शर्मा करते रहे हैं।

नयी कविता के आलोचकों में—जगदीश गुप्त, डा० रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही आदि ने आलोचना की नयी कसौटियाँ रखी हैं—उदाहरण के लिए—अर्थ की लय, सह-अनुभूति, परम्परा और प्रयोग, प्रयोग और सम्प्रेषण, परम्परा और आधुनिकता, समसामयिकता और परम्परा, प्रतिबद्धता, व्यंग्य-वक्रोक्ति, विरोधाभास, तनाव, विडम्बना, अनेकार्थता आदि। प्रश्न उठता है कि पश्चिम से आयातित इस पारिभाषिक शब्दावली ने समसामयिक हिन्दी आलोचना को कितना समृद्ध बनाया है। कृति को समग्रता और अखंडता में समझने के लिए इस पारिभाषिक शब्दावली ने कितनी मदद की है और बहुत से पारिभाषिक शब्द तो नये लगने पर भी भारतीय काव्यशास्त्र की पकड़ के बाहर नहीं हैं—उदाहरण के रूप में कह सकते हैं कि डा० जगदीश गुप्त का 'सह-अनुभूति' सिद्धान्त शुक्ल जी के साधारणीकरण सिद्धान्त का ही कम ज्यादा रूप है—इसे पश्चिम के समानानुभूति सिद्धान्त का अनुवाद नहीं समझना चाहिए—जैसाकि बहुत से आलोचकों ने भ्रमवश समझ लिया है।

कवि आलोचक मलयज ने अपने एक लेख में आग्रह से दिखाया था कि साहित्य में वस्तुमत्ता, समग्रता और लोकचित की स्वाभाविक परिणति प्रायः 'लोक सामान्य' या 'साधारण की महत्व-प्रतिष्ठा में होती है जिसके अन्तर्गत 'असाधारण' के तिरस्कार का भाव विद्यमान रहता है। अतः सामान्य मनुष्य ही शुक्ल जी की लड़ाई का हीरो था और इसी के द्वारा उन्होंने साहित्य में प्रत्येक प्रकार की 'असाधारणता' के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन आचार्य शुक्ल के लिए भी सच है कि—'भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गम्भीर और स्वतन्त्र विचारक हिन्दी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। अलंकार शास्त्र के प्रत्येक अंग पर उन्होंने सूक्ष्म विचार किया था शब्द शक्ति, गुण दोष, अलंकार-विधान, रस आदि सभी विषयों पर उनका सुचिन्तित मत था। वे प्राचीन भारतीय अलंकारिकों को खूब समझते थे पर उनका अंधानुकरण करने वाले नहीं थे। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।" शुक्ल जी को गुलामी पसन्द नहीं हैं—न पूर्व की, न पश्चिम की, न शास्त्र की न दर्शन की, न जाति की, न धर्म की। इसीलिए शुक्ल जी को 'चिन्ता' शास्त्र से आगे की मानव-चिन्ता है। जिसमें नैतिक मूल्यों पर बल रहता है। किन्तु कभी-कभार वे अच्छे-बुरे की नैतिकता से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यों की ओर विश्व दृष्टि से झुक जाते हैं। शुक्ल जी का यह कथन इसी विचार को पुष्ट करता है कि जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र रचना का अनुभव नहीं कर सकता वह देश प्रेम का दावा नहीं कर सकता।" इसी प्रकार के शुक्ल जी के सामने आलोचना, आलोचनाशास्त्र से आगे सामाजिक दायित्व और सांस्कृतिक बोध का प्रश्न अपनी पूरी गम्भीरता से रहा है। यही दायित्व-भावना उन्हें जीवन भर मथती रही। वे आज होते तो शैली विज्ञान, रूसी रूपवाद, फ्रांस के संरचनावाद और अंग्रेजी अमरीकी-न्यू-क्रिटिसिज्म के मूल्य रहित, भाषिक विश्लेषण से किसी भी कीमत पर सहमत न होते; क्योंकि उनके लिए मूल्यों और मानदण्डों का प्रश्न सर्वोपरि था।

नागार्जुन की काव्यानुभूति

☐ **प्रेमसिंह**

नागार्जुन आजीवन घुम्मकड़ कवि रहे हैं। अज्ञेय भी यायावर थे। यह रोचक है कि ये दोनों घूमते रहने वाले कवि अलग-अलग ढंग के हैं। अज्ञेय के कवि की केन्द्रीय चिन्ता केवल सही शब्द मिल पाने की है। वे शब्दों का जाल बनाकर जीवन पर फेंकते हैं और उसमें जितना जीवन आ जाता है वह उनकी कविता हो जाता है। अज्ञेय की यायावरी सैलानी किस्म की या एकान्तवास करने की थी। इस यायावरी में वे किन्हीं दृश्यों और घटनाओं से मुग्ध होते हैं और किन्हीं से क्षुब्ध! उनकी सम्पृक्ति इन्वाल्वमेंट—उन दृश्यों और घटनाओं के प्रति नहीं होती। वातावरण मिल्यू—के प्रति एक परायापन और तद्जन्य तटस्थता उन पर हावी रहती हैं। परिणामस्वरूप शब्दों के जाल से रची उनकी कविता काफी जड़ाऊ तो होती है; अज्ञेय का शब्द-संस्कार चूंकि बहुत गहरा और सम्पृक्त है, इसलिए कविता में एक खास सांस्कृतिक किस्म की गहराई भी होती है। वे कुशल चितेरे हैं, इसलिए उनकी कविता अपने रूप से रिझाती भी है, लेकिन काव्य-वस्तु के लिए चयन की गई जीवन-स्थितियों और उन्हें चित्रित करने के लिए चुने गए शब्दों के सामाजिक सन्दर्भ गायब होते हैं, इसलिए उनकी काव्यानुभूति आस्वाद के स्तर पर पाठकों को सक्रिय और सतेज नहीं बनाती; आत्ममुग्ध भले ही करती हो। यह उनकी काव्यात्मक प्रतिभा का स्वभाव है। नागार्जुन का ढंग दूसरा है। वे जहाँ भी जाते हैं जीवन-प्रसंगों और प्रक्रियाओं में सीधे शामिल हो जाते हैं। प्रकृति के साथ भी उनका सलूक यही है। जीवन-व्यापार और प्रकृति-व्यापार में उनकी यह सम्पृक्ति तटस्थता को जीवन-मूल्य नहीं मानती। तटस्थता एक कला-मूल्य है और उसका महत्व उन्हीं रचनाकारों के लिए है जिन्होंने जीवन-सम्पृक्ति को भोगा है! नागार्जुन जीवन की चौपाल पर बैठी पंचायत को एक तटस्थ और नियुक्त पर्यवेक्षक की तरह नहीं देखते, सीधे पंचों और मामले में शामिल हो जाते हैं और कभी हँसकर और कभी पूरी निर्ममता से गरीबों और शोषितों के पक्ष में अपनी उपस्थिति का अहसास कराते हैं। नागार्जुन प्रतिबद्ध कवि हैं। लेकिन उनकी प्रतिबद्धता प्रगतिवादियों की अतिवादी नारों वाली बाँझ प्रतिबद्धता नहीं है, कवि-संवेदना से सिक्त और सक्रिय प्रतिबद्धता है। नीचे की कविता में जहाँ उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता को खुला स्वीकार किया है, वहीं प्रगतिवादियों की 'प्रतिबद्ध' की तोता रट पर अपनी खीज भी जाहिर की है:

> प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ—
> बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त—
> संकुचित स्व की आपाधापी के निषेधार्थ···

अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया-धसान' के खिलाफ़···
अंध-बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए···
अपने-आप को भी 'व्यामोह' से बारम्बार उबारने की खातिर···
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ !

रामविलास शर्मा ने १६७८ में छपी अपनी पुस्तक 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में नागार्जुन की कविता के विषय में दो महत्त्वपूर्ण संकेत दिए। (१) "नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौंदर्य के संतुलन और सामजंस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि—हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी—हल कर पाए हैं।"[1] (२) "यह सही है कि आज नयी कविता के सन्दर्भों में नागार्जुन की चर्चा नहीं के बराबर है लेकिन कल जब समाजवादी दलों का बिखराव दूर होगा, जब हिन्दी प्रदेश की श्रमिक जनता एकजुट होकर नयी समाज-व्यवस्था के निर्माण की ओर बढ़ेगी, जब नयी कविता का अस्तित्ववादी सैलाब सूख चुका होगा, जब मध्यवर्ग और किसानों और मजदूरों में भी जन्म लेने वाले कवि दृढ़ता से अपना सम्बन्ध जन-आन्दोलन से कायम करेंगे, तब उनके सामने लोकप्रिय साहित्य और कलात्मक सौन्दर्य के संतुलन की समस्या फिर पेश होगी और तब साहित्य और राजनीति में उनका सही मार्ग दर्शन करने वाले, अपनी रचनाओं के प्रत्यक्ष उदाहरण से उन्हें शिक्षित करने वाले, उनके प्रेरक और गुरू होंगे कवि नागार्जुन।"[2] आज क्यों नागार्जुन का महत्व नहीं है। (हालांकि अब यह माना जाने लगा है) और कल क्यों होगा? इसका पहला कारण है नयी कविता में अन्तर्मुखी व्यक्तिवादी धारा का सैलाब और क्रान्ति में उसकी अनास्था और दूसरी ओर है नागार्जुन की सतेज सामाजिक चेतना और क्रान्तिकारी आस्था। दूसरा कारण है नयी कविता में राजनीतिक निषेध और मानवीय नियति की अपरिभाषित पहचानहीन स्थितियाँ और दूसरी ओर नागार्जुन की राजनीतिक चेतना और जनमानस से जुड़ी उसकी पहचानयुक्त कुत्सा और संभावना! तीसरा कारण है, नयी कविता में मनुष्य को अधिकतर दार्शनिक विषय या प्रश्न की तरह धारण किया गया, दूसरी ओर नागार्जुन आज के मनुष्य को ऐतिहासिक स्तर पर सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक प्रश्न या विषय की तरह धारण करते हैं। यानि नागार्जुन की कविता इस असंदिग्ध बात को कि वह कभी अवने सामाजिक मूल से अलग होकर सार्थक नहीं हो सकती, प्रमाणित करती है! यह सही है कि कविता का सीधा सरोकार समाज नहीं मानव-जीवन होता है, लेकिन मानव-जीवन सामाजिक संस्थाओं और शक्तियों के साथ अपनी सहयोगी या विरोधी भूमिका में चरितार्थ होता है। अर्थात् काव्य की सृजनशील प्रक्रिया में सामाजिक अनुशासन भी मूलभूत रूप में अन्तर्मुक्त होते हैं! इस प्रकार काव्य-सृजन भी एक सामाजिक क्रिया हो जाता है। वह सौन्दर्य का एकांत लोक नहीं बनता। इसे यों भी कह सकते हैं कि काव्य-कृतियाँ निर्विशेष भावमय मनुष्य के दार्शनिक स्वरूप को नहीं, सविशेष भावरूप सामाजिक मनुष्य को व्यक्त करती हैं। 'शेखर' में "ओ मात्र भावरूप मानव' से प्यार करने की बात है। यह निर्विशेष भावमय मानव है। नागार्जुन सविशेष भावरूप मनुष्य को प्यार या घृणा करते हैं।

नागार्जुन को इस बात की खरी पहचान है कि सामाजिक-ऐतिहासिक स्थितियों से जो भावों में बदलाव आता है—उससे कविता होती है। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक महत्त्वपूर्ण संकेत उल्लेखनीय है, "काल-चक्र के फेर से जिन नई परिस्थितियों के बीच हम

पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता वैसे ही उनकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन सीधा, नीरस शिथिल और अशक्त रहता है।"[1] यहाँ शुक्ल जी नई परिस्थितियों के साथ भावों की उन्मुखता में काव्यानुभूति का स्वरूप विकसित और निर्मित होता हुआ पाते हैं। नई परिस्थितियों का स्वरूप गतिशील और ऐतिहासिक होता है। भावों का स्वरूप अपेक्षाकृत स्थायी और गैर-ऐतिहासिक ! जाहिर है कि परिस्थितियों की गतिशीलता और ऐतिहासिकता से टकराए बिना भावों के स्थायी स्वरूप में अनुभूति के सार्थक पहलू उत्पन्न नहीं होते। सामयिक सामाजिक स्थितियाँ भावों में विविधता, भावों तथा संस्कारों और विचारों में, आन्तरिक और बाह्य आचरण में अन्तर्विरोध पैदा करती हैं—इसी बिन्दु से कविता उन संयोजन तंतुओं को पाती है जो व्यक्ति और ऐतिहासिक स्थितियों में निहित होते हैं। विचारों के द्वन्द्व, संस्कारों और विचारों की लड़ाई, सामाजिक संघर्ष और इनमें कवि की पूर्ण सम्पृक्ति उसके व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करती है। यह पूर्णता नागार्जुन में है। उनकी एक कविता है 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने'। कविता के अन्त की कुछ पंक्तियाँ है :

"आओ तुम मेरे साथ रतनेश्वर
देखेंगे आज जी भरकर
उगते सूरज का अक्षण-अक्षण पूर्ण-बिम्ब
जाने कब से नहीं देखा था शिशु भास्कर
आओ रतनेश्वर कृतार्थ हों हमारे नेत्र !
देखना भई जल्दी न करना
लौटना तो है ही
मगर यह कहाँ दिखता है रोज-रोज
सोते ही बिता देता हूँ शत-शत प्रभात
छूट-सा गया है जनपदों का स्पर्श
(हाय रे आंचलिक कथाकार)
आज मगर उगते सूरज को
देर तक देखेंगे, जी भर कर देखेंगे
करेंगे अर्पित बहते जल का अर्घ
गुनगुनाएंगे गद्-गद् होकर—
"ओं नमो भगवते भुवन भास्कराय
"ओं नमो ज्योतिशिखराय"
ओं नमो सूर्याय सवित्रे···।"
देखना भई रत्नेश्वर, जल्दी न करना !
लौटेंगे इत्मीनान से
पछाड़ दिया है आज मेरे आस्तिक ने मेरे
नास्तिक को
(साक्षी रहा तुम्हारे जैसा नौजवान 'पोस्ट ग्रेजुए')
मेरे इस 'डेविएशन' का ?"

आजकल जनवादी और प्रगतिवादी समीक्षकों को नागार्जुन को गोद लेने का शौक भर्राया है। "सारे प्रगतिशील खेमों के मंचों पर वे अगरू धूप बने हुए हैं। कोई उनसे उद्घाटन करवाना चाहता है, कोई प्रामाणिकता का प्रमाण-पत्र चाहता है और कोई उनका नाम शामिल करके अपनी अस्मिता को चमकाना चाहता है। इस रूप में वे एक चमकदार और विश्वसनीय लेबुल हो चुके हैं।" लेकिन उनकी इस तरह की कविताएं उन्हें दिक्कत में डाल रही हैं। उनकी दिक्कत सही भी है। मार्क्सवादी चेतना(वह भी किताबी)के लिए आस्तिकता की अनुभूति झूठ है। लेकिन नागार्जुन जिस वातावरण (मिल्यू) के कवि हैं, उसकी चेतना में आस्तिकता बद्धमूल है। दर्शन में यह सुविधा रहती है कि वह अपने विवेचन में कुछ भी छोड़कर चले, लेकिन कविता के साथ यह सुविधा नहीं है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस कविता के विषय में लिखा है "पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने कविता में आस्तिकता-नास्तिकता का उतना चक्कर नहीं है। निशा ओस की'''पूर्ण बिम्ब' के प्रभाव का चित्र हैं, जिसने कवि की चेतना को अभिभूत कर दिया है। आस्तिक की सर्वोत्तम कल्पना ईश्वर है। यह दृश्य नागार्जुन की सर्वोत्तम कल्पना का साकार रूप जैसा है। इसलिए वे आस्तिक हो उठते हैं।" त्रिपाठी जी ने शायद 'पछाड़ दिया' शब्द पर ध्यान नहीं दिया जो बताता है कि कुश्ती काफी लम्बी चली है। यह केवल नागार्जुन की कल्पना के साकार रूप—प्रकृति सौन्दर्य—से अभिभूत होना ही नहीं है। प्रकृति पर उनकी रीझ तो जग-जाहिर है ही। जिस वातावरण के वे कवि हैं उसकी एक ठोस वास्तविकता का स्वीकार कवि ने यहाँ किया है। यहाँ की किसान चेतना प्रकृति के सौन्दर्य और उसके हर व्यापार को ईश्वर से जोड़ कर देखती है। उसके लिए प्रकृति ईश्वरीय विधान से अलग कुछ नहीं है। बारिश होने पर किसान कहता है कि भगवान क्या इस बार सबको भूखा ही मार देगा। बारिश के लिए उसका मुहावरा ही है कि रामजी बरस रहा है। बादल या बारिश आने पर कहता है रामजी आ गया। व्यक्तिगत तौर पर भगवान को न मानने वाले नागार्जुन ने भी किसानों की तरह बादल को भगवान कहा है:

> "तना है चंदोवा, फैला है बितान
> बरस रहे हैं दिन रात बादल भगवान।"

कहने का आशय यह है कि 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' कविता में व्यक्तिगत स्तर पर कवि का यह 'डेवियेशन' समग्र वातावरण के स्तर पर शाश्वत आस्तिकता और आधुनिक रुझानों (एटीट्यूड्स) से पैदा हुई संघर्ष चेतना के अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति है। नागार्जुन और उनकी कविता के बारे में सभी प्रगतिवादी किसान-चेतना की बात करते हुए नहीं थकते। क्या वे सभी इतने अनजान हैं कि यह नहीं जानते कि भारत के किसानों ने मार्क्सवाद नहीं पढ़ा है और शिक्षा की यही 'गति' रही तो अगली शताब्दियों तक नहीं पढ़ेंगे कि वे सबके सब भगवान को मानने वाले हैं। लेकिन नागार्जुन इस आम वास्तविकता को जानते हैं। ईश्वरीय अस्तिकता के अतिरिक्त किसान चेतना में और भी अनेकानेक आस्तिकताओं के रूप अन्तर्ग्रंथित हैं। गरीब और शोषित किसान जब उनमें सहज सहारा खोजता है तो नागार्जुन को कोई चिढ़ या कुढ़न नहीं होती। पत्रों और पार्टियों में बैठे नपुंसक क्रान्तिकारियों की असलियत वे पहचान चुके हैं। 'जोड़ा मन्दिर' कविता में नागार्जुन का किसान-स्वभाव प्रभावी रूप में व्यक्त हुआ है। सारा देश घूम-घाम कर वे तरौनी (कवि का गाँव) लौटे हैं। उसके गाँव के सरजुग यादव ने अपने माँ बाप की स्मृति में सड़क के किनारे एक जोड़ा मन्दिर बनवा दिया है। माँ-बाप के क्रिया-कर्म और मंदिर

बनवाने में सारी फसल का पैसा भी लगा दिया है और जमीन भी बेच दी है। पूरे भारत के गाँव देहातों और शहरों में इस तरह की अनुत्पादक फिजूल खर्ची पर यदि शोध किया जाए तो भारी भरकम आंकड़ा प्राप्त होगा। नागार्जुन सब देख-दाख कर यह समझ चुके हैं कि यह फिजूलखर्ची अभी चलेगी क्योंकि इसके पीछे की भावना और अवसर दिखावे की, तुष्टि की स्थानापन्न नयी शिक्षित चेतना अभी कोसों दूर है। अतः वे सरजुग यादव को माँ-बाप की स्मृति में जोड़ा मन्दिर बनाने पर की गई फिजूलखर्ची पर लताड़ते नहीं, अपितु साधुवाद देते हैं :

"आज तक इस इलाके में
कहाँ सूझी थी किसी को यह बात !
देश-विदेश पूरा दुनिया जहान
धांग आया हूँ मैं···
कहाँ कहीं देखा है
माँ-बाप के नाम बना जोड़ा मन्दिर
वाह सरजुग धन्य हो तुम।"

मार्क्सवादी चेतना के हिसाब से यह झूठी कविता है लेकिन भारत के किसान वातावरण की दृष्टि से अत्यन्त सच्ची कविता है। विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कथन, "और कवि का कथ्य क्या है ! कवि का कथ्य वही है, जो स्थितियों का कथन है,"[१] नागार्जुन की कविता के कथ्य के बारे में सही कथन है, बशर्ते कि ऐसा कहते हुए उन्होंने माना हो कि कविता में स्थितियों का चिन्तन उनके जटिल और अन्तर्विरोधी विधान में होता है, आलोचकों की सोच और समझ की अनुकूलता में नहीं। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि नागार्जुन की इस तरह की कविताएं इस सच्चाई का स्पष्ट साक्ष्य हैं कि भारत जैसे पुरानी सभ्यता और संस्कृति के देश में धर्म और आस्तिकता की मानव विरोधी शक्ति महज मार्क्सवादी चेतना के चलते अनदेखी या खारिज नहीं की जा सकती। जो ऐसा सोचते हैं वे भारतीय स्वभाव को या तो समझते नहीं या समझने पर होने वाली दिक्कतों के कारण, समझना नहीं चाहते !

नागार्जुन की एक कविता है 'वो हमें चेतावनी देने आए थे'। यह कविता हाल में अर्थात १९८३ में लिखी गई है। कवि पूँजीवाद और जनवाद दोनों के चेहरों की असलियत पढ़ चुका है। इस कविता में क्रांति समता, प्रगति और जनवाद—चारों आकर सपने में कवि को धमकाते हैं। कवि लिखता है :

"दरअसल यह सब
एक डरावना सपना था
मगर अपना तो
सचमुच बुरा हाल था
प्यास के मारे गला सूख रहा था···
थर्मस से पानी निकाल कर
हमने दो बार पिया···
और, बाकी रात बैठे रहे :
सोचते रहे, सोचते रहे :
क्रांति, समता, प्रगति, जनवाद

—आजीवन हमने
इन शब्दों से काम लिया है !
वो हमें चेतावनी दे गए हैं !"

सपने के माध्यम से वास्तविक मनुष्य के भय का मनोविज्ञान यह कविता प्रस्तुत करती है। वास्तविक आदमी आज के माहौल में भय का शिकार है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि क्रांति की राजनैतिक शक्तियाँ नारों से ग्रस्त(ऑब्सेस्ड) हैं। नारों के सम्मोहन में फंसी ये शक्तियाँ वस्तु स्थितियों का आकलन नहीं कर पाती। ये क्रांति के मूल्य और उसके स्रोत की खरी पहचान नहीं रखतीं। उनकी यह स्थिति वास्तविक आदमी के स्नायुओं को 'टेंस' बनाती है। दूसरा यह कि पूँजीवादी सोच और आर्थिक शक्तियों ने जो जाल और दबाव बना रखे हैं, उनमें जीने वाला वास्तविक मनुष्य जब क्रांति, समता आदि के बारे में सोचता है तो भय से भर उठता है। इनके बारे में सोचने पर उसे आतंक का सामना करना पड़ता है। यहाँ पूँजीवादी और जनवादी—दोनों के खतरों से निर्मित वास्तविक मनुष्य के भय के मनोविज्ञान को यह कविता उद्‌घाटित करती है। नागार्जुन की यह कविता दो स्पष्ट तथ्य सामने लाती है। एक यह कि कवि की पक्षधरता विचारधारा के सारतत्व के प्रति होती है, 'डॉग्मा' के प्रति नहीं। दूसरे, कविता में विचारधारा नहीं कवि की अन्तरदृष्टि अनुस्यूत होती है। कवि की अन्तदृष्टि उन बहुत सी चीजों को नहीं छिपाती, जिन्हें विचारक छिपा लेता है। वह इन चीजों को भी नहीं छिपाती जो खुद विचार को खतरे में डालती हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने नागार्जुन की कविताओं के विषय में एक खास बात रेखांकित की है। "एक कविता नहीं, नागार्जुन ने अनेक कविताओं में नौजवान क्रान्तिकारियों के प्रति अपनी वेदना व्यक्त की है। हिन्दी के शायद ही किसी अन्य कवि ने नयी पीढ़ी को—विशेषकर अशिक्षित, अवर्ण बालकों, नौजवानों को इतनी आत्मीयता दी हो।...नक्सलवादी युवकों पर जो अत्याचार होता है, उस पर अपनी पीढ़ी के कवियों में सबसे ज्यादा कविताएं नागार्जुन ने लिखी हैं।"[5] यह आश्चर्य ही है कि नामवर सिंह ने उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन करते समय, इस आशय की एक भी कविता संकलित नही की है। हालांकि इस संकलन की दो कविताओं—'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' और 'शालवानों के निविड़ टापू में' से यह पता चल जाता है कि नागार्जुन के सहज मित्र नौजवान ही है। नौजवानों के प्रति नागार्जुन की यह आत्मीयता सीमित (कॉन्फाइंड) नहीं है। अशिक्षित और अवर्ण नौजवानों, पढ़े-लिखों और नक्सलवादियों तक यह आत्मीयता फैली है। उनकी एक कविता है 'धज्जी-धज्जी उड़ा दी छोकरों ने इमर्जेंसी की'। नागार्जुन को गोद लेकर उन्हें केवल अपने तक सीमित करने वाले यह तो जानते ही होंगे कि इमर्जेंसी की धज्जियाँ उड़ाने वाले ये छोकरे कौन थे।

नागार्जुन ने सामयिक घटनाओं, दृश्यों, वस्तुओं पर जितनी अधिक कविताएं लिखी हैं, किसी अन्य कवि ने नहीं। लेकिन उन्होंने उनका वर्णन-मात्र नहीं किया है। वे भावों और विचारों के अन्तर्विरोधी विधान में उन्हें चित्रित करते हैं। सामान्य घटनाओं, दृश्यों, वस्तुओं पर जितनी कविताएं उन्होंने लिखी हैं, किसी अन्य कवि ने नहीं। उनके काव्य-संसार की इस विशेषता को नामवर सिंह ने सोदाहरण सामने रखा है, "जो वस्तु औरों की संवेदना को अछूता छोड़ जाती है वही नागार्जुन के कवित्व की रचना भूमि है। इस दृष्टि से काव्यात्मक साहस में नागार्जुन अप्रतिम हैं। उन्हीं की बीहड़ प्रतिभा एक मादा सुअर पर 'पैने दाँतों वाली' कविता रच सकती

थी, जिसमें "जमना किनारे / मखमली दूबों पर / पूस की गुनगुनी धूप में / पसर कर लेटी है / भरे-पूरे बारह थनों वाली / छौनों को पिला रही है दूध।" नागार्जुन अपने खास अन्दाज में कहते हैं, यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है।"

"इसी तरह 'कटहल' भी कविता का कोई विषय है? लेकिन नागार्जुन हैं कि पके हुए कटहल को देखकर पिहक उठते हैं: "अह्, क्या खूब पका है यह कटहल / अह, कितना बड़ा है यह कटहल / अह, कैसा मह मह करता है यह कटहल / अह, किस तरह पड़ा है चारों खाने चित !"

यही कटहल उनकी एक अन्य कविता में अनूठे उपमान के रूप में इस तरह आया है। "दरिद्रता कटहल के छिलके जैसी जीभ से मेरा लहू चाटती आई।" यह 'कटहल के छिलके जैसी जीभ' नागार्जुन की ही बीहड़ कल्पना में आ सकती थी।

नागार्जुन की यही कल्पना रिक्शा खींचने वाले, फटी बिवाइयों वाले, गुट्ठल घट्ठों वाले, कुलिश कठोर खुरदरे पैरों के चित्र भी आंकती है और उसकी पीठ पर फटी बनियाइन के नीचे "क्षार-अम्ल, विगलनकारी, दाहक पसीने का गुण धर्म" भी बतलाती है। मनुष्य के ये वे रूप हैं जो नागार्जुन न होते तो हिन्दी कविता में शायद आ ही न पाते।"[6] अकाल और महामारी, हरिजनों पर अत्याचार जैसी घटनाओं पर नागार्जुन ने तुरन्त लिखा है लेकिन वे मात्र सपाट प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। उनके ये अनुभव कला-विधान में तो अभिव्यक्त हैं ही, अपने युग और परिस्थितियों का महाकाव्यीय विधान रचने वाली उनकी समग्र मानवीय दृष्टि का अविभाज्य हिस्सा हैं! अक्सर बात की जाती है कि महाकाव्य या कोई लम्बी महाकाव्यात्मक कविता न लिखने पर भी क्या नागार्जुन महान कवि हैं! यहाँ यह जानना आवश्यक है कि नये सन्दर्भों में महाकाव्यात्मक अनुभव का लक्षण मात्रा में निहित है या गुण में! निराला और मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं— 'राम की शक्ति पूजा' और 'अंधेरे में' की महाकाव्यात्मकता का आकार उनकी लम्बाई में है या उनमें अभिव्यक्त काव्यानुभव के वैशिष्ट्य में! 'स्नेह निर्झर बह गया है' निराला की छोटी-सी कविता है लेकिन उनमें आजीवन सक्रिय रहे जीवन के 'ठाठ' के 'ढहने' की पीड़ा का महाकाव्यीय अनुभव प्रतिफलित है। नागार्जुन की कविताएं छोटी-छोटी घटनाओं, स्थितियों और मनः-स्थितियों को उनके सम्पूर्ण अन्तर्विरोधी विधान में चित्रण कर, हमारे युग की ठोस वास्त-विकताओं की महाकाव्यीय अनुभूति का विधान प्रस्तावित करती हैं। अतः नागार्जुन हमारे युग के महाकवि हैं।

नगार्जुन संभवतः अकेले ऐसे कवि हैं जो कवि न होने का खतरा उठाकर भी राजनीति को कविता का विषय बनाते हैं। 'आओ रानी हम ढोएंगे पालकी', 'आए दिन बहार के', 'अकाल और उसके बाद', 'मंत्र कविता', 'तीनों बन्दर बापू के', 'तुम चन्दन हम पानी', 'शासन की बन्दूक', 'नया तरीका' आदि बहुत-सी कविताएं वर्तमान राजनैतिक विसंगति और विद्रूपताओं पर लिखी हैं! तत्कालीन धार्मिक प्रतिमानवीयता ने कबीर को कविता के व्यंग्य की तीखी धार दी; उसी तरह वर्तमान राजनीति के प्रपंची और प्रतिमानवीय चरित्र ने नागार्जुन की कविता में व्यंग्य को धार दी है। नामवर सिंह का कहना है "यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिन्दी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ"[7] उनकी एक कविता है 'भुस का पुतला':

फैलाकर टाँग
उठाकर बाहें

अकड़कर खड़ा है भुस-भरा पुतला
कर रहा है निगरानी
× × ×
स्वर्ग था ऊपर, नीचे था पाताल
अपच के मारे बुरा था हाल
दिल-दिमाग भुस के, खद्दर की थी खाल।

खद्दर की खाल में, भूसे भरा दिल-दिमाग लिए देश की प्रजा की रखवाली करते राजनीतिक पहलुओं पर नागार्जुन ठठाकर हँस देते हैं। नागार्जुन में व्यंग्य के साथ यह हँसी बहुत मिलती है, प्रगतिवादी एतराज उठा सकते हैं कि यह हँसना क्यों ! यह भी कोई 'भूमिका' हुई ! लेकिन नागार्जुन हैं कि स्वयं अपने ऊपर हँसते रहते हैं।

यह बनमानुष
यह सत्तर साला उजबक
उमंग में भरकर सिर के बाल
नोचने लग जाता है
अकेले में बजाने लगता है सीटियाँ
आए दिन।

दरअसल कवि 'देश-विदेश, दुनिया-जहान' घूमकर सबका चेहरा देख आया है। उधर 'क्षीर सागर' तक भी टेर लगा आया है कि 'यदि मरा न होगा सुन लेगा भगवान विष्णु सागर शायी'। राजनीति की क्रांतिकारी शक्तियों के 'ओं नारे और नारे और नारे और नारे' के सम्मोहन और 'ओं क्रान्ति क्रान्तिः क्रान्ति : सर्वग्यं क्रान्ति' के मंत्रोच्चार की निरर्थकता को समझ चुका है। वह जनान्दोलनों और राजनीति तथा राजनैतिक पार्टियों में सक्रिय भागीदारी करके जान चुका है। कि 'ओं हमेशा हमेशा हमेशा करेगा राज मेरा पोता'। क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि क्रांतिकारी राजनैतिक शक्तियाँ पार्टीस्तर पर अवसरवाद और सत्तात्मक सुख-सुविधाओं के सैलाब में डूबकर तथा कुछ एक खुशहाल सत्तालोलुपों के अधीन होकर रह गई हैं ! 'साजन की बंदूक' कंकालों की हूक को भांपकर, नभ में विपुल विराट-सी खड़ी हो गई है। दरअसल कवि की हँसी भयावह वास्तविकता को और अधिक भयावह बना डालती है। दूसरी ओर कवि की यह हँसी ही, तमाम असहमतियों, पैने व्यंग्यों तथा जटिल और गहरे यथार्थबोध के बावजूद कविता में घृणा या वितृष्णा का अतिवाद नहीं उभरने देता। अभिजनों का चेहरा भी वे बिना किसी गाली-गलौज के, प्यार से ही उघाड़ते हैं।* तीसरे यह हँसी इस बात का प्रमाण देती है कि तमाम भयावहताओं के बावजूद कवि की आस्था खंडित नहीं हुई है; वह आस्थावान है। 'शासन की बन्दूक' कविता के अन्तिम दोहे में कवि कहता है।

जली ठूंठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक

नागार्जुन केवल समसामयिकता के ही कवि नहीं हैं। उनकी कविता में बहुत दूर तक की परम्परा का उत्तराधिकार व्याप्त है। उन्हें ठेठ देसी कवि कहा जा सकता है। हालांकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों—ब्रेख्त, गोर्की, लुथुन, जानसन, लेनिन, टीटो—पर भी सबसे अधिक कविताएं उन्होंने ही लिखी हैं। यानि नागार्जुन की कविता परम्परा और आधुनिकता,

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्धों को सही बिन्दु पर धारण करती हुई लगती हैं। ठेठ हिन्दुस्तानी के आधुनिक और अन्तर्राष्ट्रीय होने की प्रक्रिया का कथानक नागार्जुन की कविता में मिलता है।

नागार्जुन ने प्रकृति पर बहुत-सी कविताएं लिखी हैं। प्रकृति सम्बन्धी उनकी कविताएं अनूठी है। अपनी सम्पूर्ण एन्द्रिय चेतना से पूरे उल्लास के साथ लिए गये प्राकृतिक सौन्दर्य का चिन्तन उनकी कविताओं में मिलता है। उनकी एक अकेली कविता 'बादल को घिरते देखा है' आधुनिक हिन्दी कविता में इतनी बेजोड़ है कि बाल्मीकि और कालिदास के प्रकृति चित्रण के सामने ही उसे रखा जा सकता है। इस कविता का एक पद ही अनूठेपन का प्रमाण देगा :

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गई उसकी वह अलका
नहीं ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगा जल का,
ढूंढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या
मेघदूत का पता कहीं पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर,
जाने दो वह कवि-कल्पित था,
मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभ-चुम्बी कैलाश शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है,
बादल को फिरते देखा है।

पूर्व कवि के कल्पित और वर्तमान कवि के 'देखे' सौन्दर्य का अन्तर कितना स्पष्ट और स्पृहनीय है। प्रकृति चित्रण की कविताओं में अक्सर कवि की सक्रिय और संलग्न उपस्थिति होती है। जहाँ कवि स्वयं अलग, तटस्थ है, वहाँ उसका प्रकृति-चित्रण बाल्मीकि, कालिदास और विद्यापति की याद दिलाता है। उनकी मैथिली में रचित कविता 'श्याम घटा, सित बीजुरि-रेह' इस तरह की अन्यतम कविता है :

श्याम घटा, सित बीजुरि-रेह
अमृत टघार राहु अवलेह
फांक इजो तक तिमिरिक थार
निबिड़ विपिन अति पातर धार
दारिदउर लछमी जनु हार
लोहक यारि चानिक तार
देखल रहि रहि तड़ित-विलास
जुगुल किशोरक उन्मद रास"[11]

नागार्जुन की प्रकृति सम्बन्धी कविताओं की एक जानदार विशेषता यह है कि वे केवल सौन्दर्य का निरपेक्ष लोक खड़ा नहीं करतीं। उनमें जन-संभावनाओं के संकेत और गहरे मानवीय आशय

यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। 'जान भर रहे हैं जंगल में' कविता में प्रकृति-सौन्दर्य का जहाँ उत्कृष्ट चित्रण है वहीं गंभीर मानवीय आशय भी अभिव्यक्त हुआ है :

गीली भादों
रैन अमावस···
कैसे ये नीलम उजास के
अच्छत छींट रहे जंगल में
कितना अद्‌भुत योगदान है
इनका भी वर्षा मंगल में
लगता है ये ही जीतेंगे
शक्ति-प्रदर्शन के दंगल में
लाख-लाख हैं, सौ हजार हैं
कौन गिनेगा, बेशुमार हैं
मिल-जुलकर दिप-दिप करते हैं
कौन कहेगा, जल मरते हैं···
जान भर रहे हैं जगल में
जुगनू हैं ये स्वयं प्रकाशी
पल-पल भास्वर पल-पल नाशी
कैसा अद्‌भुत योगदान है
इनका भी वर्षा मंगल में
इनकी विजय सुनिश्चित ही है
तिमिर तीर्थ वाले दंगल में
इन्हें न तुम 'बेचारे' कहना
अजी यही तो ज्योति-कीट हैं
जान भर रहे हैं जंगल में
गीली भादों
रैन अमावस···

गीली भादों में अमावस की रात से भरा जंगल मानो देश है—मृतप्राय। लाखों-लाख जुगनू कवि के नौजवान साथी हैं जो अंधेरे से लड़ने और मृतप्राय देश में जान फूंकने की कोशिश कर रहे हैं ! उनकी संख्या ही उनकी शक्ति है। उनकी लघु ज्योतियाँ 'महामेघ' की तरह महाज्योति बन कर अंधेरे को पीट देंगी और देश में जीवन भर देंगी। पहले नागार्जुन को केवल 'लगता है' लेकिन बाद में उनकी 'विजय सुनिश्चित' बताते हैं। एक कविता है 'सिके हुए दो भुट्टे' :

सिके हुए दो भुट्टे सामने आए
तबीयत खिल गई
ताजा स्वाद मिला दूधिया दानों का
तबीयत खिल गई
दाँतों की मौजूदगी का सुफल मिला
तबीयत खिल गई

दो सिके हुए भुट्टे सामने आने पर होने वाला जन-उल्लास, मानो पूँजीवादी उपभोक्ता-संस्कृति में खाना खाने के बाद खाई जाने वाली 'आइसक्रीम' के विलास के विरोध में खड़ा होकर अपनी सत्ता जताने लगता है ! ये भुट्टे जेल की दीवार के पीछे अखिलेश ने उगाए हैं । वह अपना मन ताश और शतरंज खेलने में न लगाकर अन्न उपजाने में लगाता है । क्रान्तिकारी युवकों को भी कवि की सलाह है :

पसीना-पसीना हो जाते हैं तमण
लगाते-लगाते सम्पूर्ण क्रान्ति के नारे
फूल-फूल जाती हैं गर्दनों की नसें···
काश वे भी जेल के पिछवाड़े क्यारियों में
कुछ न कुछ उपजा के भले जाएं
भले, दूसरे ही उनकी उपज के फल पाएं ।

नागार्जुन के किसान स्वभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे अनाज उगाने को सब चीजों में प्राथमिक मानते हैं । 'अन्न पच्चीसी' कविता का अन्तिम दोहा है :

अन्न ब्रह्म ही ब्रह्म है बाकी ब्रह्म पिशाच
औघड़ मैथिल नागजी अर्जुन यही उवाच

अपने उगाए अन्न में उन्हें अपने खून की बूँदें मुस्काती नजर आती है :

पकी सुनहली फसलों से
अब की यह खलिहान
भर गया

मेरी रग-रग के शोणित की बूँदें इसमें मुस्काती हैं ऐसा नहीं है कि खून की बूँदें हमेशा फलीभूत होती हैं । यह तो 'अबकी' हुआ है, फिर न जाने कब होगा । मनुष्य की सबसे बड़ी कल्पना यदि ईश्वर है तो उसके जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ अन्न है । उसकी कल्पना को भी प्रकृति सम्भव बनाती है और उसके यथार्थ को भी । नागार्जुन इस सत्य को जानते हैं और अपने को उससे जोड़े हुए हैं ।

नागार्जुन की एक बहुत बड़ी विशेषता आदिम संवेदनों को बहुत सहज प्रतिकार स्तर पर जगाना है । इस सम्बन्ध में उनकी प्रसिद्ध कविता 'बहुत दिनों के बाद' देखी जा सकती है । देखना, सुनना, सूँघना, छूना और रस लेना, मानो यह रिश्ता टूट गया था जिसे फिर से हमने पाया है । जैसे मानवीय संवेदनों की दुनिया में कोई भयंकर अकाल पड़ गया हो, जिससे उबरने या उबारने की सक्रियता इस कविता में है । इन आदिम संवेदनों के भोग के स्तर पर मानो जीवन बहुत दिनों तक स्थगित हो जाता है और जब मौका मिलता है तो कवि—मनुष्य—टूट कर उनका भोग करता है :

बहुत दिनों के बाद
अब की मैंने जी-भर भोगे
गन्ध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श सब साथ-साथ इस भू पर
—बहुत दिनों के बाद

नागार्जुन की एक चर्चित कविता है 'अकाल और उसके बाद' । इस कविता में अर्थ के कई-कई आयाम निहित हैं । विश्वनाथ त्रिपाठी ने उनका अच्छा उद्घाटन किया है । आदमी,

पक्षी, पशु, कीड़े—सभी कहाँ और किस तरह से सम्बद्ध हैं—उस मूल तंतु को कवि ने खोजा है। इस कविता में अभिव्यक्त सुख का भाव परिस्थिति सापेक्षता के कारण कितना स्पृहणीय हो गया है :

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आए घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आंगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलायी पाँखें कई दिनों के बाद।

नागार्जुन की कविता में विविध स्थितियों और मनःस्थितियों का चित्रण है। ये स्थितियाँ-मनःस्थितियाँ नई कविता के सन्दर्भ में पर्याप्त अलग, नई, ताजी और वास्तविक किंतु सहज हैं। उनकी कविता में यह विविधता एक सर्जनात्मक पद्धति की तरह अनुस्यूत है, वह विभाजन की सुविधा नहीं है।

नागार्जुन लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य में ये संतुलन कैसे स्थापित करते हैं—इसका भेद इस बात में है कि वे अपनी कविता के विषय, दृश्य या घटना के भीतर, उसमें निहित विभिन्न पहलुओं को देख लेते हैं और उनकी संघटना (स्ट्रक्चर) उनके सामने स्पष्ट हो जाती है। यह संघटना ही सौन्दर्य है। लोकलयों और शब्दों के इस्तेमाल से उनकी कविता का सम्प्रेषण सहज हो जाता है। कोई भी घटना नागार्जुन के लिए क्रिया-समुच्चय और भाव-समुच्चय है। जैसे 'आए दिन बहार के' कविता। इसमें कई क्रियाओं और भावों का संयोग है जिसे एक शरारती व्यंग्य दृष्टि धारण करती है। इस प्रकार व्यंग्य और दृष्टि—दोनों नागार्जुन की लोकप्रियता और कलात्मकता को संतुलन प्रदान करते हैं।

सन्दर्भ

१. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृष्ठ १४१
२. उपरोक्त।
३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४१।
४. विजय बहादुर सिंह, साक्षात्कार ८१-८४ अंक, पृष्ठ २३०।
५. विश्वनाथ त्रिपाठी, आलोचना ८२ अंक, पृष्ठ ७०।
६. उपरोक्त, पृष्ठ ७४।
७. उपरोक्त, पृष्ठ ७०।
८. नामवर सिंह, नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएं, पृष्ठ ५-६।
९. उपरोक्त, पृष्ठ ६।

१०. कुछ उदाहरण :

(१) रमा लो माँग में सिन्दूर छलना···
फिर बेटी, विज्ञापन लेने निकलना···
तुम्हारी चाची को यह गुर कहाँ था मालूम

(२) चम्पई आभा की नारी-सी मध्यवयसी महिला
उबल एम० ए० मिसेज गुप्ता···
नया कर कमल पत्री नेम···
आइसक्रीम खिलाती हैं यानि पेश करती हैं लेकिन
रोककर हाथ
सुनता रहा मैं मिसेज गुप्ता की बात।

इस अभिजन महिला के आभिजात्य के रौब को तो कवि सहज भाव से लेता ही है, जब वह इसी अन्दाज में कवि की कविता के बारे में बात करने लगती है, तब भी वह विचलित नहीं होता। क्योंकि वह इस वर्ग की सीमाओं और जड़ताओं को पहचानता है। महिला की लड़की कैम्ब्रिज के अन्तिम वर्ष में पढ़ती है। उसे कविता का बेहद शौक है :

कविता का बेहद शौक है···
लिख दीजिएगा वही—
पाँखें खुजलायी कौए ने
रोता रहा चूल्हा, चक्की थी उदास
याद तो होगी न?

(३) आप तो 'फ़ोर फ़िगर' मासिक—
वेतन वाले उच्च-अधिकारी ठहरे,
मन ही मन तो हँसोगे ही,
कि भला यह भी कोई
काम हुआ, कि अनाप
शनाप खयालों की
महीन लफ्फाजी ही
करता चले कोई—
यह भी कोई काम हुआ भला !

११. इस कविता का 'नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएं' में नामवरसिंह ने जो अर्थ किया है, वही यहाँ दिया जा रहा है। "श्याम घन, उजली बिजली की रेखा ! पिघलते हुए अमृत (अमृतधार) को राहू अवलेह (मीठी चटनी) बना दे रहा है। अंधकार (तम) के थाल में रोशनी (ज्योति) के फांक (टुकड़े) रखे हैं। घनघोर जंगल में बड़ी पतली-सी धारा (बह रही है)। मानो लछमी ने दरिद्रा (दरिद्रता) के गले में माला (डाल दी हो)। लोहे की चादर पर चाँदी के तार। रह-रह कर होने वाले विद्युत-विलास को देखा। दो विद्युत रेखा काले आसमान में मानो युगलकिशोर की तरह रास रच रहे हों।

कहानीकार कमलेश्वर और युगीन चेतना

□ रतनलाल शर्मा

कमलेश्वर ने अपनी कहानियों में तीव्र गति से बदलते हुए युग-जीवन की चेतना को अंकित किया है, जहाँ कथ्य और शिल्प के विविध रूप और रंग हैं। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने अपनी कहानियों में अपने आप को दोहराया नहीं है। वह नवीन उद्भावनाओं के साथ पाठकों के सामने आते हैं। उनके कहानी-लेखन में निरंतरता, विविधता और रचनात्मक प्रौढ़ता प्रतिलक्षित होती है। वह ऐसे विशिष्ट कहानीकार हैं जिन्होंने हर दशक में श्रेष्ठ कहानियाँ दी हैं और जो संख्या में प्रेमचंद के बाद किसी भी कहानीकार की श्रेष्ठ कहानियों से अधिक हैं। वह नई कहानी के प्रमुख प्रवक्ता और बहुचर्चित कहानीकार रहे, सातवें दशक में अन्य कहानीकारों की भाँति प्रयोगों की ओर उनका झुकाव हुआ और उन्होंने अनेक सशक्त प्रयोग किए भी। आठवें दशक में समांतर कहानी आंदोलन के सूत्रधार, प्रमुख प्रवक्ता और विशिष्ट कहानीकार वे रहे हैं। इस प्रकार वे तीन दशक तक हिंदी कहानी पर छाए रहे और कहानी-चर्चा के मध्य बने रहे हैं।

कमलेश्वर की कहानी विकास-यात्रा के तीन चरण हैं जो क्रमशः छठे, सातवें, आठवें दशक की अवधि के दौरान उनकी यात्रा के पड़ाव भी हैं। पहले चरण में **'राजा निरबंसिया'** (१९५७ ई०) और **'कस्बे का आदमी'** नामक दो कहानी-संग्रहों की कहानियाँ हैं। आगे चलकर इन दोनों संग्रहों की कहानियाँ 'राजा निरबंसिया' (१९६६ ई०) में समाहित हो गईं। दूसरे चरण में इन तीन कहानी-संग्रहों की कहानियाँ हैं—**'खोई हुई दिशाएं'** **'माँस का दरिया'** और **'जिंदा मुर्दे'**। तीसरे चरण में **'बयान'** (१९७२ ई०) कहानी संग्रह की कहानियाँ हैं और अन्य पाँच प्रकाशित कहानियाँ हैं जो अभी तक किसी संग्रह में नहीं आई हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं—**'इतने अच्छे दिन'**, **'कितने पाकिस्तान'**, **'आधी दुनिया'**, **'मानसरोवर के हंस'** और **'साँप'**। उन्होंने अभी तक कुल ७७ कहानियाँ लिखी हैं। संदर्भित तीन दशकों में उनका कार्यक्षेत्र बदला जिसके साथ ही परिवेश और अनुभव में भी बदलाव आया। उनके छठे दशक की कहानियाँ मैनपुरी-इलाहाबाद में उनके आवास के समय की हैं। सातवें दशक में उनका कार्य क्षेत्र दिल्ली रहा जहाँ उनके दूसरे चरण की कहानियों का सृजन हुआ। वह १९६७ में 'सारिका' के संपादक होकर बंबई चले गए जहाँ उनकी कहानियों में एक और मोड़ आया और आठवें दशक के लगभग अंत तक तीसरे चरण की कहानियाँ हमारे सामने आईं। इस प्रकार बदलते हुए परिवेश एवं अनुभव के साथ उन्होंने युगीन चेतना को अपनी कहानियों में रूपायित किया है।

कहानीकार ने अपनी कहानी-यात्रा के तीन चरणों की कहानियों के विषय में **'मेरी प्रिय**

कहानियां' (पृ० ७) के आत्मकथ्य में स्पष्ट किया है कि "अनुभव के क्षेत्र की प्रामाणिक पहचान, अनुभव के समय-संगत संदर्भ और अनुभव के अर्थों तक जाने की कोशिश—शायद यही क्रम है मेरी कहानियों का।" सचमुच उनकी कहानियों में यही विकास-क्रम पाया जाता है और वह युगीन चेतना का उद्‌घाटन करते हुए अपनी कहानियों की रचना आठवें दशक तक करते रहे। इसके बाद से वह कहानियों के रचना-कर्म में प्रवृत्त नहीं हैं।

कमलेश्वर ने तीव्र गति से बदलते हुए युग-जीवन के संदर्भों में व्यक्ति और समाज को उद्‌घाटित किया है और इस क्रम में उनकी विशेष दृष्टि यथार्थ परक रही है। यथार्थ के प्रति उनकी विशेष दृष्टि है जिसे उन्होंने सोद्देश्यता ('राजा निरबंसिया' की भूमिका में) कहा है और डा० नामवर सिंह ने उसे सार्थकता (कहानी: नई कहानी, पृ० ३१) नाम दिया है। यही दृष्टि उनकी बहुचर्चित कहानी 'राजा निरबंसिया' से लेकर 'इतने अच्छे दिन' (सारिका, मार्च १९७६) तक की सभी कहानियों में लक्षित होती है। उनकी कहानियों में यह दृष्टि एक ओर आभ्यंतर यथार्थ की परतों को खोलती है तो दूसरी ओर बाह्य यथार्थ की विभिन्न सतहों का उद्‌घाटन बड़े कौशल के साथ करती है और प्रायः इन दोनों का अंतः गुंफन हो जाता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण है **'राजा निरबंसिया'** जिस में दो समानांतर कथाएं चलती हैं।

इस तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने कहा है—"इस प्रकार **'नीली झील'**, **'नागमणी,'** **'तलाश'** और **'आसक्ति'** में मानव मन का यथार्थ प्रधान है, सामाजिक यथार्थ उसका आधार बनता है। इसके विपरीत **'बयान'** और **'राजा निरबंसिया'** में सामाजिक यथार्थ प्रधान है और मानव-मन उसी का प्रतिबिंब है।" (समकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृ० २१७)

सन् १९६० से पहले रचित उनकी सभी कहानियां कस्बे के जीवन की हैं और उनमें एक ओर सामाजिक जीवन की विसंगतियों का चित्रांकन है तो दूसरी ओर आम आदमी के दुःख दर्द को अभिव्यक्त किया गया है। इस दौर में रचित उनकी कहानियों में करुणा की आर्द्रता बराबर बनी रहती है जैसे **'कस्बे का आदमी'** और **'राजा निरबंसिया'** में लक्षित होता है। सातवें दशक की उनकी कहानियां मध्य वित्त वर्ग के जीवन पर केन्द्रित हैं जिनमें महानगर का परिवेश अंकित हुआ है उनमें महानगरीय अभिशप्त जीवन और आधुनिकता की यंत्रिकता के खुले चित्र हैं जहां प्रायः व्यंग्य का स्वर प्रमुख हो गया है जैसे **'खोई हुई दिशाएं'**, **'तालाश'**, **'दिल्ली में एक और मौत'** कहानियां इसी वर्ग में आती हैं। आठवें दशक में उनका झुकाव एक एक बार फिर आम आदमी की ओर हो गया जहां करुणा की आर्द्रता का स्थान व्यंग्य की पैनी धार ने ले लिया तथा व्यक्ति एवं व्यवस्था आमने-सामने तनाव एवं टकराव की मुद्रा में आ कर खड़े हो गए जैसे **'इतने अच्छे दिन'** (सारिका, मार्च १९७६) कहानी में देखा जा सकता है। कहानीकार अधिकांशतः आम आदमी के साथ रहा है जिसके दुःख दर्द आशा-आकांक्षा, विवशता और अभाव, सपने और संघर्ष आदि को उसने युगीन-चेतना के संदर्भों में सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

'राजा निरबंसिया' कमलेश्वर की सबसे पहली श्रेष्ठ कहानी है जिसमें व्यक्ति की आर्थिक जकड़न और विवशता है, जिससे दाम्पत्य संबंधों में दरार पड़ गई। इसमें आधुनिक जीवन की संश्लिष्टता को और अधिक सशक्ता प्रदान करने के लिए कहानीकार ने साथ-साथ एक लोक-कथा का तानाबाना भी बुन दिया है जिससे यथार्थ और अधिक गहरा गया है। इससे शिल्प

में ही निखार नहीं आया है, बल्कि कथ्य भी जीवंत और प्रभावी हो गया है जिससे दो युगों और वर्गों में अंतर स्पष्ट हो गया है। अवश्य ही यह कहानी शिल्प में एक विशेष प्रयोग है, पर इससे कथ्य और अधिक उभर कर हमारे सामने आता है जिसमें से कई अर्थ निकल पड़ते हैं।

यह कहानीकार अपनी कहानी का तानाबाना व्यक्ति और परिवेश के अन्तर्ग्रंथन से निर्मित करता है जिसमें स्थितियाँ बड़ी विकट होती हैं जो व्यक्ति को अपने साथ बहा ले जाती हैं (राजा निरबंसिया)। फिर भी, ऐसा नहीं है कि उनकी कहानियों में व्यक्ति अत्यंत दुर्बल होता है या उसका अपना कोई निर्णय ही नहीं होता। कई बार वह स्थितियों के विरुद्ध तन कर खड़ा हो जाता है और उनसे मोर्चा लेता है। तभी तो श्रम और ईमानदारी के बल पर अपने स्वाभिमान और सम्मान को सुरक्षित रखा जा सकता है (देवा की माँ)। कमलेश्वर के पहले चरण की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं—**'राजा निरबंसिया'**, **'देवा की माँ'** और **'कस्बे का आदमी'**। उनकी इस अवधि की अन्य उल्लेखनीय कहानियाँ हैं—**'नौकरी पेशा'**, **'गरमियों के दिन'**, **'धूल उड़ जाती है'**, **'मुरदों की दुनिया'**।

कहानीकार ने पहले चरण की कहानियों में प्रायः संस्कारी व्यक्ति को ही प्रस्तुत किया है जहाँ व्यक्ति अकेला रह कर भी अपने आसपास से, समाज से जुड़ा हुआ है, सबके बीच में है, उसकी अपनी पहचान है। दूसरे चरण की कहानियों में व्यक्ति दूसरे या दूसरों के साथ रह कर भी अलग है, भीड़ में अकेला है, अनेक लोगों के बीच में भी अजनबी है। यह महानगर के परिवेश का दबाव है। जिसमें बदले हुए युग की चेतना दृष्टव्य है (खोई हुई दिशाएं)। सन् १९६० से पहले कहानीकार का कथानायक अधिकांशतः अतीत, वर्तमान और भविष्य के सामरस्य में जीता है, पर साठोत्तरी युग में वह वर्तमान में रह कर अतीत की स्मृतियों में जीता है। उसके लिए वर्तमान अरुचिकर और अतीत रुचिकर है। उसका वर्तमान महानगर का अजनबीपन है और अतीत कस्बाई निकट संबंधों की गंध से सुवासित है। उसके पास भविष्य है ही नहीं।

इस संदर्भ में उनकी बहुचर्चित कहानी **'खोई हुई दिशाएं'** का अवलोकन किया जाए जिसे कहानीकार ने महानगरीय जीवन में कथित अकेलापन, व्यर्थता, एकरसता तथा संदेह के सूत्रों से बुना है। इसमें कथानायक अपनी पूर्व प्रेमिका (अब विवाहित) से अपरिचय की गंध पाने के बाद अपनी पत्नी के साथ एकाकार हो जाता है। फिर भी उसे अपरिचय का संदेह बना रहता है। यह मानसिकता की स्वाभाविक परिणति नहीं है, बल्कि कृत्रिमता या आरोपित स्थिति झलकती है। कहा जा सकता है कि यह महानगरीय बोध का अतिरंजित पहलू है।

ऐसी ही स्थितियों और अनुभूतियों को लेकर **'खोई हुई दिशाएं'** संग्रह की अन्य कहानियाँ भी लिखी गई हैं जैसे 'साँप', 'प्रेमिका', 'पराया शहर' 'एक अश्लील कहानी'। इनमें महानगरीय जीवन की विविधता है, अनुभूति की उत्कटता है, पर अपरिचय की कृत्रिमता कहीं नहीं है। हाँ, **'साँप'** कहानी अवश्य ही बाहर से लादे हुए भय के कारण, कुछ समय के लिए ही सही, मानसिक विकृति की कहानी बन गई है जिसका सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। **'एक अश्लील कहानी'** अवश्य ही अच्छे स्तर की कहानी है जिसमें कहानीकार ने व्यक्ति और स्थिति के टकराव से जो सृजन किया है, वह बाँध लेता है।

पुरुष नियंत्रित समाज में नारी पीड़ित और उपेक्षित है जो वासना का साधन मात्र है और उसकी संपत्ति भी। वह यह नहीं समझना चाहता कि नारी के पास तन ही नहीं, मन भी है और उसके मन की कुछ अपेक्षाएं हैं जो भौतिक सुख-सुविधाओं से परे हैं। वहाँ पुरुष की दासी

नहीं है, बल्कि उसके अपने अधिकार भी हैं। इस विसंगति को रूपायित करने के लिए पर पुरुष उसे नग्न देखना चाहता है और उस पर अधिकार करना चाहता है, किन्तु उसका पति अपने अधिकार का लाभ उठाकर उसे नग्न कर देता है। तब पर पुरुष की मानसिकता बदल जाती है (एक अश्लील कहानी)।

कमलेश्वर ने लेखन-धर्म के निर्वाह के सम्बन्ध में **'मांस का दरिया'** कहानी संग्रह के आत्म कथ्य में लिखा है—मृत्यु मेरे व्यक्ति की नियति है, विचारों की नहीं (पृ० ५), क्योंकि लेखक मृत्यु का नहीं जीवन का साक्षी होता है (पृ० ६)। इससे जीवन के प्रति कहानीकार की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। साथ ही यह आभास भी मिल जाता है कि इस संग्रह की कहानियों में मृत्यु की छाया मंडरा रही है। इसे इन कहानियों में प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है—'युद्ध', 'दिल्ली में एक और मौत', 'बदनाम बस्ती', 'नीली झील', 'कुछ नहीं कोई नहीं', 'जो लिखा नहीं जाता'। इतना ही नहीं यह छाया 'मांस का दरिया' कहानी में भी बनी रहती है, क्योंकि उसकी कथा-नायिका जुगनू नित्यप्रति एक मृत्यु को प्राप्त होती है।

इस प्रकार इन कहानियों में अवसाद, भय, आतंक, असुरक्षा, ऊब, अकेलापन आदि महा-नगरीय जीवनगत परिणामों की छाया मिलती है। फिर भी, कहानीकार मृत्यु के दर्शन को ही लेकर चलता है। वैसे कमलेश्वर यह मानकर चलते हैं कि व्यक्ति-जीवन की मूल समस्या आर्थिक है जिसकी धुरी पर समस्त जीवन-चक्र घूमता है, पर महानगरीय जीवन की अन्य बुराइयाँ भी हैं। इसीलिए उन्होंने ऐसी कहानियों की रचना भी की है जिनमें आर्थिक जकड़न नहीं है, पर टूटते हुए परिवार और अकेलेपन की विवशता की स्थिति विद्यमान है जैसे 'तलाश' कहानी में। यहाँ बेटी अपनी माँ का ध्यान रखती है और माँ को मि० चन्द्रा के साथ सम्बन्धों की छूट देकर स्वयं हॉस्टल में चली जाती है। यह कहानी व्यक्ति के बाहर चलती है, पर भीतर भी खुलती है। इतना ही नहीं, वह वर्तमान की सतहों पर चलकर आगे बढ़ जाती है, पीछे बहुत कम लौटती है।

इसके बाद कहानीकार की यात्रा और आगे चली। उसे जीवन की सच्चाइयाँ अत्यधिक उलझी हुई लग रही थीं। तब उसने एक ओर व्यंग्य का माध्यम अपनाया तो दूसरी ओर प्रयोगों की ओर उसका झुकाव हुआ। कहानीकार की स्वीकारोक्ति है कि "अपने समय को समझने में प्राथमिक दृष्टि व्यंग्य की ही हो सकती है।" (**जिंदा मुर्दे**, पृ० क) 'जिन्दा मुर्दे' की कहानियों में यह दृष्टि तीव्रता एवं प्रखरता के साथ मिलती है। कहीं वह भारत पाक युद्ध (१९६५ ई०) के सन्दर्भ में पाक प्रचार और पाक सैनिकों पर व्यंग्य करते हैं (जिन्दा मुर्दे) तो कहीं सरकारी व्यवस्था और भारत में अंग्रेजों के बुतों से सम्बन्धित मानसिकता को उघाड़ते हैं (जार्ज पंचम की नाक)। वह कहीं साधू का वास्तविक चेहरा दिखाते हैं कि वे अफीम और गांजा के साथ-साथ लड़कियाँ बेचने का धन्धा करते हैं (ब्रांच लाइन का सफर) और तथाकथित साहित्यकार नेताओं पर भी छींटाकशी करते हैं (स्मारक)। हमारे यहाँ राष्ट्र, सेवा और लोकतन्त्र के नाम पर क्या कुछ नहीं हो सकता। इसमें हड़ताल से निबटने के उपायों, रेफ्रीजरेटर और नेल पालिश बनाकर अन्न की समस्याओं को हल करने, ठेकेदारी से अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने और रिश्वत के लेन-देन आदि को खोला गया है जहाँ व्यंग्य की धार बहुत पैनी है (अपने अजनबी देश में)।

इन कहानियों में कहानीकार ने फेंटेसी का उपयोग किया है जिससे उसकी प्रयोगशीलता का पता चलता है। यह प्रवृत्ति इन कहानियों में देखी जा सकती है—'जार्ज पंचम की नाक',

'जिन्दा मुर्दे', 'अपने देश के लोग', 'आत्मा अमर है'। वैसे ये कहानियाँ कमलेश्वर के लिए नए ढंग की हैं, पर इनमें उनकी कहानियों की उत्कृष्टता नहीं है। उसे कहानीकार ने स्वयं स्वीकार किया है—मुझे मालूम है कि इसमें संकलित कुछ कहानियाँ बचकानी हैं, कहानियों के रूप में भी वे समर्थ नहीं है। (जिन्दा मुर्दे, भूमिका पृ० क)।

पूर्वोक्ति कहानियों में फेंटेसी पूरी कहानी में है। उन्होंने अपनी अगली कहानियों में भी फेंटेसी का उपयोग किया है। आंशिक फेंटेसी इन कहानियों में मिलती है—'लाश', 'जोखिम', 'अपना एकांत', उस रात वह मुझे बीच कैंडी पर मिली थी। उन्होंने फेंटेसी का एक और प्रयोग भी किया है जहाँ फेंटेसी के कुछ रंग ही मिलते हैं। उदाहरण के रूप में इन कहानियों को देखा जाए—**'मानसरोवर के हंस', 'इतने अच्छे दिन,**।

'जिन्दा मुर्दे' की कहानियों के बाद कमलेश्वर की कहानियों में एक नया मोड़ आया जो उनकी विकास-यात्रा का तीसरा चरण है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया उनकी कहानियों में १९७० के पहले ही आरंभ हो गई थी जो आठवें दशक में भी चालू रही। कहानीकार ने स्वयं लिखा हैं—"सन् ७० तक आते-आते यथार्थवाद से अनुभववाद और अभिव्यंजनावाद, अनुभूतिवाद से नवयथार्थवाद तक और निष्क्रयतावाद से निकल कर अब रचनात्मक आगतवाद की ओर मुड़ने वाली यह दिलचस्प कथा-यात्रा अब एक और नए धरातल पर सक्रिय है।" (बयान, पृ० १९)।

इस तीसरे चरण की कहानियों में मुख्य बात आम आदमी को केन्द्र में आसीन करना है जिसके लिए सहानुभूति के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं है, अपितु कहानीकार ने उसे अपने मूलरूप में प्रस्तुत किया है। इस यथार्थपरक चित्रण में व्यंग्य की चोट मूलतः और सर्वतः उच्च वर्ग एवं व्यवस्था पर की गई है जिसे इन कहानियों में लक्षित किया जा सकता है—'लाश', 'लड़ाई', 'भूखे और नंगे लोग', 'बयान'। इनमें सामाजिक राजनीतिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण विशेषतः प्रभावी है।

कहानीकार ने दलगत राजनीति की चालों को कला-कौशल के साथ उद्घाटित किया है कि किस प्रकार सत्ताधारी दल और विपक्षी दल हथकंडे अपनाते हैं और एक-दूसरे को नीचा दिखाते हैं। इस प्रक्रिया में विशाल जुलूस निकालने और उसे विफल बनाने के लिए उपाय दोनों पक्षों द्वारा किए जाते हैं। जुलूस में एक लाश बिछ गई जो प्रतीक रूप से मुख्यमंत्री / विपक्षी नेता की है जैसा दोनों पक्षों ने घोषित किया है जो उनकी विफलता को प्रकट करती है। इसे आम आदमी की लाश भी कहा जा सकता है जिसे कोई अपनाने के लिए तैयार नहीं है (लाश)। मोर्चे पर शत्रु से लड़ाई लड़ी जा सकती है, क्योंकि शत्रु की पहचान है, किन्तु जब अपने ही देश के नेता लूटपाट में लगे हों तो परिणाम वही होगा जो हो रहा है। कहानीकार ने स्पष्टतः दिखा दिया है कि लूटने वाला व्यक्ति अनेक में से एक है (लड़ाई)।

पूर्वोक्त दोनों कहानियों में ऊंचे लोगों पर व्यंग्य करके आम आदमी की उच्चता को अप्रत्यक्ष ढंग से सिद्ध किया गया है, किन्तु शब्दों या ध्वनि में नहीं है बल्कि अनुभूति के धरातल पर यथार्थ जीवन का चित्रण है और व्यंग्यार्थ पूरी कहानी में समाया हुआ है। दूसरी ओर उन्होंने ऐसी भी कहानियाँ लिखी हैं जिनमें आम आदमी और उच्च वर्ग के पात्र को एक साथ उठाया गया है। इतना ही नहीं, आम आदमी को ऊंचा और उच्च वर्ग के व्यक्ति को नीचा दिखाया गया है जो संगत स्थितियों के संदर्भ में है। घरों में काम करने वाले नौकर-चाकर निर्धन

होते हैं, पर चोर और बेईमान नहीं होते और तथाकथित बड़े लोग दूध के धुले नहीं होते। एक ओर नौकर-चाकर हैं जिन्हें पेट की भूख तो है, पर तन-मन की भूख नहीं। दूसरी ओर श्रीमती सरीन हैं जो सब तरह से सम्पन्न होकर भी तन-मन की भूख से बेचैन हैं। प्रश्न है, वास्तव में भूखे नंगे लोग कौन हैं निर्धन या बड़े लोग? कहानी में उत्तर स्पष्टतः व्यंजित है कि बाहर से सन्तुष्ट और भरे पूरे लगने वाले लोग ही भीतर से भूखे हैं (भूखे नंगे लोग)।

व्यक्ति समाज और व्यवस्था का एक अंग है और वह प्रतिकूल स्थितियों में अपने आस-पास के वातावरण की विवशताओं में फँस जाता है। वह उनसे उबरने के लिए सभी सम्भव उपाय करता है, पर वह जकड़ और सुदृढ़ हो जाती है। जब ऐसा लगे कि एक-एक करके सारे आधार पैरों के नीचे से खिसक रहे हैं, तब कई बार वही होता है जो कहानी की केन्द्रीय घटना बन जाती है (बयान)। यहाँ व्यक्ति मुख्य नहीं है, घटना को तूल नहीं दिया गया है, बल्कि स्थितियों के माध्यम से ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। आम आदमी के दर्द को कहानीकार ने विशेष कौशल से उभारा है। अवश्य ही 'बयान' एक सशक्त कहानी है।

बात में से बात निकलकर उससे कहानी बना देना कमलेश्वर की विशेषता है जहाँ वर्तमान और अतीत का एक पूरा चित्र उभरता है। उनकी यह विशेषता भी है कि वह जो कुछ अपने वक्तव्य में कहते हैं, उसे अपनी कहानियों में रचनात्मक धरातल पर निभाते हैं। उन्होंने लिखा है—"मैं हमेशा 'हारे हुओं' के बीच रहने के लिए प्रतिबद्ध हूँ।" (**'माँस का दरिया'** पृ० ६)

उनकी इस मान्यता के संदर्भ में उनकी एक सशक्त कहानी 'मानसरोवर के हंस' को देखा जा सकता है जिसमें हंसों को भोली जनता के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है जो सदा छली जाती है और छलने वाले हैं सत्ताधारी जो हर युग में एक जैसे होते हैं। परतंत्र भारत में जो लोग अंग्रेजों के साथ थे, स्वतंत्रता के बाद वही सत्ता में आ गए। सत्य और न्याय के लिए लड़ने वाले उस समय भी विद्रोही थे, स्वतंत्र भारत में भी हैं।

तीसरे चरण की उनकी अन्य प्रमुख कहानियाँ हैं—'इतने अच्छे दिन', 'कितने पाकिस्तान', 'साँप', 'आधी दुनिया'।

कमलेश्वर हिन्दी कहानी क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद तीनों दशकों में कहानी का सृजन करते रहे हैं। उन्होंने हर दशक में श्रेष्ठ कहानियों की रचना की है। उनकी कहानियों में शिल्प और कथ्य की विविधता, अनुभूति की गहनता, अभिव्यक्ति की सशक्तता है। उनकी कहानियाँ अनुभूति के स्तर पर सृजित हैं, पर वे हमें वैचारिक आधार भी देती हैं, उनकी कलात्मकता प्रभावित करती है और वे पाठक को झकझोर देती हैं। युगीन चेतना की प्रभावी अभिव्यक्ति देने वाले कमलेश्वर अवश्य ही विशिष्ट कहानीकार हैं जो अन्य विशिष्ट कहानीकारों से अलग हैं।

चाकू

□ सुरेन्द्र कुमार पाल

इक्का-दुक्का कोई भी स्टेशन की ओर से आता दिखाई पड़ता, तो उसे लगता, शायद, रतना आ रही है, लेकिन कुत्तों के भौंकने से साफ जाहिर हो जाता है कि आने वालों में रतना नहीं है। वह जानता है, आदमी भले ही आदमी के अहसानों को भूल जाए लेकिन कुत्ता अगर किसी का टुकड़ा खा ले तो रात के अंधेरे में भी उसे पहचान लेता है।···यूँ फुटपाथ के कुत्ते अच्छी तरह जानते हैं कि बिना टिकट स्टेशन के भीतर प्रवेश करने की सख्त मनाही है। लेकिन रतना कहीं दिखाई पड़ जाए स्टेशन के बरामदे में उन्हें, बेतहाशा भाग जायेंगे रतना के पास। तब दुनिया का कोई भी कानून उन्हें नहीं रोक सकता। भले ही स्टेशन के कर्मचारियों से डंडे पड़ने का भय क्यों न हो, रतना की उपस्थिति में उन्हें सुरक्षा की पूरी गारण्टी मिल जाती है। यही सुरक्षा की गारण्टी, यही लगाव है, जो रिश्तों को जोड़ता है, फिर चाहे वह रिश्ता आदमी-आदमी का हो, या आदमी जानवरों के बीच का!

कुत्ते अभी भी स्टेशन की ओर ताक रहे हैं। लगता है उनकी चिन्ता का कारण भी शायद यही हो कि रतना लौटकर क्यों नहीं आई!···क्यों नहीं आई है रतना?···कहाँ चली गई है आज वह?···आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह दस बजे से पहले लौटकर न आई हो! जैसे दफ्तर जाने वालियाँ वक्त पर लौट आती हैं, वह भी ठीक वक्त पर फुटपाथ के उस कोने पर हाजिर हो जाती, जिसे उसने पुराने टाट का पर्दा लगाकर घर का रूप दे रखा है! उसका इन्तजार सिर्फ कुत्तों को ही नहीं, फुटपाथ में बसने वाले नंगे, अधनंगे बच्चों को भी रहा करता है, जिनके लिए उसकी झोली में चूरन की मीठी-मीठी गोलियाँ, अमचूर के टुकड़े और इमली की फलियाँ रहा करती हैं।···

वह देखता है, रतना का बेचैनी से इंतजार करने वाले बच्चे मायूस होकर नींद की बाहों में सिमट गए हैं। लेकिन वह क्या करे? अगर वह भी बच्चा होता सारी चिन्ताओं को ओढ़कर चुपचाप सो गया होता,···लेकिन वह सो नहीं पाएगा उसकी चिन्ता कुत्तों की तरह मूक भी नहीं कि मन को वश में रखकर एक स्थान पर बैठ सके। उसकी शंकाएँ तो मनगढ़न्त कथाओं के पात्र बनकर उसके मन-मस्तिष्क को डराती चली जा रही हैं और वह शंकाओं से भयभीत होकर बेचैनी अनुभव करने लगा है।···और बेचैनी की छटपटाहट उसे स्टेशन के बरामदे तक पहुँचा देती है।

सोचता है, कहीं कालिया मिल जाता, उससे पूछताछ करता। वह जानता है, स्टेशन में घटने वाली सारी घटनाओं की जानकारी सिर्फ कालिया ही उसे दे सकता है। वह स्टेशन के

बड़े फाटक के प्लेटफार्म के भीतर झाँककर देखता है, क्योंकि प्लेटफार्म में प्रवेश करने के अपराध में वह कई बार पकड़ा जा चुका है···लेकिन कहीं भी कालिया का कोई पता नहीं है। मेनगेट के पास वाले बेंच पर तीन चार पुलिस के सिपाही रायफल लेकर बैठे हैं। सभी अपरिचित और अनजान!···स्टेशन, सारे का सारा, चहल-पहल से शून्य पड़ा है, सिर्फ सामने वाली टी-स्टाल का नौकर चाय की बड़ी केतली माँज रहा है और टी स्टाल का मालिक दिन भर की कमाई का हिसाब लगाने में मशगूल है। उससे रतना के बारे में पूछने से कोई फायदा नहीं! स्टेशन में आने वाले गरीब भिखारियों को कुत्तों की तरह झिड़क देता है। कभी किसी को अपने स्टाल के सामने खड़ा नहीं होने देता।···

गलती तो उसी की है कि वह अब तक निठल्ला बैठा रतना का इंतजार करता रहा। कालिये के रहते स्टेशन पहुँच जाता, कुछ तो पता लग ही जाता रतना के बारे में। भले ही कालिया सीधे मुँह बात नहीं करता, भले ही कालिया से उसकी पैदायशी नफरत है, लेकिन आदमी मजबूर हो, तो क्या करे?···गधे को भी बाप बनाना पड़ता है,···आज तो जैसे उसकी तकदीर ही उससे नाराज हो!···कालिया भी स्टेशन से नदारत है। बुरा समय हो तो कोई साथ देने वाला नहीं मिलता। उसे अपने आप पर क्रोध आने लगा है कि रतना अगर किसी टी० सी० की पकड़ में आ गई हो, और वह उसे लॉक अप ले जा चुका हो, तो वह अब क्या कर सकता है? उसके पास इतना पैसा कहाँ कि रेलवे पुलिस थाने जाए और रतना को छुड़ाकर लाए! कितना मजबूर है वह?

आदमी अपनी असमर्थता को टालने के लिए मजबूरी के पहाड़ की ऊँचाई नहीं देखता। वह किसी सहज और आसान पगडंडी से उतर कर ऊँचाई की परेशानी से मुक्त हो जाना चाहता है। वह भी अपने मन को मना लेता है कि रेलवे के सारे टी० सी० रतना को बचपन से ही पहचानते हैं। जब वह छोटी थी, मुँह में पाउडर-लाली पोतकर लोकल के डिब्बों में नाचा करती थी। कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि किसी रेलवे कर्मचारी ने उसे रोका-टोका हो, उसके बेढंगे नाच के लिए आकर्षण न सही, पर उसकी गरीबी पर जरूर दया आती होगी उन्हें। क्या वे आज उसी गरीब रतना को पकड़ कर लॉक-अप में ठूँसने का प्रयास करेंगे? रतना जैसी भिखारिन को पकड़कर उन्हें कौन-सा सार्टीफिकेट मिल जाएगा? कौन-सा पुण्य कमा लेंगे टी० सी० लोग रतना को लॉक अप में बन्द करने से?···वे क्या नहीं जानते कि दूसरों की भीख पर जीने वाली लड़की रेल का टिकट कैसे खरीद सकती है?···मनमें उत्पन्न शंका का उबाल धीरे-धीरे ठण्डा पड़ता गया, तो वह कालिया को ढूँढने की जरूरत न समझ कर स्टेशन के बरामदे से बाहर निकल जाता है। रतना के इंतजार में बीतता समय जाने कहाँ गायब हो जाता रहा।

चाय पीने को जी है उसका लेकिन टी-स्टाल बन्द हो चुका है। पास-पड़ोस में और कोई दूसरा होटल भी नहीं, जहाँ रात को दो बजे चाय मिले! सोचता है रहमनिया होटल तक हो आए, कुछ खाने को भी मिल जाएगा। पेट बिना रोटियों के हवा निकली गेंद की तरह पिचका हुआ है···वह जांघिए की जेब से चिल्लर बाहर निकाल कर गिनने लगता है। दो रुपये, दस पैसे। सारे दिन की कमाई। दोपहर को माहिम के भटियार खाने की कतार में बैठ गया था लेकिन जब तक उसका नम्बर आता, सखावत करने वाले लोग दरगाह से जा चुके थे। आठ आने के चने खरीद कर पेट का गड़ा भरना पड़ा। कितने मिलते हैं आठ आने के चने?—सिर्फ मुट्ठी भर! मुट्ठी भर चनों से क्या पेट भर सकता है? ··सोचा था, रतना जल्दी लौट

आएगी, दोनों रहमनिया होटल में जाकर खाना खा लेंगे, लेकिन वह भी नहीं लौटी! वह क्या रतना के बिना रहमनिया होटल में बैठकर खाना खाएगा?…कैसे उतरेंगी रोटियाँ उसके गले में?…

वह चिल्लर वापस अपनी जेब में रख देता है। सोचने लगता है कि वह भी कितना स्वार्थी है कि रतना के बिना ही अपना पेट भरने की सोच रहा है? क्या उसका पेट रतना के पेट से बढ़कर है?…न जाने किस हाल में होगी रतना? सारे दिन लोकल का सफर करना पड़ता है उसको। लोकल का सफर क्या सुरक्षित और सुविधाजनक कहा जा सकता है? कैसे लोग ट्रेन के डिब्बों में लटक कर सफर किया करते हैं?…कैसे लोग दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते हैं? उसने कई बार देखी है रेल के चक्कों से कटे लोगों की लाशें। क्या रतना के साथ भी कोई दुर्घटना घट सकती है?… इस विचार से ही उसका शरीर सिहर उठता है वह चाहकर भी पास वाले पुलिस स्टेशन तक नहीं पहुँच पाता। उसे लगता है, अगर कहीं वहाँ रतना की लाश पड़ी हो तो वह उस दर्दनाक दृश्य को देखने का साहस कैसे जुटा पाएगा?…

लेकिन रतना के साथ ऐसी कोई प्राणलेवा घटना नहीं घट सकती। वह जानता है, जो लोग रेल के डिब्बों में छलांग लगाते हैं। वे आत्महत्या करते हैं। रतना आत्महत्या क्यों करेगी? उसके पास आत्महत्या के लिए कौन सा ऐसा ठोस कारण है कि आत्महत्या करे? फुट-पाथ की बुढ़िया दादी ने भूख से तड़प-तड़प कर अपनी जान दे दी। फिर भी उसके मन में आत्म-हत्या का सवाल पैदा नहीं हुआ।…भूखों मरने से क्या आत्महत्या करके मर जाना अधिक सहज न था? लेकिन नहीं। जिन्दगी इसलिए नहीं मिली है कि इंसान उसकी डोर अपने हाथों काट डाले! फिर, रतना को तो जिन्दगी से बेहद लगाव है। उसे रोटियाँ मिलें या न मिलें, उसे भूख से कभी कोई शिकायत नहीं रही। वह तो हरेक सुख-दुख को एक ही तरह झेलती रही है। फिर क्यों वह आत्महत्या की बात सोचेगी!…

स्टेशन के बाहर जो चबूतरा है उसके ऊपर नीम का पेड़ संतरी की तरह खड़ा है। इसे वह बचपन से देखता आया है। कितना अकेला है वह। जंगल से दूर शहर के इस एकान्त में अपने दुख-दर्द कैसे झेलता आ रहा है? कौन है उसका साथी इस शहर में। फिर भी उसमें जीने का कितना बड़ा साहस है? सोचता है इतने बड़े शहर में सबसे अलग-थलग वह भी क्या एक पेड़ नहीं है? कौन है उसके दुख-दर्द का साथी?…फिर भी रतना के लिए उसने कभी दुख को दुख नहीं समझा। वही तो उसे संकट में हँसते-हँसते जीने का ढाढ़स बँधाती रही है। अगर सचमुच रतना उससे बिछुड़ गई, तो क्या वह अपने दुखों को अकेले झेलने में समर्थ हो पाएगा?…जी पाएगा, नीम के पेड़ की तरह?

…रतना के बिछुड़ने की कल्पना से ही उसका मन बेचैन हो उठता है। वह आत्महत्या नहीं कर सकती। तब, कहाँ चली गई है वह तनहा छोड़कर? उसे क्या मालूम नहीं कि उसकी अनुपस्थिति कितनी असह्य बन जाती है? फिर ऐसा कठोर मजाक क्यों किया है उसने? क्या वह जान बूझकर नहीं लौटी है?…क्या उसे सचमुच उसके साथ दुख में दिन गुजारना स्वीकार नहीं?…दूर आकाश में एक तारा टूटा है। उसका दुखी मन और दुखी हो जाता है।

वह चाहता है, फकीर चाचा के पास जाकर शिकायत करे। उनसे कहे कि वे रतना को समझा दें कि एक लड़की का इस तरह रात को घर लौटना, लोगों की निगाह में बदचलनी होता है पर उसे रतना के चरित्र से कोई शिकायत नहीं। क्यों वह रतना पर झूठा आरोप लगाए?…

फिर भी उसे लगता है। लाखों लोगों के रहते बियाबान लगते भीषण शहर में एक अकेली, जवान लड़की का फायदा उठाने वाले लोगों की कमी नहीं'' जब फुटपाथ के भुक्खड़ तक किसी हसीना को देखकर थूक निगलने लगते हैं, और कहीं लावारिश जान पड़ी तो आवारा कुत्तों की तरह उसके पीछे लग जाते हैं, तब जिनकी जेबें भरी होती हैं, वो क्या लड़की की मजबूरी पर तरस खाकर उसे छोड़ देंगे?

उसकी नजर नुक्कड़ की दुकान पर जा लगी है। देखा, दुकान के आगे पड़ी बेंच पर हवलदार बैठा है। उसे याद आया है, जब किसी की कोई चीज गुम जाती है, या किसी दुकान में डाका पड़ता है, तो लोग पुलिस में रिपोर्ट करते हैं। वह किस तरह पुलिस हवलदार के पास जाकर कहे कि उसकी बहिन सुबह की गई, अभी तक नहीं लौटी? क्या पुलिस का हवलदार उसकी परेशानी को अनुभव करके, मदद के लिए तैयार हो जाएगा?'''वह अच्छी तरह जानता है, यह वही पुलिस हवलदार है, जो सर्दियों की रातों में जब वह स्टेशन के बरामदे में सिकुड़कर सोया होता था, उसके फटे जांघिए में अपना डंडा टिकाकर कहा करता'''अरे, ओ फुठ्पाली की औलाद, भागता है यहाँ से कि कर दूं अंदर।'''वह अच्छी तरह जानता है पुलिस हवलदार उसकी मदद नहीं करेगा। फिर भी मन नहीं माना तो वह नुक्कड़ की ओर बढ़ जाता है। यह मान-कर कि जब इतने बड़े शहर की हिफाजत के लिए सरकार ने पुलिस तैयार कर रखी है, तो वह क्या शहर में रहने वाला आदमी नही?'''

वह, साहस बटोरकर, पुलिस हवलदार के सामने खड़ा हो जाता है, सोचता है। आज तक वह दुनिया में सबसे डरता आया है सबसे दबकर रहा है। लेकिन इस डरने-दबने से फायदा क्या हुआ उसे? कभी तो उसे भी साहस से काम लेना चाहिए! जिन्दगी भर अगर वह हिम्मत हारकर ही बैठा रहा, तो उसके दुखों का अन्त कैसे होगा?—फिर पुलिस तो दीन-दुखियों की मदद के लिए होती है।'''बेंच पर बैठे हवलदार को अभी तक उसके खड़े होने का अहसास नहीं हुआ। वह हर चीज से बेखबर ऊंघ रहा है? अपनी उपस्थिति का संकेत देने के लिए, उसने खांसी का सहारा लिया है। उसके खांसते ही, हवलदार अचकचा कर खड़ा हो जाता है। जैसे कि वह किसी इन्सपेक्टर द्वारा अपनी ड्यूटी पर सोता हुआ पकड़ लिया गया हो!''' फिर, उसे सामने पाकर तुरत गुस्सा आ जाता है उसे कि यह फुटपाथ का पिद्दी यहाँ क्यों आया है? नाहक उसकी नींद हराम कर दी? झल्लाकर पूछता है।'''क्यों बे, इतनी रात को क्या कर रहा है इस गली में?'''

"साब, आपसे मदद माँगने आया हूँ'''"

"कैसी मदद?—कहीं चोरी करने का इरादा है क्या?'''"

"नहीं, साब, मेरी बहिन गुम गई है।'''"

"मैं क्या करूँ तेरी बहिन को?'''गई होगी किसी यार-वार के साथ?'''हरामी ने नाहक नींद से जगा दिया।'''भाग जा यहाँ से'''नहीं तो सीधे लॉक अप के अन्दर कर दूँगा।'''"

वह मार खाए कमजोर बच्चे की तरह वापस चला आया है, लेकिन हवलदार ने पीछे से बिल्कुल फिल्मी अन्दाज में एक ढेला फेंक दिया है—फुटपाथ की लड़की में जवानी आए, तो शहर के लौंडे दिवाने क्यों नहीं हों'''

उसे लगता है जैसे कोई विषबुझा तीर उसके कलेजे पर आ लगा हो।'''आज से पहले उसने कभी नहीं सोचा था कि रतना जवान हो गई है।—क्या रतना सचमुच इतनी

जवान हो गई है कि रात बाहर गुजारने को मजबूर हो गई हो ?···वह क्या इतनी बेहया हो सकती है कि भाई के रहते भी अपनी इज्जत की परवाह न करे ?···वह स्टेशन वाला कालिया क्या इसीलिए उससे छेड़खानी किया करता था कि वह जवान हो गई है ?···उसने कल ही कालिये को उसका जूड़ा खींचते हुए देखा था···लेकिन तब उसके दिमाग में यह बात आई ही नहीं कि रतना जवान हो गई है,···आज तो रतना के साथ कालिया भी स्टेशन से गायब है। क्या रतना और कालिया के बीच कोई खेल चला करता है ?···कितना मूर्ख है वह कि उसने रतना को आज के लौंडों की बेवफाई के बारे में कभी नहीं समझाया। वह क्या कालिया को नहीं जानता ?···एक नम्बर का लालची आदमी है,·· उसे याद आता है, जब वह छोटा था, तो एक अंधे भिखारी की चादर से कुछ सिक्के चुरा लिए थे उसने।·· कालिया की नजर पड़ी तो बाज की तरह झपट पड़ा···"क्यों बे, हरामी की औलाद, अंधे की चोरी करते शर्म नहीं आती तुझे ?···"

वह तब शर्म से पानी-पानी हो गया था। उसे लगा जैसे कोई बहुत बड़ा पाप किया हो उसने। लेकिन पुण्य का पहरेदार वह कालिया उसके हाथ से सिक्के छीनकर खुद टी-स्टॉल पर चाय पीने जा बैठा था। गुस्सा तो इतना आया था उस रोज कि पत्थर से उसका सिर फोड़ डाले। लेकिन कमजोर का गुस्सा छिदहा टायर जैसा होता है। हवा भरने पर एक क्षण के लिए फूला कि फिस्स—सारी हवा बाहर निकल आई।···तब से उसे कालिया से सख्त नफरत है···यह उसकी गलती है कि उसने रतना को कलिया से हँसी-मजाक करने की छूट दे रखी है। सब कुछ जानते हुए भी रतना के दिल को न दुखाने की खातिर वह जड़ बैठा रहा है। क्या उसको अपनी बहिन को बुराई के रास्ते से हटाने का हक नहीं ? क्या वह कालिया की बदनीयती के बारे में उसे आगाह नहीं कर सकता था ? आखिर ऐसी क्या मजबूरी है ?·· यही न कि रतना उसके लिए भीख माँगकर लाया करती है ?···अब तो खैर, जो-कुछ होना था, हो चुका ? अब रतना को समझाने से भी कोई फायदा नहीं ! अब तो सिर्फ एक ही उपाय बाकी रह गया है कि कालिया को उसके किए की सजा दी जाए। ऐसी सजा कि कालिया की रूह काँप उठे।···क्रोध के आवेश में उसने अपनी दोनों मुट्ठियाँ भींच लीं।···

क्रोध की बौखलाहट को झेलता वह बिजली के खंभे के सहारे खड़ा हो जाता है। बिजली के लट्टू पर पतिंगे मंडरा रहे हैं। वह देख रहा है गौर से कि पतिंगे कैसे प्रकाश के विरोध में बगावत करने को उतारू हैं ?···कैसे वे लट्टू के गर्म काँच से टकराकर प्रकाश को बुझाने के प्रयास में जुटे हुए हैं ?···वह सोचने लगता है, जब छोटा-सा कीड़ा भी अपनी जान की परवाह किए बिना बगावत के लिए आमादा हो सकता है, तो वह क्या एक कीड़े से भी गया बीता है ? अचानक उसके भीतर का जोश सागर की लहरों की तरह उसके सारे शरीर को आलोड़ित करने लगा है और उसी गर्मजोशी में तेज चलता, वह फिर वापस अपने फुटपाथ वाले ठिकाने पर पहुँच जाता है। जी में आता है कि फुटपाथ पर सोये लोगों को जगाकर कहे कि···उठो, हम भी लाल बावटा लेकर अन्याय के विरोध में नारे लगाएंगे···हमको भी अब किसी भी जुल्म का मुकाबला करने के लिए तैयार होना चाहिए ?···लेकिन तभी ध्यान आता है कि वहाँ किसे पड़ी है कि दूसरों पर हुए जुल्मों की खातिर अपनी जान को जोखिम में डाले ?···दुनिया में लोगों पर रात-दिन जुल्म ढाए जाते हैं···कितने लोग हैं जो उनकी मदद करने के लिए तैयार रहते हैं ?···इस एक क्षण में सारी आबादी उसे स्वार्थ का लबादा ओढ़े सोई हुई लगती है। उसका दुख सिर्फ उसी का दुख है। उसे लगता है, वह एक बहुत बड़ी लड़ाई के मैदान में अकेला खड़ा है। उसके

पास न कोई साथी है, न कोई हथियार !···तभी उसे याद आता है यकायक कि उसके पास भी एक जंग लगा चाकू है। वह फुटपाथ की टूटी हुई दीवार में छिपाये अपने चाकू को ढूँढने लगता है। यहीं कहीं किसी दरार में छुपाकर रखा है उसने—चाकू !

यह वही चाकू है, जिसे रतना किसी कचरे के डिब्बे से उठाकर लाई थी। पिछले चार महीनों से यह चाकू उसके पास है, लेकिन वह किसी सान वाले के पास ले जाकर उसमें धार नहीं लगवा पाया। कभी जेब में पैसे होते भी तो वह किसी होटल में बैठकर सीक कबाब खा लेता।···कितना लापरवाह रहा है वह अपने जीवन के प्रति ? सोचता है क्या पेट भरने के सिवा, उसका और कोई भविष्य नहीं ?···अगर वह एक-एक पैसा बचाकर उस्मान की तरह तेज धार वाला चाकू खरीद लेता, तो शायद, आज वह भी स्टेशन वाले फुटपाथ का दादा कहलाता। जैसे लोग उस्मान से डरा करते हैं, उससे भी डरते !···उसके नाम से लोगों के कलेजे थर्राने लगते ! लेकिन क्या करे वह ? एक तेज धार वाला चाकू पास में न हो तो वह उस्मान कैसे बन सकता है ?

उसे उस्मान के हाथ में थमा रामपुरिया याद आने लगता है, कैसा खुलता था उसका चाकू बटन दबाते ही···खट् से चर्र-चर्र करता हुआ ! धर दे किसी के पेट पर तो अन्दर की आँतें बाहर खींच लाए।···ठीक कहता था उस्मान कि दुनिया में गरीबों का कोई अल्लाह नहीं होता है, मेरे भाई। अपने हाथों में ताकत हो, तो दुनिया सलाम करती है।···कल तक स्टेशन का कालिया भी अपन पर रौब झाड़ा करता था, आज है किसी की हिम्मत···इधर चाकू दिखाया नहीं कि उधर माल हाजिर···

ठीक कहता था, उस्मान। दुनिया झुकती है, झुकाने वाला चाहिए। आज उसके पास भी उस्मान वाला चाकू होता तो, क्या रतना को सारे दिन रेल के डिब्बों में घूमना पड़ता ? क्या वह अपनी बहिन को दूसरों के आगे हाथ फैलाते चुपचाप देखता रहता ? खून पी जाता कालिये का, अगर वह रतना के जिस्म से हाथ लगाता।···लेकिन उसका चाकू ?···हाथ में थमे, जंग लगे चाकू की ओर देखकर उसे रुलाई-सी आने को होती है।···वह अपने चाकू को उस्मान के चाकू जैसा कैसे बना पाएगा ? विचारों की रौ में, टूटी हुई दीवार से एक ईंट निकाल ली है उसने। निश्चय कर लिया है कि ईंट से रगड़-रगड़ कर, वह भी अपने चाकू को धारदार बना लेगा।—

चाकू को ईंट से रगड़ने की आवाज सुनकर पास में लेटे हुए फकीर चाचा जाग उठते है। नींद में खलल पड़ने की वजह से बड़बड़ाने लगते हैं—"क्यों रे, क्या खटर-पटर कर रहा है ?"

"चाचा, आज की रात मुझे फैसला करना है···"

कैसा फैसला ?···बेवकूफ, फैसला करने वाला तो ऊपर बैठा है, वही सबका फैसला करता है।···तू क्या फैसला करेगा ?···चुपचाप चादर ले और सो जा।···"

"जब तक यह चाकू धारदार नहीं बन जाता, तब तक मुझे नींद नहीं आएगी।···आज मैं पागल हो जाऊँगा···"

"क्या हो गया है इस छोकरे को ?" चाचा परेशान हो जाते हैं।···"आखिर, बात क्या है ?···"

"चाचा, मुझे लगता है, आज मैं लावारिस हो गया हूँ। रतना लौट कर नहीं आई है···"

"कहाँ चली गई है, रतना ?…"

यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ। मैंने स्टेशन जाकर देखा, कालिया भी नहीं है…"

"तू क्या समझता है कालिया उड़ाकर ले गया है उसे ?…"

"मैं कालिया को जिन्दा नहीं छोड़ूँगा। हरामजादे ने हमेशा दगाबाजी की है मेरे साथ ?"

"बेटे, जान लेने-देने की बात छोड़।…जा, चुपचाप लेट जा। अगर कालिया ने गुनाह किया है तो उसे सजा मिलेगी ही…" फकीर-बाबा का विश्वास है कि दुनिया में जो कुछ होता है, वह सब अल्लाह मियां की मर्जी से होता है।

फकीर चाचा फिर से चादर ओढ़कर सो जाता है, लेकिन उसका चाकू रगड़ना अभी भी जारी है। उसका निश्चय अडिग हो गया है।…उसे प्रतिशोध लेना है। प्रतिशोध लेने के लिए वह किसी भगवान का इंतजार नहीं करेगा।…न जाने आज उसमें इतनी शक्ति कहाँ से आ गई है कि जब तक उसका चाकू धारदार नहीं बन जाता, तब तक चैन नहीं लेगा।

चाकू को रगड़ते-रगड़ते खस्ताहाल ईंट टुकड़े-टुकड़े हो गई है, लेकिन चाकू की धार में कोई तेजी नजर नहीं आई। उसकी जंग जैसे लोहे के भीतर तक धंस चुकी थी। उसे लगा कि सारी जिन्दगी वह चाकू को रगड़ता ही रहे, तब भी चाकू इतना धारदार नहीं बन पाएगा, जितने से उसे तसल्ली हो सके। जिस चमकती धार को देखते उसे लगे कि हाँ, यह उसके भीतर उबलती प्रतिशोध की आग जितनी ही चमकदार है। लेकिन आदमी गुस्से में परिणाम के बारे में नहीं सोचता। वह तो हथौड़ा लेकर पत्थर तोड़ता चला जाएगा, भले ही पत्थर तोड़ते-तोड़ते उसका हथौड़ा ही क्यों न टूट जाए ?…

तभी सामने की मस्जिद से अजान की आवाज आती है…"अल्लाहो अकबर…"

फकीर चाचा अचकचाते-से उठते हैं और अपनी चादर लपेटकर झोली में रख देते हैं। तब झोली को संभालते हुए कहते हैं, "गुस्से से कोई मसला हल नहीं होगा, बेटे।…बैल गुस्से में आकर दीवार पर सींग मारेगा, तो उसके ही सींग टूटेंगे।…मस्जिद तक जा रहा हूँ…नमाज पढ़कर लौटूंगा।…"

अंधेरा धीरे-धीरे सिमटता चला जा रहा है। नीम के पेड़ पर चिड़ियों की चहचहाहट शुरू हो गई है। स्टेशन की वीरानी में फिर से चहल-पहल नजर आने लगी है। फिर से लोकल गाड़ियों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ने लगी है। सुनसान पड़े रास्तों में मोटरों का भागना शुरू हो गया है। सारा संसार जाग उठा है थोड़ी ही देर में, सारे शहर में हलचल मच उठेगी।…लेकिन उसके मन की हलचल शांत क्यों नहीं होती ? उसके चाकू पर लगा जंग क्यों नहीं छूटता ?…

"अभी तक तेरा चाकू दुरुस्त नहीं हुआ ?"…फकीर चाचा वापस आ गए हैं।

"आज तो इसे दुरुस्त करके ही चैन लूंगा…"

फकीर चाचा मुस्कुराकर बैठ जाते हैं। उसकी कोशिश अब भी ज्यों-त्यों जारी है। लगता है, जब तक उसे कामयाबी हासिल नहीं हो जाती, तब तक वह चैन से नहीं बैठेगा। लेकिन लोहा आखिर लोहा है। यहाँ तो इंसान को इंसान का अहसास नहीं होता। फकीर चाचा देखते हैं, छोकरा इतना थक चुका है कि अब उसे चाकू पर क्रोध आने लगा है।…

तभी स्टेशन के बरामदे में उसे कालिया नजर आता है। कालिया को देखते ही उसकी रगों का खून दुगने वेग से खौलने लगता है। उसका रोम-रोम सिहर उठता है। मन में आया है

कि उसी जंग लगे चाकू को लेकर ही कालिया पर वार कर दे। लेकिन क्या वह कुंद चाकू कालिया को जमीन पर गिराने में सफल हो जाएगा ?

वह दीवार से एक और ईंट निकालकर चाकू को अपनी पूरी ताकत से ठोंकता है। और उसका चाकू टूटकर दो टुकड़ों में बंट जाता है। टूटे हुए चाकू को जमीन पर पटकने के बाद वह खामोश हो जाता है। कालिया को घूरता है तो पहाड़ जान पड़ता है। अपनी दहशत को बर्दाश्त नहीं कर पाने के कारण, वह तेजी से सड़क की तरफ निकल जाता है। उसमें इतना भी धैर्य नहीं रह जाता कि देखे, रतना भी कालिया के साथ-साथ वापस लौटी है, या नहीं। उसे लग रहा है, जैसे हवा में मुक्के चलाते-चलाते उसके हाथ चूर-चूर हो चुके हैं।

फकीर चाचा को इतना आभास हो जाता कि कालिया की मौजूदगी को बर्दाश्त नहीं कर पाने के कारण ही वह तेजी से भाग खड़ा हुआ है। झोली संभालते हुए, फकीर चाचा भी उठते हैं और उसका पीछा करते हैं। कालिया से ओझल होते ही वह कुछ धीमा पड़ चुका है। फकीर चाचा उसे पकड़ते ही उसके कंधे पर हाथ रखते हुए, कहते हैं—"बेटे, आदमी में धार न हो, तो चाकू में धार लगाने से कोई फायदा नहीं हुआ करता। लोखंडवाले सेठ ने तुझे बुलाया था···तू सीधे उसके ही पास चला जा। सिफारिश कर दी है मैंने। हाथ गाड़ी खींचने का काम जरूर मिल जाएगा।···रतना सयानी हो गई। अब तू उसकी छोड़, खुद की फिकर कर। कुछ काम-धन्धा देख।"

उसने एक विरक्ति के साथ फकीर चाचा की ओर देखा और फिर फुटपाथ को पार करके, सीधे रहमान होटल वाली गली की ओर मुड़ गया।

गद्दार

□ गौरीशंकर राजहंस

हड़बड़ा कर वह बिस्तर से उठ खड़ा हुआ। उसने घड़ी की तरफ नजर डाली। साढ़े आठ बज चुके थे। दस बजे उसे दफ्तर पहुँचना था। जल्दी-जल्दी उसने शेव करना शुरू किया। प्रतिदिन उसे यह रुटीन काम पाँच-दस मिनट के लिए करना ही पड़ता था। जब-जब वह शेव करता, उसे अपने चेहरे में पिताजी की परछाई दिखायी देती। थोड़ा सा मुस्कराने से भी उसके गालों पर उसी तरह गड्ढा पड़ जाता था जैसे उसके पिताजी के पड़ता था। पिताजी को याद मन में आते ही एकाएक उसे याद पड़ गया कि आज पिताजी की बरसी है। पत्नी छाया घर के काम-काजों में व्यस्त थी—उसके दफ्तर के लिए जल्दी-जल्दी लंच तैयार कर रही थी। उसने मन में सोचा कि छाया को तो याद तक नहीं होगा कि आज से पाँच वर्ष पहले इसी दिन उसके पिता-जी का देहांत हुआ था।

हर साल पिताजी की बरसी के पहले वह गाँव में माँ को कुछ रुपये भेज दिया करता था। माँ ब्राह्मणों को खिलाती थी। माँ का विश्वास था कि ब्राह्मणों को जो खिलाया जाता है वह मृत आत्मा के पास सीधे पहुँच जाता है। इस तर्क को वह कभी समझ नहीं पाया था। लेकिन माँ की भावना को ध्यान में रखते हुए वह शहर में भी पिताजी की बरसी के दिन दो-चार ब्राह्मणों को ढूँढ-ढाँढ़ कर हर साल खिला दिया करता था।

पिताजी को आम बहुत पसंद थे। इसलिए बाजार में जो भी भाव आम मिले वह ब्राह्मणों को जरूर खिलाया करता था। इस बार भाग-दौड़ ऐसी रही कि याद ही नहीं रहा कि पिताजी की बरसी कब है और अब तो कुछ हो भी नहीं सकता था।

उसने एक बार किचन की ओर देखा। छाया अभी भी अपने काम में व्यस्त थी। उसने पिताजी की बरसी के बारे में उसे याद दिलाना ठीक नहीं समझा।

पिताजी की याद आते ही अनेक घटनायें याद पड़ जाती थी। सच तो यह था कि उसके और पिताजी के बीच जीवन-पर्यन्त एक तनाव-सा रहा। अपनी आतुरता में कि लड़का पढ़-लिखकर एक बड़ा अफसर बने, पिताजी उसे हमेशा डाँटते-फटकारते रहते थे।

जब तक वह एम० ए० पास नहीं कर गया, हमेशा यही कहा करते थे कि अमुक काम करो और अमुक काम नहीं। पिताजी का इस तरह उसकी जिन्दगी में दखल देना उसे जरा भी अच्छा नहीं लगता था। वह पिताजी के साथ बहस तो नहीं करता था परन्तु अन्दर ही अन्दर घुट कर रह जाता था।

पिताजी के विचारों से उसके विचार कभी मेल नहीं खाते थे। वह बार-बार माँ को

कहा करता था कि जो लोग पिताजी के साथ जेल गए, वे बड़े-बड़े मिनिस्टर हो गए। उनके अनगिनत चेले तो एम० एल० ए० हो गए। परन्तु पिताजी एक घटिया स्कूल के हेड मास्टर बने रहे। कहा करते थे कि बच्चों को पढ़ाने में जो आत्मसुख है, वह किसी अन्य काम में नहीं। यही नहीं, इससे बड़ी समाज की कोई दूसरी सेवा हो भी नहीं सकती है।

ले देकर महीने के अन्त में सौ रुपल्ली मिला करते थे माँ को। घर का खर्च बड़ी मुश्किल से चल पाता था। महीने के अन्त में माँ दुकानदारों से उधार ले-ले कर गुजारा करती थी। जब भी तंगी की शिकायत माँ करती तो पिताजी उबल पड़ते थे। कहते थे शाही खर्च कर रही हो। लड़कों को बिगाड़ रही हो। खर्च पर कंट्रोल नहीं किया तो आगे बहुत बुरे दिन देखने होंगे। माँ कुढ़ कर रह जाती थी। सौ रुपल्ली में आखिर होता ही क्या था?

पिताजी हमेशा कहा करते थे कि जब से उन्होंने होश संभाला, कठिनाई ही देखी। उनके पिताजी उनके होश संभालने से पहले ही गुजर चुके थे। सिर पर दो बहनों की शादी का बोझ था। परिवार में कोई दूसरा नहीं था जो मदद करता।

रहने के लिए एक छोटी-सी झोंपड़ी थी। खपरैल की छप्पर थी, जिसमें बड़े-बड़े सुराख थे और जहाँ से सारा आकाश स्पष्ट दिखायी देता था। उन्हीं दिनों स्वतंत्रता की लड़ाई में अंग्रेजों से लोहा लेने की धुन पिताजी में समा गयी थी। उसी सिलसिले में कई साल जेल में भी रहे। जेल से निकले तो कहीं कोई ठौर नहीं था। कोई मददगार नहीं था। सेठ धनीराम ने एक मिडिल स्कूल खोला था। उसमें शिक्षक की जगह मिली। बाद में हैडमास्टर भी हुए। परन्तु डेढ़ सौ रुपल्ली से अधिक कभी नहीं बढ़ा।

वज्रपात तो तब हो गया जब सेठ जी के अत्याचारों से ऊबकर पिताजी ने एक दिन त्याग-पत्र दे दिया। सेठ जी एक मिनिस्टर के दबाव में आकर उस स्कूल के एक कनिष्ठ शिक्षक को हेडमास्टर बनाना चाहते थे और इसी कारण पिताजी को तरह-तरह की यन्त्रणाएं देते थे। पिताजी को हुक्म हुआ कि सेठ जी के घर पर आकर उनके बच्चों को मुफ्त ट्यूशन पढ़ाया करें। पिताजी खून का घूँट पीकर बर्दाश्त कर गए। फिर सेठानी ने हुक्म चलाया कि बाजार से साग-भाजी भी ले आओ। पिता जी ने एक-दो दिन तक तो टाल-मटोल किया लेकिन जीविका का और कोई सहारा नहीं देखकर इसे भी स्वीकार कर लिया। माँ ने और उसने जब सुना तो कड़ा विरोध किया यह कह कर कि पड़ोसी खिल्ली उड़ायेंगे। लेकिन पिताजी ने किसी की न सुनी। और उपाय ही क्या है कह कर पिताजी माँ और उसकी बात का जवाब देकर बात को खत्म कर देते।

परन्तु एक दिन पानी सिर के ऊपर से गुजर गया। स्कूल की मैनेजिंग कमेटी की बैठक हो रही थी। सेठ जी ने पहले से ही पिताजी को अपमानित करने की ठान ली थी। मीटिंग शुरू होते ही वह पिताजी पर बरस पड़े "····आप जैसे निकम्मे व्यक्ति को कितने दिनों तक हेड-मास्टर बनाये रखा जा सकता है। सारे अभिभावक आपकी अयोग्यता की चर्चा करते रहते हैं। मैं बहुत सालों से बर्दाश्त कर रहा हूँ। पर अब और अधिक बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगा···।"

पिताजी ने बहुत विनम्र होकर विनती की—"सेठ जी, आपको किसी ने गलत कह दिया है। आप मेरे समक्ष अभिभावकों से पूछिए। सब मेरी तारीफ करते हैं। बच्चे इतने अधिक अनुशासनप्रिय हैं। फिर स्कूल का रिजल्ट भी इस इलाके के अन्य स्कूलों से बहुत अधिक अच्छा है। साठ प्रतिशत बच्चे प्रथम श्रेणी में आए हैं।"

"साठ प्रतिशत क्यों, सौ प्रतिशत क्यों नहीं आए?" हम आपको वेतन देते हैं सौ प्रतिशत बच्चों को प्रथम श्रेणी में लाने के लिए। यह आपका सरासर निकम्मापन है। आपके जैसे कौड़ी आदमी को रखने से क्या लाभ···।"

पिताजी ने दीवार की लिखावट समझ ली। उन्होंने और अधिक कुछ कहना उचित नहीं समझा। धीरे-से बोले, "सेठ जी आगे बोलने से क्या लाभ? यह रहा मेरा त्याग-पत्र।"

सेठ जी मानों अवाक्-से रह गए। वह इस परिस्थिति के लिए शायद मन से कतई तैयार नहीं थे। उन्होंने सोचा था कि पाँच-सात साल तक अपमानित होने के बाद ही पं० सुन्दरलाल पाण्डे स्कूल छोड़ेंगे। परन्तु उन्हें एक सुखद आश्चर्य हुआ जब पंडित जी ने अचानक ही त्याग-पत्र दे दिया।

पिताजी ने जब माँ से इस घटना का जिक्र किया था तो माँ अवाक् रह गयी थी। उसे यही चिन्ता थी कि जो सौ रूपल्ली महीने के अंत में मिला करते थे अब उसका भी सहारा नहीं रहा।

उसे याद है उस रात माँ, पिताजी और वह, तीनों बिना अन्न-जल ग्रहण किए जगे रहे और भविष्य के बारे में सोचते रहे। पिताजी बार-बार यही कह रहे थे कि मुझे मुन्ने के भविष्य के बारे में चिन्ता है। अन्यथा मेरा क्या, साधू हो जाऊँगा। दिन-भर में दो रोटी कोई न कोई तो दे ही देगा।

माँ की आँखों में आँसू आ गए थे। पिताजी जीवन से इतने हार गए थे कि साधू हो जाना चाहते थे।

कई दिनों तक उधेड़बुन में रहने के बाद पिताजी ने निश्चय किया कि आस पड़ोस के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाकर गुजारा करेंगे। पिताजी दिन-रात मेहनत करते रहते थे। जब कहीं महीने में सौ-सवा सौ रुपये पैदा हो पाते थे। माँ भी खर्च पर हर तरह की कटौती करती थी। लेकिन महंगाई थी कि रुकने का नाम नहीं लेती थी और इतने में घर का खर्च बड़ी मुश्किल से चल पाता था। पिता जी अक्सर उसे टोका करते कि अमुक काम करो और अमुक नहीं। उसे पिताजी की बातों से बड़ी खीझ होती थी। वह बार-बार मन में सोचा करता था कि पिताजी अव्यावहारिक आदमी हैं। उनके कितने साथी मिनिस्टर हो गए थे। यदि किसी एक से भी कहा होता तो उन्हें कोई छोटा-मोटा ठेका ही मिल सकता था। सारे परिवार का कल्याण हो जाता लेकिन उन्होंने किसी के सामने हाथ पसारना अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझा। ऐसा भी क्या आत्म-सम्मान कि भूखों मरें, लेकिन जबान नहीं खोलें।

"टु हैल विद दिस सेल्फ रेस्पेक्ट।" वह अक्सर मन में कहा करता था।

पिताजी की इच्छा थी कि वह साइंस पढ़े। फिर डाक्टर हो। डाक्टर होकर गाँव के लोगों की सेवा करे। साइंस में उसकी एकदम रुचि नहीं थी और 'सेवा' शब्द से ही उसे चिढ़-सी हो गई थी। वह घुट-घुट कर अपनी जिन्दगी नहीं बिताना चाहता था जैसी कि उसके पिताजी ने बितायी थी। यदि वह डाक्टर बन भी गया और गांव वालों की निःशुल्क चिकित्सा उसने की भी तो उसे क्या मिलेगा? सैकड़ों लोग दवा लेने आयेंगे और पैसों के बदले अपने आशीर्वाद देकर चले जायेंगे। क्या आशीर्वाद से पेट भरता है।

उसने पिताजी के खिलाफ एक तरह से अन्दर ही अन्दर विद्रोह सा कर दिया था। पिताजी की मर्जी के विरुद्ध उसने आर्ट्स पढ़ा। मेधावी छात्र था वह। घर से पैसा लेने की

आवश्यकता नहीं हुई। स्कॉलरशिप के बल पर एम० ए० किया उसने। पिताजी को कोई खास प्रसन्नता नहीं हुई उसके एम० ए० करने पर। क्योंकि वे जानते थे कि सैकड़ों हजारों लड़के एम० ए० पास करने के बावजूद भी नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकते रह जाते हैं पर नौकरी नहीं मिल पाती।

एम० ए० पास करने के बाद उसे अपनी ही योग्यता से 'भारत इंजीनियरिंग लिमिटेड' नामक कंपनी में 'जूनियर एग्जीक्यूटिव' की नौकरी मिल गई थी। कुल मिलाकर शुरुआत तेरह सौ रुपये से हुई थी। अब तो उसे नौकरी करते हुए पाँच साल से ऊपर हो गए थे और तनख्वाह भी सत्रह सौ रुपये पर आ गई थी।

जब उसे नौकरी मिली थी तो उसने पहली तनख्वाह पिताजी के हाथों पर रख दी। पिताजी खुशी से विभोर हो गए थे। सारे परिवार ने उन दिनों को याद किया जब सौ रुपये में परिवार का खर्च कितनी मुसीबत से चल पाता था। उसने पिताजी और माँ से वादा किया था कि शीघ्र ही वह उन्हें दिल्ली ले जाएगा। परन्तु तकदीर को कुछ और ही मंजूर था। वह अभी घर से लौटा ही था कि अचानक माँ का तार मिला कि पिताजी को दिल का दौर पड़ा और वे परलोक सिधार गए। वह सिर पीट कर रह गया। उसकी बड़ी तमन्ना थी कि वह पिताजी को बताता कि अव्यावहारिक होने के कारण उन्हें जीवन में केवल असफलताएँ मिलीं। उनकी तुलना में वह पूर्णरूपेण व्यावहारिक था और अपने बल पर एक इज्जतदार जगह पर स्थापित है। परन्तु लगता यह था कि पिताजी ने शायद हार मान ली थी। क्या उसकी नौकरी की खुशी ने पिताजी की जान ले ली? या अपनी हार का सदमा वे बर्दाश्त नहीं कर पाए। वह निश्चय नहीं कर पा रहा था।

शेव करते-करते वह सारी बातें सोच गया। समय कितनी जल्दी बीता जाता है। पिताजी को मरे हुए पाँच वर्ष हो गए। माँ अभी भी गाँव में रहती है। पूजा-पाठ करती है और घंटों पिताजी की तस्वीर निहारती रहती है।

उसे जब 'भारत इंजीनियरिंग लिमिटेड' में नौकरी मिली तो लगा कि शरीफ लोगों के साथ जिन्दगी जीने का मौका मिलेगा। कहने के लिए उसे अफसर की नौकरी मिल गई, लेकिन उसके कार्माशियल मैनेजर सरदार प्रीतम सिंह ने उससे क्लर्क का काम लेना शुरू किया। प्रीतम सिंह यादव दसवीं जमात पास था। किसी छोटी-मोटी कंपनी में पन्द्रह-बीस साल नौकरी किए हुए था और किसी मिनिस्टर की सिफारिश के आधार पर कार्माशियल मैनेजर बन गया था। जब पहले दिन प्रीतम सिंह ने उसे एक चिट्ठी ड्राफ्ट कर लेने को कहा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि शायद वह उसे क्लर्क समझ रहा है। उसने दबी जबान से कहा, "सर, मैं 'जूनियर एग्जीक्यूटिव' हूँ। क्लर्क नहीं हूँ। शायद आपको गलतफहमी हो गई है।"

उसे अच्छी तरह याद है कि उस दिन सरदार प्रीतम सिंह राक्षस की तरह ठहाका मार कर हँसा था। उसने कहा था, " 'सो ह्वाट'? जूनियर एग्जीक्यूटिव के माने ही क्या होते हैं? भले आदमी, तुम्हें यह पता नहीं कि यहाँ क्लर्क का 'डिगनीफाइड' नाम 'जूनियर एग्जीक्यूटिव' है···?"

उसे काटो तो खून नहीं। एक बार तो उसकी इच्छा हुई कि वह त्यागपत्र लिख कर सरदार के मुँह पर मार दे कि वह यहाँ क्लर्की करने नहीं आया है। लेकिन तभी ध्यान हो आया कि यदि उसने यह नौकरी छोड़ दी तो क्या करेगा। क्या खाएगा? माँ के और पिताजी के

अरमान मिट्टी में मिल जायेंगे।

उसे एकाएक ही याद हो आया कि किस तरह पिताजी कहने के लिए हेडमास्टर थे परन्तु सेठजी के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाया करते थे और सेठानी की साग-भाजी लाते थे। उसे लगा जैसे पिताजी दूर से उसे देखकर मुस्करा रहे हों। अनजाने में उसे ऐसा भी लगा कि सरदार प्रीतम सिंह उससे कह रहा हो कि तुम घर आकर मेरे बच्चों को पढ़ाया करो। मेरी साग-भाजी लाया करो। उसके मुंह में एक अजीब-सी कड़वाहट आ गई। उसने गहरी साँस ली और 'जूनियर एग्जीक्यूटिव' के नाम पर क्लर्की करना शुरू कर दिया।

प्रीतम सिंह पढ़ा-लिखा नहीं था, लेकिन बात-बात में अपनी अयोग्यता छिपाने के लिए उस पर बरस पड़ता था। एक दिन सरदार ने उसे डाँटते हुए कहा, "देखो अजीत पाँडे ढंग से काम करना सीखो। मैं इस बात को कतई बर्दाश्त नहीं कर सकता कि दफ्तर में तुम दूसरे लोगों के साथ गप्पें हाँकते रहो···।"

उसने बहुत नम्र शब्दों में सरदार से कहा, "सर आपको गलतफहमी हो गई है। मैं गप्पें नहीं मारता हूँ, बल्कि ऑफिस की फाइलों को निपटाता रहता हूँ।"

"शटअप, यू इडियट।" कहते सरदार ने उसे अपने कमरे से बाहर निकल जाने को कहा।

वह अपमानित होकर सरदार के कमरे से बाहर निकल आया।

धीरे-धीरे उसने इस बात को महसूस किया किया कि कंपनी में ओवरटाइम बचाने के लिए जूनियर एग्जीक्यूटिव बहाल किए जाते हैं। उन्हें क्लर्कों की अपेक्षा अधिक काम करना पड़ता है। फिर क्लर्कों की तो यूनियन भी है। वे मैनेजरों पर दबाव डालकर अपनी तनख्वाह से दो तीन गुने अधिक ओवरटाइम ले जाते हैं। परन्तु जूनियर एग्जीक्यूटिव बेचारे कोल्हू के बैल की तरह सुबह से देर रात तक पिसते रहते हैं। यदि किसी ने गलती से कभी जबान खोली तो एक महीने का नोटिस या एक महीने की तनख्वाह देकर उसकी छुट्टी कर दी जाती है। सारे जूनियर एग्जीक्यूटिव नौकरी बचाने के डर से दिन-रात अपमानित होते रहते हैं। उनकी हालत यह है कि अधीनस्थ कर्मचारी उनकी बात नहीं मानते, क्योंकि वे उनसे अधिक तनख्वाह ले जाते हैं और ऊपर से मैनेजर दिन-रात उन्हें डाँट पिलाता रहता है। उन्हें अयोग्य और निकम्मा कहकर नौकरी से निकालने की धमकी भी देता है।

एक दिन अजीत पाँडे ने महसूस किया कि कंपनी के हैड आफिस में कुल मिलाकर सौ से अधिक जूनियर एग्जीक्यूटिव हैं। कई सालों तक उनका कोई प्रमोशन नहीं हुआ है। उन्हें कोई ओवरटाइम नहीं मिलता है। और वे एक अपमानित जीवन व्यतीत करते हैं। डरी हुई जिन्दगी बिताते हैं वे। उसने अखबारों में पढ़ रखा था कि दूसरे सरकारी प्रतिष्ठानों में—जीवन बीमा निगम व बैंकों में—अफसरों ने भी यूनियनें बना रखी है। उसे विचार हो आया कि क्यों न जूनियर अफसरों की भी यूनियन बनाई जाय। फिर देखते हैं सरदार प्रीतम सिंह या कोई और अपनी मनमानी कैसे करता है।

अजीत पाँडे की बात दूसरे कनिष्ठ अफसरों को भा गयी। उन्होंने महसूस किया कि उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है और छोटी-सी भी ग़लती होने पर एक महीने की तनख्वाह देकर लात मारकर निकाल दिया जाता है। यदि उनकी यूनियन बन जाए, तो फिर कंपनी की यह हिम्मत नहीं होगी कि उन्हें इस तरह से अपमानित करे या नौकरी से निकाले।

परन्तु अफसरों की यूनियन बनने में कई खतरे थे। डर यह था कि जो आदमी अगुवा बनेगा, हो सकता है कंपनी उसकी ही छुट्टी कर दे और डर के मारे बाकी अफसर उसका साथ छोड़ दें। यह भी संभव था कि सारे के सारे अफसरों को हेड आफिस से ट्रांसफर करके अलग-अलग कारखानों में भेज दिया जाए जिससे उनकी यूनियन टूट जाए और उन कारखानों से धीरे-धीरे उन्हें निकाल दिया जाए।

अफसरों की गुप्त बैठकें होती रहीं। अजीत ने लोगों का हौसला बढ़ाते हुए कहा, "सिवा यूनियन बनाने के और कोई दूसरा चारा भी तो नहीं। हम कब तक भेड़-बकरियों की तरह यहाँ धक्के खाते रहेंगे।"

वाद-विवाद बहुत हुआ, लेकिन सारे अफसरों ने कसम खायी कि इस बैठक की बात मैनेजरों को नहीं बतायेंगे। अचानक अजीत को एक 'विचार' आया कि क्यों न 'वर्कर्स यूनियन' के पदाधिकारियों से बात की जाए और कहा जाए कि जूनियर-अफसर भी उनके भाईबंद हैं और विपत्ति में ये दोनों यूनियनें एक-दूसरे की मदद कर सकती हैं। तभी मैनेजरों की मनमानी रुकेगी।

बाकी जूनियर अफसरों को यह उम्मीद नहीं थी कि 'वर्कर्स यूनियन' के पदाधिकारी उनकी बात मानेंगे। फिर डर यह था कि बात अगर खुल गयी और मैनेजरों तक पहुँच गयी तो सभी लोग बेमौत मारे जाएंगे। अजीत ने लोगों का हौसला बढ़ाते हुए कहा, "यह काम आप मुझ पर छोड़ दीजिए। मैं 'वर्कर्स यूनियन' के पदाधिकारियों को मना लूंगा।"

अजीत ने बड़ी होशियारी से 'वर्कर्स यूनियन' के पदाधिकारियों को समझाया कि कहने के लिए वे अफसर हैं, लेकिन हैं कंपनी के एक अदना कर्मचारी। मनमानी तो मैनेजर लोग करते हैं—हम लोग नहीं। अतः विपत्ति की घड़ी में दोनों को साथ खड़े होना चाहिए। बात वर्कर्स यूनियन के पदाधिकारियों को भा गई।

प्रीतम सिंह ने एक दिन अपनी आदत के अनुसार रमेश रोहतगी नाम के एक जूनियर अफसर के चेहरे पर फाइल उठा कर फेंक दी। रोहतगी के नाक से अविरल खून बहने लगा। सरदार ने गाली-गलौच भी किया। वह जानता था कि यदि रोहतगी ने मुंह खोला तो एक महीने की तनख्वाह बढ़ा दी जाएगी। रोहतगी ने सरदार की बातों का जवाब नहीं दिया और सीधे अजीत की मेज पर आ गया। अजीत ने जब रोहतगी की यह दुर्दशा देखी तो उसे फौरन डॉक्टर के पास ले गया और इस बीच लोगों से हिदायत कर दी कि जब तक वह लौटकर नहीं आता है, कंपनी का काम बन्द रहेगा।

अजीत को लौटने में दो घण्टे लग गए। इस बीच सारे के सारे कर्मचारियों ने काम बन्द कर दिया। अजीत जब लौटकर आया तो सरदार प्रीतम सिंह ने उसे अपने कमरे में बुलाया। सरदार आपे से बाहर था। उसने छूटते ही कहा, "व्हाट डू यू मीन बाई दिस? तुम अपने आप को समझते क्या हो? मैं अभी एक मिनट में तुम्हें निकाल दूंगा। तुम्हारे टर्म आफ एप्वाइंटमेंट के अनुसार तुम यूनियन नहीं बना सकते हो। तुम यह गुण्डा-गर्दी नहीं कर सकते हो…?"

अजीत ने नम्र शब्दों में जवाब दिया, "सरदार साहब, आपे से बाहर मत होइये। जुल्म की हद हो गयी है। टर्म आफ एप्वाइंटमेंट में यह लिखा है कि अफसरों के साथ बद्तमीजी की जाए। उनके साथ गाली-गलौज किया जाए। काम तब शुरू होगा, जब आप सारे कर्मचारियों के सामने रमेश रोहतगी से माफी मांगेंगे…।"

"तुम्हारी यह हिम्मत। मैं तुम्हें अभी ससपेन्ड करता हूँ···।"

सरदार ने घण्टी बजाकर अपने स्टेनों को बुलवाया।

अजीत ने मुस्कराते हुए कहा, "सरदार जी, जो कुछ जी में आए करो, अब बात आपके हाथ से निकल चुकी है।"

प्रीतम सिंह ने डायरेक्टरों को सूचित कर दिया। हेड आफिस से बात दूर-दूर कंपनी के कारखानों में भी पहुँच गयी। हेड ऑफिस में काम बन्द हो गया।

'डायरेक्टर आफ परसनल' सुबोध त्रिपाठी कंपनी के मुख्य कारखाने कलकत्ते में रहते थे।

पिछली रात ही सुबोध त्रिपाठी उसके घर आए थे। जीवन भी कितना रहस्यमय होता है और कितनी विबादास्ताएँ होती हैं जीवन में—उसने मन में सोचा। सुबोध त्रिपाठी ने आकर उसे बताया कि उसके पुराने परिचित हैं। अजीत ने आश्चर्य प्रकट किया, क्योंकि सुबोध त्रिपाठी से उसकी पहले कभी मुलाकात नहीं हुई थी। सुबोध ने बताया कि उसकी पत्नी अपर्णा, अजीत की लखनऊ विश्वविद्यालय में सहपाठी थी। अजीत अब सब कुछ समझ गया। कहने के लिए अब कुछ बाकी नहीं रह गया था। अपर्णा उसके साथ लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ती थी। दोनों जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। दोनों का एक-दूसरे से बहुत लगाव था। जब अजीत ने अपर्णा के पिता से विवाह की बात चलायी तो अपर्णा के पिता ने उसे अपमानित कर घर से निकाल दिया था—यह कहकर कि एक मास्टर का लड़का कैसे हिम्मत कर सकता है उसका दामाद बनने का। अपर्णा के पिता एक रिटायर्ड पी० डब्लू० डी० इंजीनियर थे। ऊपर आप के पैसों से उन्होंने दो बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियाँ खड़ी कर ली थीं। बेशुमार दौलत जोड़ ली थी।

अजीत का मुँह कड़वाहट से भर गया - अपर्णा का नाम सुनकर और पुरानी बातें याद कर। अपर्णा ने भी तो पिता की मर्जी का कोई विरोध नहीं किया था। कितना अपमानित होकर अजीत उसके घर से निकला था। उसके बाद अपर्णा ने कोई सुध नहीं ली थी उसकी।

क्या अपर्णा ने सुबोध त्रिपाठी से कहा होगा कि अजीत उसको चाहता था—अजीत ने मन में सोचा। नहीं, कभी नहीं। कोई ब्याहता लड़की ऐसा कर ही नहीं सकती है-- वह स्वयं बुदबुदाया। इसके पहले कि वह कुछ बोलता, सुबोध ने उसकी तंद्रा भंग करते हुए कहा, "अजीत, अपर्णा कहा करती थी कि आप बड़े मेधावी छात्र थे। वह तो यह भी कहती थी कि आप शादी करके विदेश जाकर बस गए हैं। लेकिन जब हड़ताल की बातों की चर्चा हमारे कारखाने में होने लगी और जैसे ही आपका जिक्र आया, तो अपर्णा ने बताया कि हो न हो आप हरिपुर गाँव के रहने वाले पं० सुन्दरलाल पाँडे के लड़के हो।"

फिर कुछ रुक कर कहा, "अपर्णा ने बताया था कि आप कॉलिज के दिनों में बड़े स्वाभिमानी थे। आज भी आप कम स्वाभिमानी नहीं हैं!"

सुबोध त्रिपाठी ने घंटों अजीत को समझाया कि इस तरह हड़ताल कर देने से कोई लाभ नहीं है। कंपनी का बड़ा नुकसान हो जाएगा। देश का बड़ा नुकसान होगा। क्योंकि कंपनी को एक्सपोर्ट के बहुत आर्डर मिले हुए हैं और माल इसी महीने के अंत में देना होगा।

अजीत के मन में एक दब-दबा-सा पैदा हुआ। जी में आया कि चाहे जो कुछ भी हो जाए, चाहे जान ही क्यों न जाए, पर हड़ताल नहीं टूटने दूँगा। अपर्णा और उसके पिता जी

को पता तो चल जाएगा कि एक मास्टर का लड़का इतनी औकात रखता है कि हजारों मजदूर और उसके कनिष्ठ अफसर उसके लिए जान देने को तैयार हैं। सारी कंपनी के डायरेक्टर उससे भय खाते हैं। और वह एक इज्जतदार स्वाभिमानी व्यक्ति है। यदि एक अदने मास्टर का लड़का भी हुआ तो क्या !

सुबोध ने उसे बातों ही बातों में बताया कि यदि यह हड़ताल पन्द्रह दिन और रही तो कंपनी का मैनेजिंग डायरेक्टर उसे निकम्मा करार देकर निकाल बाहर करेगा। तब उसकी स्थिति बड़ी हास्यास्पद हो जाएगी। फिर इतनी बड़ी नौकरी मिलना उसके लिए असंभव-सा हो जाएगा।

नौकरी से निकाल दिया जाए, मुझे क्या मतलब, मेरी बला से। जब पहले सरदार प्रीतम सिंह ने कुछ जूनियर अफसरों को निकाल दिया था, तब यह सुबोध त्रिपाठी कहाँ था—उसने मन ही मन सोचा। फिर पता नहीं क्यों मन के एक कोने में एक दर्द-सा उभर आया। उसने सोचा कि अपर्णा क्या सोचेगी कि उसका पति गिड़गिड़ाकर भीख माँगता रहा और उसने ठुकरा दिया। उसके मन में अजीत के लिए बड़ी नफरत-सी हो जाएगी। थोड़ी देर के लिए यदि सुबोध की बात नहीं मानी जाए, तो यह प्रायः निश्चित है कि वह यह नौकरी खो देगा और उसे इतनी अच्छी दूसरी नौकरी नहीं मिल सकेगी। सुबोध की बात न मानने पर अपर्णा और उसके बच्चों पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ेगा। उसे याद हो आया जब उसके पिताजी ने त्याग-पत्र दिया था तो परिवार पर कितना बड़ा वज्रपात हो गया था।

अचानक अजीत कल्पना करने लगा कि सुबोध की नौकरी चली गई है और उसके बच्चे दर-दर फुटपाथ पर भटक रहे हैं। अपर्णा बार-बार एक ही शब्द दोहरा रही हो—"अजीत ऐसा तो नहीं था···अजीत ऐसा तो नहीं था···।"

अजीत की तंद्रा भंग करते हुए सुबोध ने कहा, "पाण्डे जी आप हमारे परिवार के पुराने परिचित हैं। कुछ नहीं तो हम पर तरस खाइये। मैं सरदार प्रीतमसिंह से कल सबके सामने माफी मँगवा देता हूँ। तब तक लोगों से काम शुरू करवा दिया जाए।"

दस-पन्द्रह दिन से अधिक समय हो गया था हड़ताल को। अब केवल माफी माँगने से काम नहीं चलने वाला था। लोग प्रीतमसिंह की बर्खास्तगी चाहते थे। परंतु प्रीतमसिंह की पहुँच बड़े-बड़े मिनिस्टरों तक थी। उसे निकालना कंपनी के लिए बहुत आसान नहीं था। अजीत यह भी समझता था कि यदि उसने कर्मचारियों और जूनियर अफसरों से यह आग्रह कर दिया कि हड़ताल तोड़ दी जाए, तो वे उसका कहा टालेंगे नहीं। लेकिन उसने लोगों से जो वादा किया था उसका क्या होगा। संभव है कि लोग उससे यह कहें कि वह पैसे लेकर कंपनी के डायरेक्टरों से मिल गया है।

"उसने सुबोध से रात-भर सोचने का समय माँगा।"

"जाते-जाते सुबोध ने कहा, "पांडे जी मैं आपकी बिरादरी का हूँ, मेरा ख्याल रखना।"

अजीत रात भर तड़पता रहा। छाया ने पहले भी उससे कई बार कहा था कि यह यूनियन का चक्कर ठीक नहीं है परन्तु उसने किसी की एक नहीं सुनी थी। यदि उसने हड़ताल तोड़ने की अपील की तो लोग कहेंगे कि उसने कंपनी से पैसा खाया है। और यदि हड़ताल जारी रही तो संभव है सुबोध को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़े।

उसने अपनी घड़ी की ओर देखा—दस बजने में कुछ ही मिनट बाक़ी थे। यदि वह दस

बजे दफ्तर नहीं पहुँचेगा तो लोगों को ग़लतफ़हमी हो जाएगी। उसने खाना भी नहीं खाया और जल्दी-जल्दी छाया से लंच का डिब्बा लेकर बाहर निकल पड़ा। जाते समय उसने छाया को कहा, "तैयार रहना। कुछ दिनों के लिए गाँव जाना होगा।"

छाया के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह बाहर निकल गया। जल्दी-जल्दी टैक्सी ले वह दफ्तर पहुँचा। सारे लोग उसी का इन्तजार कर रहे थे। सुबोध बड़ी विनम्र दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। वह धीरे-धीरे सुबोध की तरफ बढ़ा और उसे बुलाकर एक कोने में ले गया और उसने कहा, "आप अपने कमरे में चलिये।"

लोगों में खुसर-पुसर होने लगी। किसी ने आवाज दी—"पाँडे बिक गया।"

पाँडे ने घूरकर देखा और जोरों से चिल्ला पड़ा, "मैं कभी बिकने वाला आदमी नहीं हूँ।"

सुबोध उस कमरे में चला गया जिसमें सभी डायरेक्टर और मैनेजर बैठे थे। एक गजब का सन्नाटा छाया था। सुबोध के पीछे-पीछे अजीत भी वहाँ पहुँचा। अजीत ने जेब से एक छोटा-सा कागज निकाला और सुबोध को पकड़ा दिया। फिर बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए वह उस कमरे से धीरे-धीरे निकल पड़ा।

सभी उत्सुकता से जानना चाहते थे कि उस कागज में क्या लिखा है। सुबोध ने उदास आँखों से लोगों को पढ़कर सुनाया कि पाँडे ने त्याग-पत्र दे दिया है।

पाँडे कमरे से बाहर निकला। लोग इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि उसके और डायरेक्टरों के बीच क्या बात हुई। पाँडे ने केवल इतना कहा, "सुबोध त्रिपाठी, आपको सब बात बता देंगे।"

तभी भीड़ में से एक आवाज आयी, "पाँडे जिंदाबाद।"

उसने मुड़कर कहा, "मैंने कोई जिन्दाबादी का काम नहीं किया है। मेरे कामों से आप सबों को बड़ी यातनाएं भुगतनी पड़ेंगी।"

तभी भीड़ में से किसी ने कहा, "पाँडे गद्दार है। पाँडे साला बिक गया है।"

वह चाहता था कि मुड़कर लोगों से कहे कि वह बिका नहीं है और न कभी बिक सकता है। उसके पिताजी भी नहीं बिके थे। परन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो कही नहीं जा सकतीं। वह बार-बार यही सोच रहा था कि यदि यह हड़ताल नहीं टूटी तो सुबोध का क्या होगा। परन्तु उसके त्याग पत्र दे देने के बाद हड़ताल अपने आप टूट जाने वाली थी।

उसने बाहर टैक्सी को आवाज दी। घर पहुँच कर वह छाया से कहने वाला था, "जल्दी करो, माँ का तार आया है। वह बहुत बीमार है! गाँव चलना है।"

वह सोच नहीं पा रहा था कि छाया को अपने त्याग-पत्र की बात कब और कैसे कहे। अब आगे क्या करेगा वह? जीवकोपार्जन का और कोई साधन भी तो नहीं है उसके पास!

यही सोचते सोचते वह भारी कदमों से टैक्सी की ओर बढ़ गया...

और सृष्टि बनी

□ पंकज बिष्ट

"अंधेरे में मत बैठो !" ताई की आवाज ने उसकी विचार-श्रृंखला भंग कर दी। अंधेरा काफी हो चुका था। अचानक बिजली जलने से आँखें चौंधिया गयीं।

"आखिरी बस आ गई होगी, ताई !" उसने पूछा।

"नहीं, सात-साढ़े सात तक आती है।"

सात बजने में ही अभी बीस-एक मिनट थे। यानी एक घंटा वह और उम्मीद कर सकती थी। पर मन में अब वैसी बेचैनी नहीं थी, जैसी सुबह चिता जलने तक रही थी। वह आखिरी दम तक इंतजार करती रही थी कि दाज्यू आ जायेंगे। उसे न जाने, कैसे ऐसा विश्वास था। यद्यपि यह मूर्खतापूर्ण था, पर इच्छाएँ और कामनाएँ क्या तार्किकता से बंध पाती हैं। बम्बई से अल्मोड़े के एक छोटे से गाँव में सात घंटे में पहुँचना आज के जमाने में भी कोई जिन्न या मन्त्री ही कर सकता था। असल में वह श्मशान तक गई भी इसलिए थी कि अगर कहीं हरीश दा अंतिम क्षण तक भी आ जाए तो पिताजी को देख ले। न जाने क्यों वह स्वयं को अतिरिक्त जिम्मेदारी से दबा महसूस कर रही थी --भाई के न होने की जिम्मेदारी उस पर पागलपन की तरह सवार थी। सम्भवतः उसने चिता में आग देने के पीछे भी कहीं यही भावना रही थी कि पिताजी किसी भी धार्मिक अनुष्ठान से वंचित न हो जाएँ। वह एक धार्मिक व्यक्ति थे और सारे धार्मिक नियमों के प्रति जिन्दगी-भर निष्ठावान रहे थे। पर इसमें एक विचित्र विरोधाभास था। एक तरह से जब रमा उस सारे अनुष्ठान को कर रही थी उस समय भी उसमें कहीं उसका विद्रोही स्वभाव का भाई ही आ बैठा था।

अब दाज्यू अगर आ भी जाए तो भी क्या होने वाला है।

नहीं, वह, उसे देखना चाहती है, ऐसे मौके पर जब वह बिल्कुल अकेली पड़ गई है। यद्यपि वह जानती थी कि खून का रिश्ता जैसी कोई चीज नहीं होती, पर मानवीय सम्बन्धों का भावनात्मक पक्ष ही अन्ततः निर्णयात्मक भूमिका निबाहता है। ये सब लोग यद्यपि उसके अपने ही थे, इस पर भी उसका यह मानना कि उसका सगा भाई अभी आना बाकी है, उसे बेचैन कर रहा था। जबकि सत्य क्या था वह जानती थी। हरीश दा और पिताजी में कभी बनती नहीं थी और उधर सुरेन्द्र दा के बिना पिताजी हिलते तक नहीं थे। सुरेन्द्र दा को पिताजी ने ही पढ़ाया था और कहा जाता है कि शादी के बाद भी काफी दिनों तक वह पिताजी के साथ रहा था।

सम्भवतः इसीलिए अन्त में चिता जला देने के बाद चालीस साल का, चार बच्चों का बाप सुरेन्द्र दा बच्चों की तरह फूट फूटकर ऐसा रोया कि चुप करना कठिन हो गया। वह

हक्की-बक्की देखती रह गई थी।

ताई उसके लिए चाय लाई थी। उसने शाल लपेटा और बाहर आ गई। उसके बाल अभी भी गीले ही थे। श्मशान से आकर उसने भी सब लोगों की तरह नहाया था और बाल भी धो दिए थे। सुरेन्द्र दा और ध्यानसिंह चाचा ने तो, वहीं नदी में नहाया था। उस ठंड में नदी में नहाना हिम्मत का काम था। वहाँ उसने भी औरों की तरह सिर्फ मुँह हाथ ही धोया था और धूप होने के बावजूद, पानी में नहाने की कल्पना ने ही उसे हिला दिया था।

वह बरामदे में पड़ी इजी चेयर पर बैठ गई। पिताजी उसमें बैठकर धूप तापा करते थे। बरामदे के बाहर बिजली जल रही थी। बरामदे से तीन तरफ का दृश्य दिखलाई देता था। दाईं और मासी बाजार और आसपास के गाँवों की बत्तियाँ इस तरह जगमगा रही थी जैसे कोई काली पतली-सी पारदर्शी चुन्नी से देख रहा हो। आकाश में एक-एक तारा गिना जा सकता था। इतना निर्मल और स्वच्छ आकाश उसने पहले कभी देखा भी था, उसे याद नहीं। एक आकाश गंगा पूर्व से होती हुई उत्तर पश्चिम की ओर जा रही थी जिसके घने तारों के गुच्छे पहली नजर में बादलों का हल्का-सा भटका टुकड़ा होने का भ्रम पैदा कर रहे थे। अगर चाँदनी हो तो, उधर के पहाड़ों के पार, हिमाच्छादित चोटियाँ भी देखी जा सकती थीं।

बायीं ओर नदी थोड़ा ही आगे जाकर मुड़ जाती थी और सामने का दृश्य रुक जाता था। उसके पार फिर सिर्फ मानिला की चोटी थी, जो क्षितिज पर एक कोने से दूसरे कोने तक काँपती रेखा-सी खिंची चली गई थी।

सामने के पहाड़ पर अर्फों और परथले के गाँव थे। सारा दृश्य एक रहस्य की तरह उसके सामने था। उसके दिमाग में आने लगा, आखिर इस सबको किसने बनाया होगा? आखिर हम कौन हैं?

उसने नीचे घाटी में वह जगह पहचानने की कोशिश की। जहाँ सुबह पिताजी का अग्नि-संस्कार किया गया था। वह फिर उनके दुख से भर गई। अब वह अपने पिता को कभी नहीं देख पाएगी। उनके सामने अपना पक्ष नहीं रख पाएगी। इसने उसे अन्दर तक अपराध बोध से भर दिया। अपनी जाति से बाहर न जाने के पीछे पिताजी के दिमाग में रक्त की शुद्धता बनाए रखने से कहीं अधिक उसकी सुरक्षा की भावना रही होगी। उसने सोचा, जो भी हो, वह नायडू से सम्बन्ध विच्छेद कर लेगी। वह शादी ही नहीं करेगी।

फिर उसके दिमाग में आया पर वह इतने दुख में क्यों है? हम सबने एक न एक दिन तो मरना ही है। संभवतः पिताजी के न रहने का अफसोस इस बात को लेकर हो सकता है कि वह जल्दी ही मर गए पर वह ऐसे युवा भी नहीं थे। अपने देश में औसत आदमी की जिंदगी है ही कितनी?

भाभी ने आकर उसकी विचार-श्रृंखला तोड़ दी, "चलो अंदर! यहाँ बहुत ठंड है।"

"जरा बस का इन्तजार कर रही थी।"

"पर बस तो निकल गई, काफी देर की।" भाभी ने उत्तर दिया।

वह चुप रही। इसका मतलब है उसका ध्यान ही कहीं और था। हरीश अब नहीं आएगा, उसे अपने को समझाना पड़ा। हरीश दा के आने से उसे बहुत बल मिलता। पर वह उसका स्वभाव जानती है इसलिए उसे अनुमान भी था कि हरीश आते ही कैसी बातें करेगा। वह कहेगा, "मरना तो जिंदगी का अंग है। मरता कौन नहीं है? इस तरह दुखी होने से काम

नहीं चलता।"

"पर आपका पिता बार-बार नहीं मरता।" उसका जवाब होगा।

"पर कोई न कोई पिता ही तो मरता है ना! और फिर हम सब अंततः किसी न किसी की संतान या माता-पिता तो हैं ही, या होंगे।"

"मैं अपने माता-पिता की बात कर रही हूँ! तू बता, तू क्यों माँ को याद किया करता है या चलो किया करता था? माँयें तो बहुत हैं पर दुर्गावती अधिकारी तो नहीं है न! इसी तरह पिता तो बहुत हैं पर दीवानसिंह अधिकारी तो नहीं रहे न!" और इसके साथ ही जैसे उसे अपनी ही बात का उत्तर मिल गया कि वह दुख में क्यों है?

दुख इसलिए इतना नहीं है कि एक प्राणी मर गया है। उस तरह तो कई प्राणी पैदा हुए होंगे और हिसाब फायदे में ही होगा, दुख का कारण यह है कि एक खास आदमी मरा है, जिसका एक खास व्यक्तित्व था। आदमी तो पैदा होगा पर दीवानसिंह अधिकारी, जो हरीश और रमा का बाप था, दुर्गावती का पति था फिर इस दुनिया में नहीं आएगा।

एक पूरी रात उसे और इन्तजार करना होगा, सोचकर वह भारी मन से उठी और अंदर आ गयी—उसी कमरे में जहाँ पिताजी का कल देहांत हुआ था। जहाँ सुबह तक उनका पार्थिव शरीर पड़ा हुआ था। किनारे पर एक दिया जल रहा था और उसी के साथ चटाई पर कंबल डाले सुरेंद्र दा सर घुटाए क्रिया पर बैठा था, अगले बारह दिन के लिए, जब तक कि पिपल-पाणी यानी तेरहवीं नहीं हो जाती। अलाव के अलावा आज भी हीटर जल रहा था। कमरा उसे काफी गर्म लगा। खिमानन्द जी और ध्यानसिंह जी वहाँ पहले ही बैठे हुए थे। आज सबका नीचे बैठने का ही प्रबंध था। पलंग को बाहर कर दिया गया था। कमरे में एक बहुत ही मुखर खालीपन था जिसकी गिरफ्त में वह अनचाहे आ गई थी।

अंदर भी लोग चुप थे। एक सन्नाटा था। वही, कल का-सा सन्नाटा, जो कुछ समय बाद सुनाई देने लगता है। ऐसा सन्नाटा, जो एक ऐसी स्थिति पर छोड़ देता है जहाँ स्वयं अपने से भी आदमी डरने लगता है। बचपन में जब वह भवाली में रहते थे तो भी पिताजी ने बाजार से ऊपर लगभग जंगल से लगा हुआ मकान ले रखा था। घर के पीछे से ही चीड़ का जंगल शुरू हो जाता था। कई बार ऐसा होता था कि वह घर में अकेली रह जाती थी और हवा से चीड़ के पेड़ एक हल्की-सी संगीत-मय आवाज करते थे—सांय-सांय! वह चीड़ के उस जंगल की गंध जहाँ वह बचपन में खेली थी अचानक महसूस करने लगी। बिरोजे की गंध से महकती हवा, पर यहाँ तो वह स्वर नहीं था। अजीब बात थी यहाँ के पेड़ तक हिलने से आवाज नहीं कर रहे थे। इस डरावने सन्नाटे से परेशान उसने यूँ ही पूछ लिया, "वह पार्वती कहाँ है? सुबह के बाद उसे देखा भी नहीं था।"

"अपने गाँव चली गई।"

फिर वही चुप्पी। अपने गाँव चली गई से उसकी बात का समाधान नहीं हुआ। पर उसने यह जानना जरूरी नहीं समझा कि आखिर वह लड़की कौन थी। होगी कोई सोचकर वह चुप रह गई।

"ताऊजी!" वह अचानक बोली। आज सुबह से अब तक वह एक दूसरे से बोले नहीं थे। संभवतः वह उससे जानबूझ कर बच रहे थे।

"हूँ!" उन्होंने बड़े संक्षिप्त रूप में कहा।

"एक बात पूछूँ ?" उसने बच्चे की तरह कहा।

"बोल ?" उसकी विरलता ने उनका मन बदल दिया।

"हम यहाँ क्यों आए होंगे ?"

वह उसका मुँह देखते रहे ? संभवतः उनकी समझ में उसकी बात नहीं आयी।

"मेरा मतलब हमारे पूर्वजों से है। इतनी बड़ी दुनिया है, इस वीराने में ?" रमा ने स्पष्ट किया था।

"छिपने को आए ठहरे। अपने प्राण बचाने, सुरेन्द्र ने कहना शुरू किया, "हरिवंश पुराण' में लिखा हुआ है कि जब परशुराम ने क्षत्रियों के विनाश की ठानी, तो खस लोग, जो मैदानों में रहते थे भाग कर पर्वतों में चले गए।"

रमा ने सुरेन्द्र की बातों की ओर ध्यान नहीं दिया।

पर खिमानन्द हँसे बिना न रह सके, फिर बोले, "मैं एक प्र श्न पूछूं ? आदमी कहीं भी क्यों है ?"

वह चुप रह गई।

जब वह काफी देर नहीं बोली तो खुद ही बोल उठे, "यह चिरंतन प्रश्न है ? अनादिकाल से पूछा जा रहा है। तेरा प्रश्न अंततः दर्शन का सवाल है और आज तक की सारी मानव सभ्यता—चाहे वह धर्म है या विज्ञान, इसी सवाल के हल में जुटी है। धर्म के पास अपने उत्तर हैं और विज्ञान के पास अपने। पर मैं सोचता हूँ कि अंततः यही वह बेचैनी है जो पूरी मानव सभ्यता को चलाए मान रखे है—वह कहाँ से आया है और कहाँ जाएगा ? उपनिषद में कहा गया है 'तपसा चीयते ब्रह्म' यानि चिंतन से ब्रह्म का विस्तार होता है। और ब्रह्म क्या है। यही जीवन, जिसमें सब कुछ समाहित है।"

"नहीं मेरा प्रश्न सिर्फ इस ऊबड़-खाबड़ विकट पहाड़ी क्षेत्र में आने से था।"

इस बार वह मुस्कराए थे, "तुझे पता है न कि तेरा बाप इस गाँव से कितना प्यार करता था। और जिसे तू ऊबड़-खाबड़ विकट पहाड़ कह रही है मैं उसे छोड़ तेरी दिल्ली में एक दिन नहीं रह सकता। तू समझ रही है न मेरी बात। असल में सच्चाई यह है कि यह वीराना या विकटता इस बात से जुड़ा है कि आपकी मनः स्थिति कैसी है।"

"क्या मतलब ?"

"बेटा तूने अपनी उदासी हर चीज को उड़ा दी है।"

उसने नजर घुमाई। पहाड़ संताप में स्तब्ध थे, पेड़ सर झुकाए बीच-बीच में सिसकियाँ भर लेते थे, नदी का स्वर उदास संगीत की तरह था—मृत्यु के सदमे को बढ़ाने वाला, ऊर्जा-रहित धूप मातमी सफेद कपड़े-सी थी जो हर चीज पर फैल गई थी। कल शाम से वह यही सब तो देख रही थी।

उसने थोड़ा सोचा, फिर कहा, "आप ठीक कह रहे हैं। संभवतः मेरा प्रश्न वही है कि हम कौन हैं और कहाँ से आए हैं ?"

"तू डाक्टर है, तू इसे बेहतर जानती है।" इस बार उन्होंने हल्के अंदाज में कहा।

"नहीं, जो मैं जानती हूँ वही नहीं जानना चाहती। आप बतलाइये ?"

"क्यों ? विज्ञान तेरी जिज्ञासा के लिए काफी नहीं है।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। हर चीज का अपना महत्व है और अकसर चीजें एक दूसरे

की पूरक होती हैं। मैं धर्म के बारे में लगभग कुछ भी नहीं जानती, संभव है आपके उत्तर से मेरी जिज्ञासा को कुछ और संतुष्टि मिले।"

"खैर ! मैंने भी ज्यादा तो नहीं पढ़ा है पर जो भी मैं जानता हूँ बतला देता हूँ। मैंने वैसे तुझसे पहले ही कहा था यह आदि प्रश्न है और जो प्रश्न तू कर रही है वह हजारों वर्ष पूर्व ऋग्वेद में इस तरह अभिव्यक्त हुआ था :

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत।
किमावरीयः कुहं कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद् गहनं गंभीरम्।
न मृत्यु रासीद मृतं न तर्हि न राव्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीद वातं स्वधया तेदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ।।
तम आसीत्तमसा गूढ़ हमग्रेऽप्रकेत सलिलं सर्वमान इद्म।
तुच्छेयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।
तिरश्चीनो विततोरश्मि रेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ।।
को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।
इयं विस्तृष्टियंत आबभूव यदि वा दधे यदि वान।
यो अस्या ध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।"

"यानि सृष्टि से पहले न सत् था न असत्। न रज था न उसके पार आकाश। क्या ऊंचा, क्या नीचा ? गहन गंभीर पानी कहाँ था ? न ब्रह्म था, न मृत्यु थी न अमरत्व था। न रात का कोई पता था न दिन का। अपनी आंतरिक शक्ति से परमेश्वर ने वायुहीन साँस लिया। उनके अलावा तब कुछ नहीं हुआ बल। अंधकार हुआ तो वह भी अंधकार से आवृत हुआ। अन्य किसी भेद के बिना सर्वत्र जल हुआ। अमूर्त से सब ढका हुआ था। सबसे पहले कामना उत्पन्न हुई। फिर मन से सर्व प्रथम बीज उत्पन्न हुआ। ऋषियों ने अपने हृदय में, बुद्धिमत्ता से सोचते हुए, असत् में सत् को देखा उनकी किरणों ने अंधकार को खंडितकर प्रकाश को फैलाया। किंतु वह 'परम' नीचे था या ऊपर ? बीज धारण करने वाला था ? उसकी महिमाएँ थीं अथवा वह पीछे कहीं था ? या आगे था इस बारे में निश्चित रूप से किसको पता है ? किसने बताया है कि उद्भव किसमें से हुआ और यह सृष्टि कहाँ से आई ? देवगण भी सृष्टि के बाद के हैं ? तब कौन जान सकता है कि इसका उद्भव कहाँ से हुआ ? इसे किसने रचा ? या नहीं भी रचा ? परम आकाश में जो नियामक के रूप में स्थित है उसे पता होगा। न भी पता हो।

"इसी तरह उपनिषद् में कहा गया कि :

आरम्भ में यह ब्रह्माण्ड जल ही जल था। उस जल ने सत् का निर्माण किया। ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म ने प्रजापति की सृष्टि की और प्रजापति ने देवताओं की। इन देवताओं ने सत् का चिन्तन आरम्भ किया।

ये तो हुआ एक पक्ष। जिसका मानना हुआ कि समस्त वस्तुओं का उद्भव इस समूचे ब्रह्माण्ड में अन्तर्निहित एक ही भौतिक पदार्थ से हुआ है। दूसरा पक्ष यह हुआ कि प्रकृति की

विविध प्रक्रियाएँ और उसकी अनेकानेक घटनाएँ ब्रह्म की, परमात्मा की, अभिव्यक्ति हैं।" वह चुप हो गए।

"आपका तो सारा शास्त्र रटा हुआ है ?" रमा ने प्रशंसा में कहा।

"अरे भाई, ब्राह्मण जो हूँ। रटना हमारा काम है।" सब लोग हँसे।

वह चुप रही। उसकी उदासी ने जो प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठाए थे, और भी बेचैन करने लगे थे। इस पृथ्वी पर प्राणी चाहे जैसे भी उत्पन्न हुआ हो, उसके होने के और होकर जीने और मरने के प्रश्न की गुत्थी उसे लगा संभवतः कभी न सुलझाई जा सके। चूंकि जीवन है, इसलिए मृत्यु का होना भी लाजमी है। यह सामान्य-सा तर्क था और इसे ही मान लेने में भलाई थी। वरना जीवन के बारे में वह भी जो जानती थी कि पहले बैक्टीरिया था उससे सैल बना। सैल से बहु-सैलीय प्राणी बने और धीरे-धीरे विकसित होकर आदमी बना। एक सैल में प्रोटीन, डीआक्सियोरिबोन्यूक्लिक एसिड (डी० एन० ए०) और रीबोन्यूक्लिक एसिड (आर० एन० ए०) लिपिड्स और कार्बोहाइड्र्ट्स होते हैं। इनका एक तंत्र है, जो किसी भी शरीर को बनाता और चलाता है। जीवन इन पदार्थों, जिन्हें प्रोटीन कहते हैं का एक समीकरण है और यह जीवन इन पदार्थों के रासायनिक तत्वों के सतत् सैल्फ रिनुअल के कारण ही चलता रहता है। पर वह पहला प्राण वाला बैक्टीरिया कहाँ से आया और वह कैसे सेल में परिवर्तित हुआ, इसका ठीक-ठीक उत्तर किसी के पास नहीं था।

सिर्फ सरलीकरण। एक हजार आठ सौ करोड़ वर्ष के विकास के बाद भी यह उपलब्धि ! वैज्ञानिक यही तो मानते हैं न कि पृथ्वी का जन्म एक हजार आठ सौ करोड़ वर्ष पूर्व 'धमाके' के साथ हुआ ! चलो माना, तब आदमी नहीं था। पर पिछले बीस लाख वर्ष के अपने इतिहास में मानव की यही तो उपलब्धि है न कि वह सिर्फ यह बता पाने की स्थिति में है कि सारे प्राणियों के मूल में सैल है। उसे अचानक लगा, पूरा चिकित्सा शास्त्र मूलतः अभी भी उसी अवस्था में है जबकि वह अपने विकास के आदिम दौर में रहा होगा। आज भी वह न तो यह बता सकते हैं कि कोई आदमी कब तक जिंदा रहेगा और न यह कि जीने का रहस्य क्या है ?

"तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है—'जो ब्रह्म को नहीं मानता स्वयं अपने अस्तित्व पर प्रश्न उठाता है।' असल में हमारे ग्रंथों में इसे अचानक माया नहीं कहा गया। तुम इसे जितना समझना चाहोगे उतना उलझोगे। एक रहस्य दूसरे रहस्य को जन्म देता है, जो पहले से कई गुना ज्यादा गहरा होता है। इसलिए मैं स्वयं एक किसान के तौर पर जीने की कोशिश कर रहा हूँ। जो है उसको स्वीकार करता हुआ।" खिमानंद जी ने उसे समझाना चाहा।

बुढ़ापा ! उसने मन ही मन सोचा, फिर बोली, "ताऊजी आप आदमी के विकास को रोक रहे हैं। उपनिषद् का जो हवाला पहले आपने दिया वह क्या इस बात का प्रतीक नहीं है कि आदमी में अगर वैसी जिज्ञासा नहीं होती अपने अस्तित्व पर प्रश्न उठाने वाली तो क्या हम आज यहाँ होते ?" उसका वैज्ञानिक जाग उठा था, "मैं मानती हूँ, कई चीजों के उत्तर नहीं हैं, पर क्या यह नहीं देखते कि हम प्रयत्न करते हैं और उत्तर भी पा ही लेते हैं। यहाँ फर्क सिर्फ यह है कि उत्तर अगर आज नहीं मिले तो कल मिलेंगे।"

"मैं तुझे एक किस्सा सुनाता हूँ।" उन्होंने सारे मामले को ही मोड़ दिया। "हम जब मेरठ कॉलेज में थे, मैं, दिवान और तेरा मामा कमल, हमारे साथ उन्हीं दिनों एक और लड़का था। वह भी अपने ही पहाड़ का हुआ, यहीं रानीखेत के नीचे का। नाम का भगवत बहुत

विद्वान ठहरा। और दर्शन पढ़ रहा था। वह अजीब-अजीब सवाल करता कि आदमी कौन है, मोक्ष क्या है ? क्या इस संसार से परे भी कुछ है ? पुनर्जन्म क्या है ? आदि-आदि। हम हुए लौंडे-मौंडे, इन सारे झंझटों में तब नहीं ठहरे। उसे हम 'पगला सुकरात' कहने वाले हुए। एक बार हम लोगों ने पिकनिक का प्रोग्राम बनाया और बोहले की झाल पर जो गंगनहर पर है, गए। वहाँ गाना-नाचना, खाना-पीना हुआ। तेरे पिता के साथ 'सुकरात' वहाँ झाल के किनारे बहुत देर घूमता रहा। तेरे पिता से उसकी बहुत बनने वाली हुई। हम लोगों ने खाना खाया तो वह गुम-सुम-सा रहा। तब जो क्या हमने नोट किया, बाद में सोचा। खा-पीकर फिर हम लोग गाने-नाचने में लग गए। तीन-चार बजे हमने सामान बाँधा और चलने को हुए तो पाया कि 'सुकरात' गायब है। किसी ने कहा लोटा लेकर जंगल-दिशा को गया है। पर जब वह एक आद-घंटे तक नहीं आया तो खोज शुरू हुई पर कहीं पता ही नहीं चला। ढूँढते-ढूँढते झाल के किनारे देखा कि उसका पानी से भरा हुआ लोटा रखा है। सोचा, कहीं पैर न फिसल गया हो। पर वह तैरना जानने वाला हुआ। अचानक डूब भी नहीं सकता था। कुल मिलाकर हमने उसे दो रात-दो दिन खोजा पर वह नहीं मिला।"

"कभी नहीं ?"

"नहीं, पानी में भी उसकी लाश नहीं मिली।" वह थोड़ी देर चुप रहे, "तेरे पिता से उसने अंतिम बार कहा था कि देख यह झाल कितना सुंदर है। यह पानी।"

"पैथालॉजिकल केस !" रमा के मुँह से निकला था।

"क्या मतलब !" खिमानंद जी ने पूछा।

"यानि वह बीमार था, मानसिक बीमारी से ग्रस्त। संभवतः 'डिप्रैशन' का शिकार। असल में उसका इलाज होना चाहिए था।"

"नहीं, वह बीमार नहीं था।" खिमानंद जी ने उसे काटने का हल्का-सा प्रयत्न किया।

"नहीं, यह सामान्य आदमी के लक्षण नहीं हैं। आप यदि उस आदमी की केस-हिस्ट्री बता सकें तो बीमारी बतलाई जा सकती है।"

"नहीं !" उन्होंने फिर कहा, "यह ज्ञान का अतिरेक था ! एक अनावश्यक जिज्ञासा का हश्र।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान और जिज्ञासा, अभी तो आपने ही उपनिषद् के हवाले से कहा था कि जीवन का ही दूसरा नाम है। हम मनुष्य ही इसलिए हैं कि हम में जिज्ञासा है। और मैं समझती हूँ यह जिज्ञासा भी प्रकृति यानि वही ईश्वर की ही देन है।

"अच्छा अब सो जा ! बहुत देर हो गई। कल फिर बात करेंगे।" वह उठ गए। वैसे भी आधी रात से ज्यादा हो चुकी थी।

खिमानंद जी के चले जाने पर सुरेन्द्र दाज्यू बोले, "रमा हमारे पहाड़ में तो सृष्टि के बनने की कथा दूसरी ही है।"

"क्या है ?" रमा ने यों ही पूछ लिया।

"यह एक गीत है :

"जल थल भुमी, तब परसु पाखांण कोई नीं छी,
तटीन भगीवाना, सुना रूपी गरूरी भई,
आँसु टिपी वेर गरमाध्यानी भई,

तब रुपा गरुरी कूँछ ओ सुनां गरुरी
आब मेरा लिजि जागा, टु न, मैं आना कां पाणूं।
तब सुनूं गरुरी बोलो मैं कां जागा बतूं,
पिरथी सारी जल-थल छू, आना मेरी पीठी पाड़।
तब रूपा गरुरी ले क्यो, तु अनी नीं सारी सकों।
तब मैं कां जगा बतूं, सुना गरुरी ले त्यो,
तब रुपा गरुरी ले आनां पाड़ी दियो।
सुनां गरुरी लै आना नीं सारि सको।

[तब जल-थल पृथ्वी कुछ भी नहीं था। परमात्मा ने एक सुनहरे नर और रुपहली मादा गरुड़-गरुड़नी की रचना की। रुपहली मादा एक आँसू निगलने से गर्भवती हो गई। इस पर मादा ने नर से कहा कि ओ सुनहरे गरुड़ मेरे लिए ऐसी जगह ढूँढ़ जहाँ मैं अंडा दे सकूँ। गरुड़ बोला, मैं तुझे कहाँ जगह बतलाऊँ, सारी पृथ्वी तो जल मगन है तू मेरी पीठ पर अंडा दे दे। रुपहली मादा बोली पर तू अंडे का भार नहीं उठा सकेगा।]

आना भिं में छूटो, आना फुटि बेर भवान्ड बनीग्यो,
आदो आना फुटी बेर माथा छत्रे की नौखन्डी मन में बनो।
बीच केसर को अमरीता लोक बणो,
तीर को छत्र की तिन-तला धरती भई।
तो जो भगवान ले सिरस्टी करी तो
सफेद केसर को विस्नु भगीवान भया,
भगवानु ले नौखन्डी मन में मन्डल बनायो,
तब दिन को सुरिज बनायो, बार भाई चनरमा भया,
नौ लाख तारा बना, परसु पाखाण भयो,
ओ भोमो समुनर भया, सातों समुनर बनाया
मैं आना लै पैंदा मया ढोला समुनर, ओ रत्नगिरी समुनर,
फीनी समुनर भया, सातों समुनर भया।
तब भगीवाना कुनीं कसी मन्सी पैंद करूँ।
भोमो समुनर में लुका बी हन्से हन्सनी।

[सुनहरा गरुड़ अंडे का भार न बहन कर सका। अंडा नीचे आ गिरा और उसके फूटने से ही ब्रह्मांड की रचना हुई। आधे भाग से नौ खंड आकाश बना, मध्य भाग के केशर से अमृत लोक की सृष्टि हुई और निचले भाग से तीन तलों वाली धरती का निर्माण हुआ। इसके बाद सफेदे केशर से भगवान विष्णु पैदा हुए, नौ खंड आकाश में ग्रह एवं नक्षत्रों की रचना की, दिन में चमकने वाला सूर्य बनाया, बारह भाई चंद्रमा बनाये, नौ लाख तारा गणों की सृष्टि की, पशु-पक्षियों की रचना की, भूमि एवं समुद्र की सृष्टि हुई, सात समुद्र बने। इसी अंडे से उत्पन हुए ढोला समुद्र और रत्नगिरी समुद्र और फेनिल समुद्र। अब ईश्वर ने विचार किया कि मनुष्य की रचना किस तरह की जाए। क्योंकि हँस और हँसनी यानि प्राण तो भोमो समुद्र में जा छिपे हैं।]

तब भगवानुं ले सुनुं को मनखा वणायो।

बोल ओ मनखा, मनखा नी बोलायो।
रुपी को मनखा बगायो, बोल हो मनखा मनखा नीं बोलायो।
तब के धाना करनी भगवाना, कसिक मनखा बणाऊँ।
तब छारी को मनखा बणायो। हन्से हन्सान बोलाना
हमरी आयु बतै दीयो तब हमों ऊँ लो।
भगवानु लै क्यो दस करोड़ की आयू द्यूंलो।
तब हन्से-हन्सानी लै दरस दीयो।
तब भगवानुं लै सिरिस्टी बणांई।
राजा इन्दर, चित्रगुप्त, तैतिसकोटि देवुता भया
सिरिस्टी का आधार भया। जल को थल बणायो।
बोल की बांदी छ, बोल की बांदिया पृथ्वी रई।

[ईश्वर ने सोने का मानव बनाया। "बोल हे मानव बोल", भगवान ने उसे पुकारा पर वह न बोला क्योंकि प्राण तो उसमें थे ही नहीं। अब ईश्वर सोच में पड़ गये कि मानव की सृष्टि किस तरह से की जाए। फिर ईश्वर ने राख का मानव बनाया इस पर हँस-हँसनी बोल उठे "आप हमारी आयु बता दें तब हम लौटेंगे" ईश्वर ने कहा, "तुम्हें दस करोड़ वर्ष की आयु दी जायेगी।" यह सुन हँस-हँसनी प्रकट हो गए। और सृष्टि बनी। देवराज इन्द्र, चित्रगुप्त एवं तैंतीस कोटि देवगण उत्पन्न हुए। सृष्टि को आधार मिला, जल में निमग्न धरती उभर आई। अपनी प्रतिज्ञा के वचनों से बंधी, प्रतिज्ञा से मर्यादित धरती स्थिर रही।]

"बड़ी जोरदार कहानी है", रमा को वाकई आनंद आ गया। उसने पूछा, "अभी धरती को कितने वर्ष हुए हैं?"

"अभी तो एक करोड़ वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं।" सुरेन्द्र दा ने कहा।

इस बार रमा को हँसी आ गई, "पर दाज्यू वैज्ञानिकों का तो कहना है कि इस पृथ्वी को दो हजार करोड़ साल होने वाले हैं।"

"ऐसा कैसे हो सकता है? आदमी के जन्म को तो अभी २० लाख साल भी नहीं हुए। दिन तो उस दिन से गिना जाएगा ना, जिस दिन से आदमी में प्राण प्रतिष्ठा हुई।"

"आपका मतलब है जिस दिन से हँस-हँसनी वापस आए।" रमा ने नकली गंभीरता से पूछा।

"हाँ, ठीक कह रही है तू। अरे जब आदमी ही नहीं था तो पृथ्वी का होना न होना तो बेकार ही गया न।" सुरेन्द्र दा ने समझाया।

उसने पूर्वतः गंभीरता में गर्दन हिलाई और सोने चली गई।

[शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास **उस चिड़िया का नाम** का एक अंश।]

बदलाव

□ राजकुमार सैनी

रामकृष्ण लगभग १६ साल का रहा होगा जब वह अपने 'माँ-जाए' सौतेले भाई से परेशान होकर अपनी विधवा माँ, छोटी बहन और छोटे भाई को लेकर नागपुर से दिल्ली चला आया था। सौतेला भाई रामकृष्ण से दस साल बड़ा था। माँ एक, किन्तु बाप अलग-अलग। कोई संपत्ति का झगड़ा था और इसी झगड़े से तंग आकर, सब कुछ वहीं छोड़कर ये लोग दिल्ली की गलियों में भटक रहे थे। रामकृष्ण को कश्मीरी दरवाजे के पास रिट्स टॉकी में गेट कीपरी की नौकरी मिल गई। दो वर्ष बाद उसने टाइप सीख ली और सरकारी दफ्तर में टाइपिस्ट हो गया। गैर-कॉलिज-विद्यार्थी के रूप में पंजाब यूनिवर्सिटी से बी. ए. की तैयारी भी करने लगा। मेरा बड़ा भाई भी बी. ए. की तैयारी कर रहा था। दोनों चाँदनी चौक-नई सड़क के पास एक सांध्यकालीन प्राइवेट कॉलेज में पढ़ने लगे। पहले सहपाठी और फिर पक्के दोस्त हो गए। इन परिस्थितियों में रामकृष्ण हमारे पारिवारिक क्षितिज पर प्रगट हुआ और कुछ ही दिनों में परिवार का एक अंग बन गया। उसकी 'हो-हो, ही-ही' भरी लच्छेदार बातों ने सबका मन मोह लिया। एक आदर्शवादी युवक, जिसका भूत और वर्तमान संघर्षों से ग्रस्त था।

रामकृष्ण पहले कहीं और रहता था। अब उसने हमारे मुहल्ले में ही एक कमरा किराए पर ले लिया और माँ, भाई, बहन के साथ रहने लगा। उसी कमरे में वे खाना बनाते और उसी में सोते। भाई-बहनों की पढ़ाई भी उसी कमरे में होती। १२ बाइ १० फुट का वह कमरा ही उनके लिए एक मकान की अपेक्षाएं पूरी करता था। उसका परिवार हमारे परिवार के साथ घनिष्ठ होने लगा। कभी-कभी हमारी माँ और उसकी माँ के बीच मनमुटाव के प्रसंग भी उपजे। इनकी तह में हमारी एक भाभी थी जो इधर की उधर और उधर की इधर लगाती रहती। रामकृष्ण को वह अपने सगे देवरों से ज्यादा महत्त्व देने लगी थी। इन प्रसंगों के बावजूद दोनों परिवारों के बीच कुल मिला कर सद्भावना जैसा माहौल बना रहा। सौहार्द्र का दूध नहीं फटा और जायका भी वैसा ही बना रहा।

रामकृष्ण यद्यपि बड़े भाई का दोस्त था पर मुझसे रागात्मक भाव रखने लगा। धीरे-धीरे वह मेरा शुभचिंतक, सलाहकार और हमजोली होता गया। हमारी प्रगाढ़ होती हुई मैत्री का कारण यह था कि हम दोनों में कलाकर होने की उत्कंठा जाग रही थी। मुझे कविताएँ लिखने का शौक था और रामकृष्ण को बांसुरी बजाने का। इसके अतिरिक्त साहित्य पढ़ने में भी वह रुचि लेता था और शेक्सपीयर उसका प्रिय लेखक था। कला और साहित्य के अनुराग ने मेरी और उसकी उम्र में ७-८ वर्ष के अन्तर को खत्म कर दिया था। हम सम-वयस्क होकर

चहलकदमी करते। मैं कविताएँ सुनाता और वह बांसुरी। साहित्य-चर्चा के दौरान वह शेक्स-पीयर के उद्धरण सुनाता। मराठी कवि मोरपंथ और संत-ज्ञानेश्वर की पंक्तियाँ गुनगुनाता और हरि नारायण आप्टे के कथात्मक प्रसंगों का बखान करता। बदले में मैं उसे प्रेमचन्द, प्रसाद और निराला के हवाले देता।

छुट्टी के दिन हम अक्सर जमुना के किनारे टहलने जाते थे। कभी रेती पर, कभी मजनूं के टीले पर बैठ जाते। नदी के मन्थर प्रवाह को देखते कभी पीछे मुड़कर पहाड़ी को निहारते। रामकृष्ण बाँसुरी बजाता। एक हिलोर-सी गूँज जाती। बियाबान जंगल झूम उठता। कोई दर्द रामकृष्ण के हृदय से उठता और बाँसुरी के स्वरों पर तैरता हुआ हमारे चारों तरफ फैल जाता।

मैं अक्सर उन क्षणों में उस दर्द की थाह लेता हुआ सोचता और उस दिन की कल्पना में डूब जाता जब रामकृष्ण पन्नालाल घोष की तरह पूरे देश में मशहूर कलाकार के रूप में मान्यता पा लेगा और मैं हिन्दी का दूसरा सूर्यकान्त त्रिपाठी कहलाऊँगा।

छुट्टी की दोपहर शाम में बदल जाती और फिर सूर्यास्त के धुँधलके में अपनी तिमारपुर नामक बस्ती की ओर मुँह किए हुए हम उस पहाड़ी से उतर रहे होते जिसकी कि सिर्फ याद बाकी रह गई है। अस्ताचल का गेरुवा सूरज हमारे सामने डूब रहा होता। डूबते हुए सूर्य को देखते हुए, शेक्सपीयर के किसी सानेट की चर्चा करते हुए रामकृष्ण भाव-विभोर हो उठता और हम पहाड़ी की चट्टानी सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते अपनी बस्ती में लौट आते।

रामकृष्ण प्रायः धनी लोगों का मजाक उड़ाया करता। बड़े ओहदेदार, रुतबेदार, कार-कोठियों वाले व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाते हुए मजेदार क़िस्सा गोई चुटकले बाजी की फुल-झड़ियाँ छोड़ता हुआ वह मुझसे विदा लेता।

समय बीतने पर रामकृष्ण में एक 'बदलाव' आता दिखाई दिया। वह गंभीरता और व्यस्तता की दुरंगी ओढ़ने लगा। हमारी दोस्ती फीकी पड़ने लगी और फासला बढ़ता गया।

इस परिवर्तन का कोई कारण उस समय मेरी समझ में नहीं आया। गरचे इस बात को लेकर मैं कई दिनों तक परेशान जरूर रहा। कई वर्षों बाद आज जब मैं भी दुन्यावी होने लगा हूँ (या यूँ कहें कि दुन्यावी होने के लिए विवश और अभिशप्त हो उठा हूँ) तो रामकृष्ण के चरित्र में 'बदलाव' की प्रक्रिया के रहस्य को कुछ-कुछ पहचानने लगा हूँ।

इस 'बदलाव' के पहले दौर में रामकृष्ण ने सरकारी क्लर्की छोड़ दी और वह एक बैंक के चीफ का पी० ए० हो गया था। अब उसे न तो बाँसुरी बजाने की फुर्सत थी और न शेक्सपीयर पर चर्चा करने की।

'बदलाव' का दूसरा दौर जब आया, तो उसने अपने से काफी कम उम्र की एक व्यावहारिक और दुनियादार लड़की से शादी कर ली। शादी के बाद उसके स्टेटस में परिवर्तन आया। वह बैंक में एक अधिकारी बन गया था और उसने एक मकान भी बनवा लिया था। यह मकान रहने लायक किन्तु साधारण ढंग का था।

'बदलाव' का तीसरा दौर आया तो वह बैंक का जनरल मैनजर हो गया था। उसने पुराना मकान बेच कर एक नई आलीशान कोठी बनवाई थी और एक चमचमाती हुई कार भी खरीद ली।

'बदलाव' के दूसरे और तीसरे दौर में अन्तर सिर्फ़ इतना था कि पुराने मकान में एक अलमारी थी जिसमें किताबें और बाँसुरी रखी गई थीं; उन पर धूल जमी रहती थी, फिर भी वे

वहाँ बरकरार थी। लेकिन नई कोठी में आने पर उसने किताबें और बाँसुरी कबाड़ी के हवाले कर दीं क्योंकि यहाँ उन पुरानी चीजों के लिए अब कोई गुंजायश नहीं रही थी।

मुझे दुःखद समाचार मिला कि रामकृष्ण की माँ का निधन हो चुका है। मैं उसके घर पर गया। समाचार मुझे देर से मिला था अतः मैं इस दुर्घटना के एक माह बाद मिलने गया। वहाँ जाकर एक और दुर्घटना की खबर मिली कि रामकृष्ण की बहन, जिसका विवाह एक बेरोजगार युवक से हो चुका था, लम्बी बीमारी के बाद दिवंगत हो चुकी है। काफी देर तक मैं उससे बात-चीत करता रहा। कुछ अवांतर प्रसंग भी चर्चा का विषय बने। रामकृष्ण को मेरी साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक गतिविधियों के बारे में जानकारी तो थी मगर दिलचस्पी बिल्कुल नहीं थी। वह एक पहेलीनुमा रहस्यात्मक अंदाज के साथ मेरी कारगुजारियों का जिक्र छिड़ जाने पर मुस्कराया। फिर उस मुस्कराहट की चीनी में उपदेश की कुनीन मिला कर उसने मुझे ऐसी डोज दी कि मेरा कलागत बुखार ही उतरता नजर आया—। वह कह रहा था—

'साहित्य, कला और राजनीति अपनी जगह हैं लेकिन मनुष्य को आर्थिक दृष्टि से सक्षम और व्यवहार कुशल तो होना ही चाहिए। आदमी के पास एक घर होना चाहिए। कब तक किराए के क्वार्टरों में धक्के खाते रहोगे। प्लाट खरीद लो, एक मकान बना लो, फिर जो चाहे करो। मेरी नहीं मानोगे तो पछताओगे! परिवार को लेकर दिल्ली में रह नहीं सकोगे। किराए बढ़ते जाएंगे। एक दिन आएगा कि सारी तनख्वाह किराए में चली जाएगी। दिल्ली छोड़कर गाजियाबाद या सोनीपत भागना पड़ेगा। कोई नहीं पूछता आजकल साहित्य-वाहित्य को। मैं तुम्हारा शुभचिंतक होने के नाते ऐसा कह रहा हूं, बुरा मत मानना मेरी स्पष्टवादिता का!'

मैंने महसूस किया कि उसके भीतर घटते हुए कला-प्रेम ने उसकी और मेरी उम्र के अंतर को बढ़ा दिया है। वह दोस्ती के लहजे में बात नहीं कर रहा था। अपनी उम्र का हिसाब उसके दिमाग में था और एक सीनियर शुभचिंतक के रूप में उसकी मुद्रा देखते बनती थी।

मैं घर लौटा तो उसके उपदेश का असर मुझ पर बना रहा। कुछ दिनों के लिए सब काम छोड़ कर एक प्लाट खरीदने के चक्कर में मैं दौड़-धूप करता रहा। लेकिन सफलता नहीं मिली। बड़े भाई ने एक प्लाट दिखाया। मैंने डेढ़ हजार की पेशगी दे दी। लेकिन प्लाट-विक्रेता पेशगी लेकर नदारद। बाद में पता चला कि सारा मामला फ्रेक था। प्लाट विक्रेता बड़े भाई का रिश्तेदार था। तब भी पेशगी की रक़म से हाथ धोना पड़ा।

कोई दो बरस बाद मेरी माँ की मृत्यु हो गई। रामकृष्ण आया और उसने माँ के पार्थिव शरीर पर एक कीमती दुशाला चढ़ाया। मेरी माँ पिछले चार वर्ष से बीमार थी, तब बीमारी के दौरान वह मुझसे या मेरी माँ से मिलने कभी नहीं आया।

"माँ का दाह संस्कार कर हम लौट रहे थे। रामकृष्ण और उसका समधी भी हमारे साथ-साथ लौट रहे थे। मेरे बड़े भाई ने पूछ लिया—

"रामकृष्ण आज कल कैसा चल रहा है···"

"फ़स्ट क्लास! चैन और आनंद ही आनंद है!" रामकृष्ण ने तपाक से कहा जैसे तमाचा-सा जड़ दिया हो।

रामकृष्ण के समधी किसी जिले के डिप्टी कलक्टर थे। रामकृष्ण ने बड़ी शान के साथ उनका परिचय कराया।

मुझे रामकृष्ण का पुराना इतिहास याद आ गया था। गेटकीपर से जनरल मैनेजर! मैंने

कह ही दिया —"रामकृष्ण जी आपने, कहाँ से शुरू किया था और कहाँ तक पहुँचे याद है ना !"

मेरा यह कहना रामकृष्ण को कतई रास यहीं आया। बल्कि उसे बुरा लगा। उसे अब अपने इतिहास में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। वह नहीं चाहता था कि उसका समधी एक भूतपूर्व गेटकीपर, टाइपिस्ट, स्टेनोग्राफर और पी० ए० आदि के रूप में उसकी कल्पना भी करे। वह अब जनरल मैनेजर है। बस इतना जानना काफी है। दरअसल वह अब एक ऐसे तैयार माल के रूप में, एक 'फिनिश्ड प्राडक्ट' के रूप में अपने को देखना पसंद करता था जिसका अब उस 'कारखाने' से कोई रिश्ता नहीं रह गया था जहाँ कि उसका 'उत्पादन' हुआ था। अपनी पूर्व कथा में उसे कोई रुचि नहीं रही थी। अपने अतीत और इतिहास को वह पूरी तरह भूल चुका था। उसके सामने था केवल वर्तमान और तरक्की-दर-तरक्की की सीढ़ियों वाले भविष्य के सपने !

उसने झटपट पैंतरा बदलते हुए बिल्कुल बेमुरव्वत होकर कहा—"हमें अभी जाना है..." और उत्तर की इन्तज़ार किए बिना तीर की तरह अलग हो लिया।

समधी का हाथ पकड़ कर वह उसे लगभग घसीटता हुआ चला गया। नमस्कार, शिष्टाचार या लोकाचार सूचक कोई भी शब्द उसने न तो कहना जरूरी समझा और न सुनना ! वह सरपट दूर होता जा रहा था, एक तेज रफ्तार के साथ दौड़ती हुई मशीन की तरह !

मरुद्वीप

□ उषा यादव

रोगिणी की समूची देह में दो बड़ी-बड़ी आँखों के सिवाय बचा ही क्या था ? कंचन काया पहले भी न थी, पर अब काया के नाम पर हड्डियों का हिलता कंकाल शेष था। देखने में वह मूर्तिमती करुणा जान पड़ती थी। नाम भी उसका यही था—करुणा।

पलंग नहीं गद्दा-तकिया नहीं, मात्र एक टूटी झिलंगी खटिया में पड़ी हुई थी वह ! पूरी जिंदगी उसने इसी तरह उपेक्षा की हालत में काटी। नरम बिछौने पर सोने का सुख कभी नहीं जाना। जीवन की अविस्मरणीय रात, सुहागरात को भी नहीं।

उस रात चचिया सास के मेहमानों से ठसाठस भरे दो कमरों के मकान में कहीं रत्तीभर जगह न पाकर रसोईघर में नवदंपति की सोने की व्यवस्था की थी। एक कोने में आटा-दाल के कनस्तर, दूसरे में अंगीठी, खाना पकाने के बर्तन और उन्हीं के बीच जगह निकाल कर जमीन पर बिछी दरी-चादर। शायद घर में जगह की कमी वह बरदाश्त भी कर लेती, यदि पति के दिल में अपने लिए जगह पा जाती। पर स्थानाभाव वहाँ भी था। किशन दाँत किचकिचाते हुए बोले थे—"छि: मेरी तकदीर में तू ही लिखी थी ! यह मनहूस चौखटा लेकर कहीं डूब मरी होती तो ज्यादा अच्छा रहता। इस इंटर पास थर्ड डिवीजन को जिन्दगी भर ढोने की कल्पना से ही शरीर थरथरा रहा है।"

शरीर तो उसका भी थरथरा रहा था। एक हृदयहीन इंसान के साथ जिंदगी काटने की कल्पना मर्मान्तक थी। पुरानी सूती धोती में लिपटी उसकी देह रह-रहकर झंझावात की दीप-शिखा बन रही थी।

नई बनारसी साड़ी चचिया सास ने ससुराल में आते ही उतरवा ली थी—"पीहर से जो बनारसी-कांजीवरम लाई है, उन्हें ही पहन ले। चढ़ावे की इस साड़ी पर तेरा कोई हक नहीं है।"

अपना कसूर एक बारगी समझ नहीं सकी थी वह। डरी-डरी नजरों से देखती भर रही थी। चचिया सास ने ही सब शिकायतों की पोटली खोल दी थी कि भरपूर दहेज न लाने के कारण उसे यह सजा मिल रही है। अपने सोने-से भतीजे के माटी मोल बिक जाने पर अगर वह दु:ख और क्षोभ से पागल हो उठी हैं तो क्या आश्चर्य ? बाप के किये की सजा अब जिंदगी भर बेटी को भोगनी पड़ेगी। इस घर में टके-टके की चीज के लिए मोहताज रहना पड़ेगा।

फटकार सुनकर एकदम अवसन्न हो उठी थी वह। आदेश पालन में पल भर का विलम्ब जब उद्दण्डता समझा गया तो उसने काँपते हाथों से नई साड़ी उतार दी थी और जमीन पर

घृणापूर्वक फेंकी हुई फटी धोती उठाकर पहन ली। कलेजे में दर्द की एक लहर उठी थी, जिसे आँखों का मोती बनने से पहले ही अधरों ने भींच लिया था। यों पीड़ा पी लेने का पहला अनुभव नहीं था यह। मायके में इसकी अच्छी-खासी अभ्यस्त हो चुकी थी वह।

माँ हमेशा दीदी की उतरन उसकी तरफ फेंकते हुए कहती—"ले इसे ही पहन ले। पहले ही दो लड़कियों को पहना-ओढ़ाकर इतना अघा चुकी हूँ मैं कि अब तीसरी के लिए कोई चाव बाकी नहीं रहा है।

मासूम बच्ची के लिए उपेक्षा का यह दंश कितना पीड़ादायक था, इसे जब जन्म देने वाली माँ ही नहीं समझ सकी तो दूसरा कौन समझता? ससुराली तो फिर भी पराये थे। उन्हें वह किस मुँह से भला-बुरा कहती? न पहले चचिया सास से एक शब्द कह सकी थी, न बाद में पति से। नई दुल्हन की वह सारी रात घुटनों में मुँह छिपाये, जमीन पर बैठे कटी थी। किशन ऐंठते हुए कहाँ चले गये थे, उसे मालूम नहीं। शादी की इकलौती बनारसी साड़ी किस चचेरी ननद के तन की शोभा बनी, यह भी नहीं जान सकी थी।

हाँ, इतना अवश्य जानती थी कि घूरे की तरह बारह बरस में ही सही, उसके दिन कभी-न-कभी जरूर लौटेंगे। आत्मतुष्टि के किन्हीं दुर्लभ क्षणों में किशन उससे पूछेंगे—"तुम बड़ी भोली हो करुणा! मुँह खोलकर कभी कुछ माँगती ही नहीं। बताओ, तुम्हें क्या चाहिए?"

"एक बढ़िया बनारसी साड़ी।" वह सकुचाकर जवाब देगी।

"कैसी साड़ी लोगी, बोलो?"

और प्रत्युत्तर की कल्पना मात्र से उसके अन्तर में गुलाब झर उठते थे।

कभी मन शोख लाल रंग की बनारसी साड़ी के लिए मचलता, जिस पर सुनहरी जरी का पल्लू, बार्डर झिलमिलाकर प्रिय के अनुराग की व्यंजना करता हो, कभी आसमानी साड़ी के लिए उत्कंठित होता, जिस पर रूपहली जरी का काम नक्षत्र खचित आकाश का संभ्रम उपजाता हो और कभी लाल बार्डर की मयूरपंखी साड़ी के लिए ललकता, जिसका परिधारण किसी भी नारी के मन में सौंदर्य के प्रति आत्म विश्वास जमा सकता हो।

पर मधुर मिलन के ये भाव-भीने क्षण उसकी जिन्दगी में कभी नहीं आये। किशन सस्ते कपड़े की दो धोतियाँ साल में एक बार ले आते और उसके बाद भूलकर भी उसकी जरूरतों के बारे में नहीं पूछते। पति के पुराने पजामों से उसके पेटीकोट और फटी कमीजों से ब्लाउज बना करते। सिलाई की मशीन घर में थी नहीं, सो हाथ में सुई धागा लेकर घंटों कपड़ों को गूँथती रहती।

फिर भी पागलपन कभी-कभी किसी नटखट शिशु-सा चाँद को अपनी बाहों में लेने के लिए मचल उठता था। नाली पर बैठकर जूठे बर्तन माँजते उसके हाथ अचानक थम जाते। लगता, जैसे किशन कह रहे हैं—"चलो करुणा, आज तुम्हें सिनेमा दिखा लाऊँ।"

"आपने पहले क्यों नहीं कहा? अब तो खाना बनाने का वक्त हो रहा है।"—वह जवाब दे रही है।

"खाने को मारो गोली।" वहीं किसी बढ़िया होटल में डिनर ले लेंगे।

"घर में चाची भी तो हैं, उनके लिए क्या इन्तजाम होगा?"

"बुढ़िया अपना खाना खुद बना लेगी। तुम्हारे भी तो यही घूमने-फिरने के दिन हैं।

कभी तो इस पिंजरे से बाहर निकला करो। बाहर फैला हुआ आसमान है, चहचहाते हुए पक्षी हैं, गुनगुनाती हुई हवा है, उनका भी तो कभी आनंद लिया करो।"

मधुर कल्पना अचानक भयावह यथार्थ में बदल जाती। चचिया सास उसकी चोटी खींचती हुई कहती—"घंटे भर से एक ही पतीली रगड़े जा रही है चुड़ैल ! बर्तन घिसेगा नहीं ? तेरा मरा बाप क्या आसमान से उतरकर बदले में नई पतीली देगा ?"

बिलबिलाकर रह जाती वह। सिनेमा-थियेटर भूलकर जूठे बर्तनों की दुनिया में आ जाती।

कैसी विडम्बना है कि सुख उसे माँगने पर भी नहीं मिला, पर तीन बच्चे अयाचित ही प्राप्त हो गये। ज्यों-ज्यों वक्त गुजरता गया, सुख की लालसा जाड़े की धूप-सी उसके मन के आँगन से फिसलती चली गई। धूप भी तो खुले हवादार आंगन में ही किलकारियाँ भरती है। अंधेरी गली के सीलन भरे मकान में क्या वह दूर से ही अपनी मायावी झलक दिखाकर गायब नहीं हो जाती ?

उस दिन एकदम अवसन्न हो उठी थी वह, जब पाँच साल के पुत्र को बिल्कुल अपने पिता के अंदाज में अकड़ते हुए देखा था—"गंदी औरत, मैं पीट-पीट कर तुम्हारा हलवा बना दूँगा।"

इच्छा हुई थी कि नवीन के गाल पर तड़ातड़ दो-चार तमाचे जड़ दे, पर खुद को बलपूर्वक रोक लिया था उसने। व्यर्थ ही घर में तूफान लाने से क्या फायदा ? पहले चचिया सास उसकी सात पीढ़ियों को कोसेंगी, बाद में नमक-मिर्च लगाकर किशन से पूरी घटना का बखान करेंगी। उसके बाद दोनों प्राणी चीख-चीख कर आसमान सिर पर उठा लेंगे—"तेरी इतनी मजाल, हमारे बच्चे पर हाथ उठाया !"

इसलिए मन के आवेग को फीकी हँसी में उड़ाते हुए नवीन से बोली थी वह—"मेरा हलवा बनाओगे, लेकिन क्यों ?"

"मेरा अभी खेलने का मन था। तुमने मेरे दोस्तों को जाने के लिए क्यों कहा ?"

"बेटे, सुबह से अब तक खेल ही तो रहे तुम। चलो, अब नहाकर खाना खा लो।"

"मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा खाना-वाना ?" —बच्चा किसी हिंस्र पशु की तरह चीख उठा था—"तुम कमीनी हो, डायन हो, इंटर पास थर्ड डिवीजन हो।"

"माँ से इस तरह बोला जाता है ?" —उसने आहत कंठ से पूछा था।

"और किस तरह बोला जाता है ?" —बेटे ने उद्दण्डता से अपनी नन्हीं छाती तान दी थी—"पापा भी तो तुमसे इसी तरह बोलते हैं।"

रुलाई रोकने के अथक प्रयास के बाद सिर्फ इतना कह सकी थी वह—"उन्हें कहने दो। तुम तो कम-से-कम अपनी माँ की इज्जत करना सीखो।"

कहने के साथ ही आँखों से टपाटप आँसू बरसने लगे थे। बच्चा बात का मर्म चाहे न समझ सका हो, माँ के आँसुओं को देख विचलित जरूर हो उठा था। झिझकते कंठ से कुछ पल बाद बोला था—"चुप हो जाओ माँ, अब मैं तुम्हें कभी गंदी औरत नहीं कहूँगा।"

पर इस आश्वासन से टूटा हृदय न जुड़ सका था। वह समझ गई थी कि माँ की पीड़ा को महसूस करने वाली संवेदना उसकी संतान तक में नहीं है।

दोनों बेटे सचमुच पिता का प्रतिरूप थे। बिटिया नेहा में अवश्य माँ के प्रति हमदर्दी

थी, पर वह नादान कर ही क्या सकती थी ? एक बार दीवाली पर मचलते हुए बोली थी—"पापा, इस बार त्योहार पर माँ के लिए नई साड़ी ला दो न ?"

"जैसे यह कोई मजेदार चुटकुला हो, इस तरह ठठाकर हँस पड़े थे किशन—"इस मेहतरानी के लिए नई साड़ी ? हा—हा—हा, इसे पहनाने से अच्छा होगा कि नई साड़ी को कीचड़ में फेंक दिया जाए ।"

अपमान की यंत्रणा से तड़प उठी थी वह। पति के जाने के बाद देर तक बच्ची पर बरसती रही थी—"क्यों री, तुझे पापा से मेरी सिफारिश करने के लिए किसने कहा था ? जब इतने दिन नई साड़ी के बिना गुजारा किया, तो अब उसे पहने बिना मर नहीं जाऊंगी । वे भी कान खोलकर सुन लें, मुझे किसी साड़ी-वाड़ी की जरूरत नहीं है । मेरे लिए यह फटी धोती ही तन ढकने को काफी है ।"

पर यह दिल की नहीं, जबान की बात थी। दिल तो जहाज के पंछी की तरह लौट-फिर कर बनारसी साड़ी पर ही आ टिकता था । किन्तु जब समय चक्र चलता गया और बेटे-बेटी ब्याह गये, तो उस लालसा का औचित्य स्वतः खत्म हो गया। बुढ़ापे में सादी धोती ही भव्यता और गरिमा की प्रतीक थी। लाल बनारसी साड़ी में लिपटी बूढ़ी देह की कल्पना ही लज्जास्पद थी।

बूढ़ी देह भी अब सिर्फ बूढ़ी कहाँ थी। छोटे-मोटे रोगों ने सालों-साल चिपटे रहकर उसे खोखला बना दिया था ।

एक ठंडी साँस भरकर करुणा कसमसाई, तो उस जैसी ही जर्जर उसकी चारपाई चरमरा उठी। आहट पाकर कुछ दूर बैठी बाल संवारती नेहा पास खिसक आई—"ज्यादा तकलीफ है माँ ?"

"न"

"मैं थोड़ी देर तुम्हारा सिर दबा दूं ?"

"रहने दो बिटिया ! देवेश ने कहीं चलने के लिए कहा है न, जाओ घूम आओ।"

"मेरा मन नहीं है माँ ! तुम्हें इस हाल में छोड़कर बाजार-हाट जाने को जी नहीं चाहता है।"

"मैं ठीक हूँ, सिर्फ़ थोड़ी-सी कमजोरी है। अभागों को मौत भी नहीं पूछती है बेटी ! तुम नाहक चिन्ता करती हो"—करुणा फीकी हँसी हँस दी।

नेहा की आँखें भर आईं, गंभीर होकर बोली—'मैं यहाँ दो दिन तुम्हारी सेवा करने के लिए आई हूँ। भाभियों के पास तो वैसे ही आने की फुरसत नहीं है, तुम मुझे भी जहाँ-तहाँ घूमने के लिए भेज देती हो।"

"तो क्या हुआ, बाहर निकलने से तनिक मन बदल जाता है।"

"कल पड़ोस में बहू देखने के लिए जाना भी मुझे अखर गया था। लोगों ने क्या सोचा होगा कि बीमार माँ को छोड़कर लड़की बनी-संवरी घूम रही है।"—नेहा ने क्षुब्ध स्वर में कहा।

"सारा दिन सिरहाने बैठे रहने से क्या मैं जल्दी ठीक हो जाऊँगी ?"—करुणा ने उसे प्यार से समझाया—"देवेश तुम्हें लेकर आ गये, यही बहुत है। तुम्हें उनके साथ घूमती-फिरती

देखकर मुझे सुख मिलता है।"

नेहा क्या बोलती? चुपचाप तैयार होने चली गई। कुछ देर बाद पास आकर बोली—"हम लोग जा रहे हैं, माँ! तुम घर का ख्याल रखना।"

"दरवाजा उड़काती जाओ।"—कमजोर आवाज में करुणा ने कहा और आँखें मूंद लीं।

कुछ पल बाद बंद आँखें खोलीं, तो दृष्टि सीधे अलगनी पर टँगी उस बनारसी साड़ी पर जा टिकी, जिसे नेहा कल पड़ोस की बहू देखने के लिए पहनकर गई थी। मन में फितूर उठा कि उस साड़ी को वह एक बार पहनकर देखे। सुनसान घर है, कोई जान भी न सकेगा।

मन के इस पागलपन को पहले धिक्कारा उसने—छिः, आयु के इस मोड़ पर, आसन्न मृत्यु बेला में यह आसक्ति कैसी? ऐसी कमजोरी तो मन में तब भी नहीं जागी थी, जब बेटों और बेटी की शादी के मौकों पर घर में ढेरों साड़ियाँ-कपड़े खरीदे गये थे। तब जो मन वीतराग संन्यासिनी-सा निष्कामी हो उठा था, वही आज बिल्कुल बौरा गया है क्या, जो ऐसी मूर्खतापूर्ण हरकत करने की बात सोच रहा है?

पर मन तो जैसे अवश हो उठा था। वह कोई वर्जना, कोई संयम, कोई अंकुश मानना नहीं चाहता था। करुणा उठी और लड़खड़ाते कदमों से उस ओर बढ़ चली। हाथ बढ़ाकर साड़ी को अलगनी से उतार लिया उसने। फुर्ती से पुरानी धोती उतार कर साड़ी पहन ली और कोने में रखे आदमकद शीशे में स्वयं को सिर से पाँव तक निहारने लगी।

एक पल में उसका मन वर्षों पीछे पहुँच चुका था। कोई पीड़ा, कोई अवसाद नहीं था। सिर्फ एक मीठी, सुहानी, सुखद स्मृति मात्र थी।

शादी के वक्त सहेलियाँ कह रही हैं—"तुझ पर तो आज अनोखा रूप चढ़ा है करुणा! शीशा मत देखना, वरना खुद को नजर लगा लेगी।"

उसके बाद एक समवेत खिलखिलाहट से कमरा गूंज उठा।

शीशा देखने की अदम्य लालसा मन में उठी, पर चाची-ताइयों के सम्मान के कारण निगाहें झुकाए बैठी है वह। बस में बैठकर ससुराल जाते समय उसने सोच लिया है कि अब सुहाग कक्ष में एकांत पाने पर खुद को सिर से पाँव तक निहारेगी। आखिर जाने तो सही कि कैसा रूप चढ़ा है उस पर?

पर अचानक यह कौन चीखने लगा है? क्या चचिया सास है?

घबराकर पीछे मुड़ी वह तो द्वार पर खड़ी नेहा को देखकर स्तब्ध रह गई। भौचक्की नेहा मुँह फाड़े खड़ी थी। चीख उसी के मुँह से निकली थी।

आकस्मिक आघात से उबरने में नेहा को कुछ पल लगे। कुछ भी हो, वह बेटी थी। माँ की यातनाएँ उसने नजदीक से देखी और महसूस की थीं। उसे खुद पर शर्म आई कि माँ को इन कमजोर क्षणों में उसने देखा ही क्यों? अपनी बिगड़ी कलाई की घड़ी को घर से निकलते समय ड्रेसिंग टेबिल पर क्यों भूली वह? यह तो अच्छा हुआ कि देवेश ने वापिस लौटने के बजाय सार्वजनिक वाचनालय में बैठकर अखबार देखना पसंद किया था, नहीं तो माँ की लज्जा पति के समक्ष निरावृत होती देख क्या वह स्वयं शर्म से मर न जाती?

नेहा ने आगे बढ़कर माँ की दुर्बल देह को अपनी बाहों में भर लिया—"यह साड़ी तुम पर बहुत खिल रही है, माँ! इसे कुछ देर तुम पहनी रहो।"

अचानक कुहासा मिट गया। करुणा के जड़ और सपाट चेहरे पर चेतना की उजली

धूप फैल गई। पहले विस्मित फिर लज्जित और तब व्यथित हो उठी वह। विषाद भरे कंठ से बोली—"पहनने की उमर थी, तब फटी धोती में गुजारा किया। अब तो सब कुछ खत्म हो चुका है। भगवान की मरजी हुई तो अगले जनम में ही ऐसी साड़ी पहनूँगी।"

दुर्बल हाथों से बेटी की मूल्यवान साड़ी उतार दी उसने ! साड़ी के बदन से अलग होते ही वह लड़खड़ाई और तड़प कर गिर पड़ी। उसी पल उसकी देह निष्प्राण हो चुकी थी।

पास खड़ी नेहा को सहसा यकीन नहीं हुआ कि माँ उसे सदा के लिए छोड़कर चली गई है। जब आभास हुआ तो उसने उन्मत्त की भाँति जमीन पर पड़ी साड़ी उठाकर माँ की बेजान देह पर डाल दी। मन चीख उठा कि क्या साड़ी जैसी मामूली चीज में तुम्हारे प्राण अटके हुए थे माँ ? उसे पहनते ही सांसारिक माया-मोह के बंधन काटते तुमको तनिक देर न लगी। पर कुछ बोल नहीं सकी वह। अधर निःशब्द हिले—"हो सके तो पापा को क्षमा कर देना, माँ !"

नेहा यंत्रवत ड्रेसिंग टेबिल की ओर बढ़ी और उसने अपनी कीमती विदेशी परफ्यूम की शीशी लाकर माँ के सिरहाने रख दी। अगली बार जाकर वह पाउडर उठा लाई। उसके बाद क्रीम, फिर लिपिस्टिक और तब रंग-बिरंगी बिन्दियों का पैकेट लाकर खामोशी से रखती गई।

फिर पास बैठकर माँ के निकट चेहरा झुकाकर बोली—"सुनती हो माँ, आज तुम्हारी जिन्दगी भर की साधें एक साथ पूरी होंगी। चवन्नी की बिन्दी के लिए हमेशा तरसी हो तो क्या हुआ, आज तुम्हें सिर से पाँव तक नई दुल्हन का श्रृंगार नसीब होगा। पापा भी अब इसमें कोई अड़ंगा नहीं लगा सकेंगे। अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ अपने हाथों से तुम्हें नई साड़ी और नई चूड़ियाँ पहनावेंगी, बिन्दी, सिन्दूर, आलता लाएँगी। जिस औरत की जिन्दगी एक वीरान रेगिस्तान रही हो, उसकी मौत अगर मरुद्वीप बन जाये, तो यह मामूली आश्चर्य है क्या ? पापा का अहसान मानो, जिन्होंने तुम्हें सुहागिन अवस्था में भगवान के घर जाने दिया है। विधवा होकर मरती तो अर्थी पर सिर्फ़ सफेद कफन ओढ़कर जाना पड़ता।"

नेहा ने तनिक झुककर माँ के सूखे, पीले अधरों को मृदुता से चूम लिया और उसकी रुलाई वेग से फूट पड़ी।

ग़ज़ल

□ ज्ञानप्रकाश विवेक

:: १ ::

ये कारवाने वक्त कसक छोड़ जाएगा।
हर रास्ते पे अपने सबक छोड़ जाएगा।

मारोगे तुम गुलेल परिन्दे को, और वो—
उड़ते हुए भी अपनी चहक छोड़ जाएगा।

जुगनू की सादगी का मैं कैसे करूँ बयाँ—
मर जाएगा, मगर वो चमक छोड़ जाएगा।

है चाँद तो लिखेगा मेरे हाथ पर नमन
आकाश है तो अपना उफ़क छोड़ जाएगा।

उतरेगा बादलों की तरह लम्स जब तेरा—
मेरी हथेलियों पे धनक छोड़ जाएगा।

बारूद बनके आएगा वो मेरे घर कभी—
कुछ दे न दे, पर अपनी धमक छोड़ जाएगा।

तू मानता है अपना मुकद्दर जिसे 'विवेक'—
ज़ख्मों पे तेरे वो भी नमक छोड़ जाएगा।

:: २ ::

ये ज़िंदगी, तू मुझको ज़रा आज़मा के देख।
मैं आईना हूँ, मुझमें ज़रा मुस्करा के देख।

मैं रेत पर लिखा हुआ अक्षर नहीं कोई—
तुझको नहीं यकीन तो मुझको मिटा के देख।

शीशा हूँ टूटकर भी सदा छोड़ जाऊँगा—
पत्थर पे एक बार तू मुझको गिरा के देख।

तुझमें परिन्दे अपनी बनाएंगे बस्तियाँ—
खुद को तू एक बार शजर-सा बना के देख।

सपना हूँ मैं तो फेंक दे आँखों को खोलकर—
आँसू हूँ मैं तो अपनी पलक पर उठा के देख।

क्या जाने टूट जाए अंधेरों का हौसला—
इन आँधियों में तू भी ज़रा झिलमिला के देख।

:: ३ ::

टिमटिमाता हुआ इक अश्क गिरा हो जैसे।
दूर मन्दिर में कोई दीप जला हो जैसे।

आईना इस तरह वो देख रहा था यारो।
मुद्दतों बाद उसे चेहरा मिला हो जैसे।

एक पागल था जो फिरता था परीशां होकर।
खुद को रखकर वो कहीं भूल गया हो जैसे।

आँख मलती हुई यूँ धूप खड़ी थी छत पर
नींद के बाद कोई बच्चा उठा हो जैसे।

यूँ दिखाती रही वो अपनी हथेली मुझको
मेरी किस्मत का कोई चाँद पड़ा हो जैसे।

:: ४ ::

वो चाँदनी है, धूप है या आफताब है।
जो भी है, आसमान की आँखों का ख्वाब है।

मेरे मकां की छत से टपकती है चाँदनी—
ये रोशनी का जश्न लाजवाब है।

माना कि तेज़ धूप है, नंगे हैं तेरे पाँव
साये की भीख माँगना फिर भी खराब है।

शैतान आँधियों ने उड़ाया है फाड़कर—
पतझड़ भी ज़र्द पत्तों की बिखरी किताब है।

उसमें बसी हुई हैं उदासी की खुशबुयें—
यादों की पोटली में जो सूखा गुलाब है।

बिटिया ने एक जुगनू पकड़कर कहा मुझे
—पापा, हमारे हाथ में इक माहताब है।

कविताएँ

□ गंगा प्रसाद विमल

निशान

यह पल बिताने के लिए
उठ गये होंगे अगले पल के कदम

क्या वक्त धक्का दे रहा है व्यतीत को
अगले मौसम के फल
इन फलों के बाद आयेंगे

जिस सिरे को पकड़े हैं हम
वह धीरे से खिसक
अगति के अंधेरे में होगा विलीन

अतीत की गुफा में
जमा है स्मृतियां और पुरखे
अनन्त है अतीत की दिशा भविष्य की तरह

पेड़ ठिठके हैं वक्त नहीं
सब चीजों पर छोड़ता है वक्त
अपने निशान।
वे प्रहार इतने अदृश्य हैं कि हम
उन्हें दूसरों में खोजते हैं।
खुद में नहीं

खुद अपनी व्यतीत गाथा में
पेड़ ठिठके हैं। वक्त नहीं।

सूखा

न वन-घाटियों की आग

न चीड़ की लपट

न कोई आकस्मिकता
खेत मैदान फटे । न कोई भूकम्प

जैसे बंजर सूखा आसमान
धरती पर आया हो उतर

सरकारी खबरें या दूसरे अखबार
कहते होंगे बहुत कुछ

किसानों की आँखें, घास लाती औरतों के पाँव
पानी उलीचते हाथ
मीलों-मील चलते कदम
कह देते हैं सब कुछ । हाँ……सब कुछ ।

तुम्हें सम्बोधित है यह

मैं तो तुम्हें देख रहा हूँ । सदियों से नहीं
कुछ ही वर्षों से

नींद से जागकर देखने जैसा नहीं
बल्कि आत्मग्लानि के रूप में

सदियों से ऐसा ही चल रहा है चक्र
तब भी मैं जिम्मेदार हूँ
इतने वर्षों के लिए

तुम्हें देख रहा हूँ काम करते
बोझा उठाते बर्तन माँजते
जुगत से गृहस्थी चलाते

खैनी में खुश होते
सत्तू में उत्सव मनाते

तुम्हें देख रहा हूँ शहरों गाँवों
कस्बों में। धीरे-धीरे कच्ची उम्र में
बुढ़ाते। मेरी तरह की आँखों में
छपे होंगे ये दृश्य
नहीं तो क्या अंधों की तरह
नहीं देखते होंगे लोग

हाँ—नहीं देखते होंगे
आज की तरह ही। उन्हें दिखते ही नहीं है
पटरियों पर सोते
इधर उधर बिखरे
सब ओर दीनता से तुम्हारी ओर टक लगाए
फिर भी नहीं दीखते ये लोग
यह कविता उन्हीं को सम्बोधित है……।

□ राजा खुगशाल

मैं खुश हूँ

मैं खुश हूँ कि अब मैं
वहाँ जा सकता हूँ
जहाँ बिना कुछ खाये पिये
सैकड़ों वर्षों तक रहा जा सकता है

जहाँ से गेंद की तरह दिखायी देगी पृथ्वी
और पृथ्वी के इर्दगिर्द
गुड़ की डली पर चींटियों की तरह
चिपके हुए नजर आयेंगे असंख्य तारे

खुश हूँ कि अब मैं
अपनी चिंताओं की
फुलझड़ियाँ छोड़ता हुआ
हर मुश्किल को धुँए की तरह पी जाऊँगा

धरती के नाम के एक एक अक्षर को
इस तरह चमकाऊँगा
कि युद्ध को भूल कर दुनिया
रोशनी के उत्सव में बदल जायेगी

मैं आकाश-गंगा को
जमीन की ओर बहाऊँगा

बादलों के बिस्तर पर
पृथ्वी के पहाड़ों नदियों और
फलों के सपने देखूंगा

चाँद से सूरज की ओर जाता हुआ
जब कोई दोस्त मिलेगा मुझे
हमारे सिर पृथ्वी की ओर
और पैर आसमान में होंगे

हमारे मिलने पर बेचारे
रोटी के बराबर तारे टूट जायेंगे
रंगीन हवायें चलेंगी
जिनमें उड़ते हुए कपास के रेशे
और कोयले के कण होंगे

एक दूसरे को कविताएं सुनाते हुए
हमारी पोशाक की बत्तियाँ
अचानक जल उठेंगी
और हम फिर हवा में तैरने लगेंगे
बतासों की तरह बिखरे हुए तारों के बीच

मैं खुश हूँ कि अब मैं
वहाँ जा सकता हूँ
जहाँ बिना कुछ देखे हुए
सैकड़ों वर्षों तक रहा जा सकता है।

दिन निकलते ही

दिन निकलते ही
मैं भी निकल जाऊँगा

शहरों
कल-कारखानों और
मजदूर बस्तियों को
पीछे छोड़ता हुआ
रेल की खिड़की से हरे भरे मैदानों को
जो भर देखता हुआ कल मैं
अपने गाँव पहुँच जाऊँगा

नदी के मुहानों पर
धान के डूबे हुए खेतों में
नहर नहर अपनी
रेत होती हुई जिंदगी की धूप को
गुनगुनाऊँगा

आँधियाँ उठेंगी
चाबुक-सी चमकेंगी बिजलियाँ
दरारें दिखेंगी
पुआल पर जाल बुनते हुए
मछुए मिलेंगे मुझे

बचपन के यार दोस्त
सोहन और सबरू
मंगतू और मनसा
नहीं होंगे गाँव में
कुछ बूढ़े बच्चे और औरतें होंगी

आंगन में
अनाज समेटती हुई
खुश होगी चंपा
खेलते हुए बच्चे
दौड़े आयेंगे

मुझे मेरे
बचपन के नाम से पुकारा जायेगा
और शीसम के पेड़ से
झुंड के झुंड उड़ जायेंगे
चिड़ियों के

सुनसान घोंसलों पर
एक बार फिर सपने
अपने पंख फैलायेंगे।

☐ अनिल विभाकर

ठूंठ पर टँगा चाँद

पतझर की चढ़ी हुई
पूरी की पूरी जवानी
उतर आयी है अमलतास पर
जिसकी ठूंठ पर आकर
ओ टँग गया है—
	एक पूरा चाँद
अमलतास के नीचे
खड़ा मैं—
और मेरी आँखें
कभी चाँद पर टिकती हैं
तो कभी उन टहनियों पर
जो खुद नंगी हैं।
मुझे बड़ी-बड़ी दरारों से पटे
खेत की तरह लगता है वह चाँद
और उसकी फटी-फटी-सी चाँदनी
उस फटे कपड़े की तरह
जिससे रधिया ने बनाया है
अपने खेत की रखवाली के लिए
	वह बिजूका
मिट्टी की हाँडी से
बना है सिर उस बिजूके का
जिसकी पेंदी पर भरी है
	दुनिया भर की कालिख।
अब मेरी आँखें
कभी चाँद पर टिकती हैं

तो कभी
उस बिजूके के सिर पर
        जिसे रधिया ने बनाया है।
रधिया के खेत से
उड़ी हुई धूल—
अब मेरी आँखों में आकर भर गयी है।
धूल अब इतनी गड़ रही है
कि आँखें बन्द कर
मैं भी उस दरख्त के सहारे
ओठंग कर बैठ गया हूँ।
अब,
अमलतास के नीचे
ओठंगा हुआ मैं हूँ
और ऊपर—
एक पूरा का पूरा चाँद
और रधिया के खेत का—
वह रखवाला
अब कभी मुझे देख रहा है
तो कभी उस चाँद को
जिसका सपना चकनाचूर होकर
उस दरख्त पर बिखर गया है।

पलाश

न जाने क्यों—
पलाश के लहलहाते फूलों की
मुस्कान देख—
मेरा मन
नंगी टहनियों की गोद में पड़ा
        एक गुमसुम घोंसला हो गया।

रोज सुबह
इससे निकलता है वनपांखी

और इस पर बैठकर देखता है
पड़ोस में बिखरे
पलाश के लहलहाते फूलों की मुस्कान
इसके बाद वह
निकल जाता है अपनी दिनचर्या पर।

और जब सूरज—
पश्चिम में पहुँचकर
हो जाता है गोयठे की एक चिपड़ी
लहलहाती आग
तब वह लौट आता है
और पलाश के फूलों पर
एक निगाह डाल
चुपचाप घुस जाता है घोंसले में।
तब तक मेरा मन
नंगी टहनियों की गोद में पड़ा
एक गुमसुम घोंसला बना रहता है।
और जब झरने लगते हैं पलाश के फूल—
तब मेरा मन
सेमल की सफेद रुई हो जाता है।
अब मेरा मन—
भारहीन हो गया है।
मौसम की तल्खी के बावजूद
रेशमी रुई-सा मेरा मन—
उड़ रहा है / निर्बंध होकर
खुले आकाश में।

और अब वह घोंसला
न तो नंगी टहनियों की गोद में है
और न गुमसुम
क्योंकि पतझर के गाँवों में
बसंत आ गया है।

☐ भारत यायावर

इतिहास

इतिहास भी अजीब गोरखधंधा है !
इसमें रहते हैं लुटेरे-हत्यारे ऋषि-संत
एक संग
एक संग हज़ारों वर्ष दिखाई पड़ते हैं
जिसे कहते हैं 'जन' वह कहीं दिखाई नहीं पड़ता
और होता भी है रामायण में तो बन्दर-भालू को शक्ल में
महाभारत में अक्षौहिणी सेना के रूप में / मरता है
पर कहाँ अलग से कोई चर्चा है ?
न अपना कोई चेहरा है
न अस्तित्व
और जहाँ भी दीखता है अलग चेहरा अस्तित्व
शम्बूक एकलव्य
इतिहास पुरुषों ने निर्ममता से मिटाया है
घटोत्कच जो पक्ष में है उसको भी मारा है

इतिहास भी अजीब गोरखधंधा है !
लोगों ने अपनी तरह से उसे बार-बार बनाया है बिगाड़ा है
अपनी तरह से बार-बार लोगों को समझाया है

कुछ लोगों के लिए इतिहास नहाने का दरिया है
लेटने की बिछावन है ओढ़ने की रजाई है
कुछ लोगों के लिए अन्धेरा कमरा है चमगादड़ों से भरा
कुछ लोगों के लिए मंच है भाषण का

पर भाई मेरे ! मैं तो इस गोरखधंधे की
असली जड़ों तक जाना चाहता हूँ
जहाँ इतिहास सिर्फ 'ह्रास' नहीं है कल का
वह मनुष्यों को आगे और आगे जाने की रोशनी है
अपने को माँजने और काँटों को साफ़ करने की वस्तु
इतिहास आज और कल की
गतिविधियों के स्रोत की खोज है
लड़ने की संघर्ष की क्षमता है

भाई मेरे ! पर यह क्यों बनाया जाता रहा है
अपनी ही चीज को इस तरह
कि गोरखनाथ भी गोरखधंधे की चीज़ दिखाई पड़ते हैं !

व्यंग्य

केशव केसन असि करी
जस अरिहू न कराय

बरसाने लाल चतुर्वेदी

केशवदास श्रृंगार रस के प्रसिद्ध कवि थे। उनके चित्रों को देखने से मालूम पड़ता है कि वे जवानी में खूबसूरत भी खूब रहे होंगे। उन्होंने एक दोहा लिखा था—केसव केसन असि करी, जस अरिहूँ न कराय। चन्द्रवदन मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाँय। सर के बाल सफेद क्या हुए, चन्द्रमा से मुखवाली तथा हिरण की आँखें जैसी सुन्दर आँखों वाली सुन्दरियाँ अब हमसे बाबा कहकर पुकारती हैं। केशवदास जी इस बात से इतने दुखी हुए कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि इन बालों ने मेरी इतनी हानि की है जो कोई दुश्मन भी नहीं करता। आप किसी बुजुर्ग से बातें करें, वह भी यही कहेगा कि जब कोई लड़की उसे 'अंकिल' कहकर पुकारती है तो उसका दिल तले हुए पापड़ जैसा टूटकर चकनाचूर हो जाता है।

मुसीबत के अन्दर एक फायदा भी छिपा हुआ है। प्रसिद्ध समालोचक एवं निबन्धकार बाबू गुलाबराय जब आगरा के एक कॉलिज में दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे तो उनके सहयोगी अपनी पुत्रियों को जो उच्च कक्षाओं में पढ़ती थीं, उनके घर पर सहायता लेने निःसंकोच भेज दिया करते थे। इस पर उक्त दोहे की एक 'पेरोडी' उन दिनों काफी प्रचलित थी—केशव केसन असि करी, जो मित्रहु न कराय। चन्द्रवदन मृगलोचनि ट्यूशन पढ़ि-पढ़ि जायँ।

बुजुर्ग होना अलग बात है, उसका अहसास होना दूसरी बात। आपने बाल तो काले रंग लिए, आप ठाठ से फर्स्टक्लास शूट और टाई लगाए बस में बैठने जा रहे हैं, आप खड़े रहने को भी तैयार हैं बस में भुस की तरह लोग भरे हुए हैं कि पढ़ी हुई एक युवती खड़ी होकर आपसे कहती है, "अंकिल आप बैठ जाइये।" और आपको बैठना पड़ता है, आप मानसिक रूप से जवानी के झूले में झूलते हुए अन्दर-अन्दर गुनगुनाते होंगे कि 'अभी तो मैं जवान हूँ पर बुरा हो इस बुजुर्ग पिता को आदर दिखाने की इस भारतीय परम्परा को कि उसने सब गुड़ गोबर कर दिया। करूँ क्या आस निरास हुई।

बुजुर्ग होने पर मुसीबतें द्रोपदी के चीर की भाँति बढ़ती चली जाती हैं। मैंने एक बार एक बुजुर्ग का अभिनन्दन समारोह देखा। पैसे वाले थे, नाती-पोते एक दिग्गज नेता को भी विशिष्ट अतिथि बनाकर ले आए। बुजुर्ग उम्र से तो बड़ी आयु के थे ही पर रंग रूप भी, इसके

बारे में न बताना ही बेहतर होगा। उनकी एक आँख गायब थी, उस पर मोटे काँच का नीले रंग का चश्मा धारण करा दिया गया था। व्यापार में लक्ष्मी बसती है इसीलिए व्यापारी पर लक्ष्मी की विशेष कृपा होती है। समारोह में अच्छी फीस देकर कुछ कवि तथा शायर भी बुला लिए गए थे। बहरहाल आयोजन भव्य था तथा वातावरण भी गमगीन था। बुजुर्ग जी के फर्म पर कई बार 'रेड' भी पड़ चुकी थी। भाषणकर्ताओं ने उनकी दानवीरता पर ही प्रकाश डाला था। उनको केवल अक्षर ज्ञान था। उनको जो अन्त में उत्तर देना था। उसे भी बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर उनको कई बार पढ़वा दिया गया था। जैसे ही उन्होंने अपना वक्तव्य पढ़ना प्रारम्भ किया, दो-तीन वाक्य ही पढ़े होंगे कि उनके नकली दाँतों की पूरी बत्तीसी टेबिल पर आ गिरी, बड़े क्या और छोटे क्या, सभी जोर जोर से हँसने लगे और इस तरह उनका वास्तविक अभिनन्दन हो गया। अब इस मुसीबत का किसे पता था?

जवानी में जो आपके चमचे रहे, दिन रात आपकी चमचागिरी करते रहे वे बुजुर्ग होने पर पहचानने से भी इन्कार करने लगते हैं। यार, देखो उधर से बुड्ढा आ रहा है बोर करेगा, उसे निकल जाने दो। आप कल्पना कीजिए कि यदि इस बुजर्ग के कानों में ये मधुर बोल पड़ जायेंगे तो उसका कलेजा छलनी नहीं जो जाएगा?

बुजुर्ग लोग मैगजीनों से ऐसी खबरें अथवा ऐसे लोगों के संस्मरण पढ़ते ही नहीं पाए जाते बल्कि उनमें आवश्यक अंश उतारते भी पाए जाते हैं कि लम्बी उम्र तक जवान बने रहने के कौन-कौन से नुस्खे हैं।

आदमी या औरत बुजुर्ग हो जाते हैं पर मन महाराज बुजुर्ग होने को राजी नहीं होते। यहीं मुसीबतें खड़ी हो जाती हैं। श्रवणकुमार की तो कहानी रह गई है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने बुजुर्ग मम्मी-डैडी को अपने कंधों पर बिठाकर चारों धामों की यात्रा कराई थी। एक स्थान पर ये भी सुना कि जब वे किसी महानगर की सीमा पर जा रहे थे, उन्होंने अपने माता-पिता को जमीन पर उतार दिया और आगे बढ़ने से इन्कार ही नहीं किया, अब तक जो सेवा करते आ रहे थे उस पर भी लानत डालना शुरू कर दिया। एक राहगीर ने श्रवणकुमार को समझाकर उस महानगर की सीमा से दूर ठहरने की सलाह दी। वहाँ जाकर उसने अपने माँ-बाप से क्षमा माँगी। ये उस पर उस महानगरी हवा का प्रभाव था। घर में जो काम कोई करने को तैयार न हो उसे बुजुर्गवार को बड़े आदरपूर्वक करने को कह दिया जाता है और सब तो काम वाले होते हैं, बेकार तो बुजुर्ग ही होते हैं। अंकिल साग-भाजी ले आना, साथ में डेरी से दूध भी ले आना, बेबी को डॉक्टर को दिखा आना, फलां का स्वर्गवास हो गया है उसके यहाँ भी हो आना, गैस वाले को फोन कर देना, टी० वी० खराब हो गया है, जरा मैकेनिक को भी खबर करवा देना आपकी वो मानता है जल्दी आ जाएगा, हम सब पिक्चर जा रहे हैं, जरा घर का ख्याल रखना, बेबी रोये तो उसे दूध पिला देना वगैरह वगैरह।

उर्दू के एक शायर ने फरमाया है : "हाय क्या बोझ बुढ़ापे में भरा था अल्लाह, सर तो सीने में घुसा पीठ कमर तक खम है।" आप सुबह घूमने के समय पार्कों में जाइए, बुजुर्गों की बेटीलियन बैंचों पर बैठी बात चीतों में इतनी सराबोर मिलेगी "कि केशव कहि न जाय का कहिए।" विषय वस्तु नाना प्रकार की होती है, पुत्र श्रवण कुमार है या कंस माडल, बहू जी शान्तरस हैं अथवा रौद्र रस, नाना प्रकार की बीमारियों तथा उनके ठीक करने की विधियाँ, जिन-जिन के साथ उन्होंने अच्छा व्यवहार किया वे कितने कृतघ्न निकले कि उनकी उपेक्षा

करते हैं । बुजुर्ग तो वैसे अच्छा शब्द है पर पीठ पीछे बुड्ढा खूसट भी सुनने में आता है वैसे ये जिन्दगी के पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय है। इससे बचना मुश्किल है, चतुर लोग इसे हँस कर काटने की चेष्टा करते हैं मूर्ख रोकर काटते हैं, धनवान हो चाहे गरीब, नेता हो या अभिनेता, सुन्दर हो अथवा असुंदर बुर्जुगियत का मुकुट तो पहनना ही पड़ता है और एक ही गाना याद रहता है—आता है याद मुझको गुजरा हुआ जमाना। 'अतीत की स्मृतियाँ' ही बुर्जगियत के रेगिस्तान में नखलिस्तान का काम करती हैं। संस्कृत साहित्य में एक श्लोक मिलता है 'अधः पश्यसि किं वृद्धे पतितं तव किं भुवि रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्य मौक्तिकम्।" अर्थात् अरी बुढ़िया नीचे क्या देखती है, जमीन पर तेरा कुछ गिर गया है क्या ? बुढ़िया ने कहा, "अरे मूर्ख तू नहीं जानता मेरी जवानी रूपी मोती चला गया है, उसी को मैं ढूंढ़ रही हूँ।" बुजुर्गों की मुसीबतों का इतिहास बहुत पुराना है, एक और रसिक वृत्ति के बुजुर्ग की दुख भरी दास्तान सुनिए :

आपाण्डुराः शिरासिजास्त्रिवली कपोले
दन्तावलिर्विगलिता न च मे विषादः
एणीदृशोयुवतमः पथि मा विलोक्य
तातेति भाषणपराः खलुवज्रपात

"मेरे सिर के बाल सफेद हो गए, मेरे चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, मेरे दाँत गिर गये, मुँह पोपला हो गया, इन सब बातों का दुख (मुझे नहीं है फिर दुःख) किस बात का है। दुख इसी बात का है कि अब हमारा कार्य केवल आशीर्वाद देने का ही रह गया, हमारे पैर ही छूकर लोग मुँह मोड़ लें, हम दिन भर आदरणीय विशेषण ही सुनते रहें ? 'ऊधों' मन नाहीं दस बीस "सब खेल मन का है, एक हुतो सो गयो श्याम संग को आराधे ईश।" ये ही गोपी यदि वृद्धा होती तो आसानी से अपना शेष जीवन ईश्वर की आराधना में लगा सकती थी, निराकार की आराधना में उन्हें कोई मुसीबत नहीं झेलनी पड़ती। किसी ने सच कहा है : जो जाके न आए वो जवानी देखी जो आके न जाये वो बुढ़ापा देखा।

शपथ महिमा

□ शेरजंग गर्ग

शपथ लेना अर्थात् प्रण करना, शपथ लेना यानी निश्चय करना, शपथ लेना यानी सत्य के पथ पर चलने का फैसला करना। शपथ खाकर किसी भी व्यक्ति को मजबूर किया जा सकता है कि वह आपकी झूठी बातों पर विश्वास करे। शपथ लेकर खुद भी गुमराह हुआ जा सकता है और दूसरों को तो पूरी तरह गुमराह किया ही जा सकता है। राजघाट पर गाँधी जी की समाधि पर शपथ लेकर हमारे शासक और विरोधी राजनेताओं ने कौन-कौन से गुल नहीं खिलाये।

कविवर बलवीर सिंह 'रंग' की प्रसिद्ध काव्य पंक्तियाँ हैं :

तुम्हारी शपथ मैं तुम्हारा नहीं हूँ
भटकती लहर हूँ किनारा नहीं हूँ

स्थूल अर्थों में समझा जाये तो इसका मतलब कुछ यों हुआ कि जिससे कोई सरोकार नहीं, मोहब्बत नहीं, लगाव नहीं, उसी की शपथ लेकर कहा जा रहा है कि हे प्रेयसि, तुम निश्चित रहो, मैं तुम्हारा नहीं हूँ। मगर काव्यगत अर्थों में किसी को अपना कहने की यह एक निहायत मासूम, नितांत भोली और अत्यंत प्यारी-सी अदा है, कवि का अनोखा अन्दाज़े बयां है जो शपथ को पर्याप्त ऊँचा और कुछ ज्यादा ही इज्जतदार दर्जा प्रदान करता है।

बदलती दुनिया, संभलती मानसिकता, प्रौद्योगिकी और टहलती-मचलती वैज्ञानिक जानकारी ने शपथ जैसे नैतिक और सम्मानप्रद शब्द को राजनैतिक दाँवपेंच का ज़रिया बना कर सम्पूर्ण शराफ़त, नैतिकता, सम्मान और निश्चय-विश्चय की ऐसी की तैसी कर दी है। आज शपथ खाकर कुपथ अपनाना, सत्य कहने का वायदा करके झूठ बोलना और झूठ बोलकर यह कह देना कि मैं गीता, बाइबल, कुरान, गुरुग्रंथ साहब वगैरह वगैरह पर हाथ रखकर, ईश्वर को हाज़िर-नाज़िर करके शपथ लेकर कहता हूँ कि जो कुछ कहूँगा सच कहूँगा, सच के सिवा कुछ नहीं कहूँगा। एक ऐसा फैशन, तमाशा, परम्परा अथवा हथकण्डा बन गया है, जो किसी काम में रुकावट पैदा करने की जगह तरावट पैदा करने में भरपूर योगदान करता है।

किसी राजकीय सेवा में प्रवेश के समय प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य निष्ठापूर्वक करने, राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानने, संविधान के प्रति पूरा आदर-सम्मान रखने आदि-आदि शपथ विधिवत् दिलाई जाती है। अब जिसे नौकरी करनी है और सेवानिवृत्ति की तारीख तक हर महीने वेतन बटोरकर सरकार, देश और इसकी कोटि-कोटि जनता पर अहसान किए जाना है और इसके बाद स्वर्ग का पासपोर्ट प्राप्त करने तक पेंशन का लाभ पाकर देश सेवा करते रहना है, वह तो डंका पीटकर, समस्त शंकाओं को चित करके बड़ी सरलता और सादगी से

शपथ लेगा ही। कितने व्यवहार कुशल हैं हमारे राजकीय सेवारत कर्मचारी कि आज तक किसी ने ऐसे अवसरों पर शपथ लेने से इनकार करने की ईमानदारी नहीं बरती।

भारत पर चीनी आक्रमण के समय की बात है। पुरानी दिल्ली के कुछ ज्यादा ही पुराने इलाके सदर बाजार में एक राष्ट्रीय कवि सम्मेलन था। आखिर चीनी आक्रमण का उत्तर देने के लिए इससे ज्यादा कारगर कोशिश हो भी क्या सकती थी। कविता की खुशकिस्मती कहिए, या बदकिस्मती, कवि सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए हिन्दी के एक स्वनाम धन्य हास्यरसाचार्य को आमंत्रित किया गया। हास्यरसाचार्य उन दिनों कुछ ज्यादा ही गंभीर दिखाई दे रहे थे। शायद चीनी आक्रमण के संकट के कारण अथवा कई घंटे तक गंभीर बने रहने का स्वांग रचने के स्वयं पर पड़े संकट के कारण। कारण चाहे कुछ भी, मगर वे थे घनघोर गंभीर। उनकी गंभीरता देखकर भला किसकी मजाल थी कि चीनी आक्रमण का जवाब देने में किसी प्रकार की अगंभीरता, लापरवाही या कोताही बरतता। नतीजा यह निकला कि कवियों ने चीनी चींटियों को कुचलने की शपथ खाने की झड़ी लगा दी। एक कवि चीन की चटनी बनाने पर आमादा हो गया तो दूसरा चीनियों का मुरब्बा बनाने की शपथ खाने लगा। मगर यह सब हुआ पूरी गंभीरता के साथ। अध्यक्ष की बारी आई तो उन्होंने भी धीर-गंभीर और किंचित अधीर स्वरों में शपथ लेते हुए कहा—

"साथियो, आज हमारे देश पर संकट है। हमारे पड़ोसी देश ने विश्वासघात करके हम पर धोखे से आक्रमण किया है। हमारे देश की भोली जनता, सीधी-सादी सरकार जिन चीनियों को अपना मित्र और भाई समझती थी, उन्होंने बड़ी निर्लज्जता से हमारे देश पर आक्रमण कर दिया है। मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि जब तक हमारे देश के आकाश पर, हमारी शस्य श्यामला भारत भू पर चीनी आक्रमण का संकट मँडराता रहेगा तब तक मैं न तो कोई हास्य रस की कविता सुनूँगा, न सुनाऊँगा और न कभी हँसूगा।"

यह प्रतिज्ञा दोहराते हुए तथा शपथ ग्रहण करते हुए हास्यरसाचार्य पर जो भी बीत रही हो, श्रोताओं और संयोजकों की हालत भी कम खस्ता नहीं थी। वहाँ मौजूद सभी लोग उनके इस निर्मम, कठोर मगर दृढ़ शपथ ग्रहण कार्यक्रम से सचमुच ही आतंकित हो गए थे। किस प्रकार निभेगी यह शपथ, कितने दिन पालन होगा इस क्रूर प्रतिज्ञा का और भला इस प्रकार की प्रतिज्ञा से हम भारतवासी चीनी दरिन्दों और आक्रमणकारियों को खदेड़ने में किस प्रकार सफल हो पाएँगे, यही प्रश्न उपस्थिति श्रोताओं के दिलोदिमाग़ में कौंध रहा था। समूचे सभा-गृह में खामोशी छा गई और उनके इस वक्तव्य की सराहना में तालियाँ पीटना भी मानो चीनी आक्रमण पर खुशियाँ मनाने के समान प्रतीत हो रहा था, इसीलिए सब हतप्रभ रहे, खामोश रहे।

हास्यरसाचार्य ने कभी हास्य रचनाएँ न सुनाने, हँसी-मज़ाक की बातें—कविताएँ न सुनने और खुद न हँसने की शपथ तो ले ली थी, मगर जिन्दगी भर उन्होंने लतीफेबाजी करने, हा हा, हू हू के मजे लुटने और हँसी-दिल्लगी करने के सिवा और कुछ किया ही नहीं था। मेरी मान्यता रही है कि हर आदमी सचमुच वही काम करता है जोकि वह वास्तव में कर सकता है। यानी किसी डॉक्टर से झाड़ू लगवाइएगा तो कचरा अपनी जगह वैसा-का-वैसा पड़ा मिलेगा और अगर किसी घोड़े को धोबी घाट ले जाइएगा तो कपड़े वहीं पटक कर वह रेसकोर्स की ओर दौड़ खड़ा होगा। फिर हम उसी बिन्दु पर पहुँचने को विवश हैं कि आदमी हो या डॉक्टर अथवा

कोई थोड़ा, करता वह वही है जोकि वह कर सकता है। हास्यरसाचार्य भी आखिर हँसने के सिवा और कर ही क्या सकते थे। गंभीरता का उनका नाटक काफ़ी देर चल पड़ा। हास्यरस कविताएँ उनके पास इनीगिनी की थी। श्यामनारायण पंडित की 'तलवार चली' की पैरोडी के रूप में उन्होंने अपनी "बन्दूक चली पतलून चली, चीनी दुश्मन को भून चली" रचना सुनाई तो आप समझ सकते हैं कि उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई होगी। कवि-सम्मेलन में निष्ठा-पूर्वक पधारे श्रोताओं ने ही नहीं, सीमा पार के चीनियों ने भी इन पंक्तियों को सुना होगा तो उनके पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गए होंगे। अब हास्यरस चीन ही नहीं हास्यास्पदता की सीमा भी पार कर चुका था। हास्यरसाचार्य ने शपथ खा भी ली और उसे पूर्णतः आत्मसात अर्थात् हजम भी कर लिया था। मगर इस आयोजन में पहुँचे श्रोताओं तथा अन्य कवियों के लिए यह सब आसानी से हजम कर सकना मुश्किल था। उनकी एक आँख हँस रही थी और दूसरी आँख कविताई की धू-धू जलती चिता पर जार-जार आँसू बहा रही थी।

शपथ का पथ कंटकाकीर्ण है इस पथ पर आगे बढ़ना, निरन्तर आगे बढ़ना बड़े-बड़े वीरों के छक्के छुड़ाने की क्षमता रखता है। आगे बढ़िये तो लहूलुहान हो जाइए और न बढ़िये तो जिन्दगी में निठल्ले बैठे रहिये। शपथ अगर वीरों का भूषण है तो कायरों का दूषण भी। कायर अथवा चालूटालू व्यक्ति अपनी चतुराई दिखाने हेतु शौर्य के मिथ्या प्रदर्शनार्थ शपथ खा तो लेता है, मगर उसे भविष्य में निभाये चले जाना टेढ़ी खीर होता चला जाता है। मगर यह भी कहा गया है कि ज्ञानी, विद्वान, शिष्ट, सज्जन जिस मार्ग पर चलने से पूर्व खूब सोच-विचार करते हैं, और आगे बढ़ने में संकोच का अनुभव करते हैं, मूर्खजन उन्हीं रास्तों पर सरपट दौड़ जाते हैं।

काफ़ी समय पूर्व कवि सुधाकर ने युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवीय संवेदनाओं को झकझोरते हुए लिखा था—"शपथ है शांति की, बोलो कि अब से रण नहीं होगा।" कवि ने अत्यन्त मर्मभेदी शब्दावली में अजन्ता की गुफाओं और शिलाओं पर उत्कीर्ण मानव सभ्यताओं की रक्षा हेतु भविष्य में कभी भी युद्ध न करने की गुहार लगाई थी और शांति की शपथ खाई थी। मगर क्या हुआ कवि द्वारा ली गई शांति की इस शपथ का? दक्षिण अफ्रीका में नेलसन मंडेला ने रंगभेद समाप्त करने की शपथ क्या ले ली, अपने लिए आजीवन कारावास मोल ले लिया। और लो गोरे-काले का भेद मिटाने की शपथ? इधर जेल में बंद सत्तर वर्षीय मंडेला का जन्म दिन सारे संसार में मनाया जा रहा है, उधर दक्षिण अफ्रीकी सरकार इस जयघोस को सुनने से इनकार कर रही है, उसने अपने कानों में रुई ठूँस रखी है। अगर मंडेला भविष्य में भी इसी प्रकार शपथ दोहराते रहे और दुनिया भर के मानवाधिकार प्रेमी उन्हें कारागार से मुक्त कराने की शपथ लेते रहे तो जाहिर है दक्षिण अफ्रीकी सरकार के इंसानी दुश्मन श्वेत अफसर उन्हें कभी मुक्त न करने की शपथ लेने से बाज नहीं आएंगे।

शपथ अगर सज्जनों के लिए सजा है, तो चमत्कारियों, तथाकथित समाजसेवियों और पेशेवर राजनेताओं के लिए इसमें मजा-ही-मजा है। इन क्षेत्रों में शपथ लेने का अवसर मिलने का मतलब यह है कि आपकी पाँचों उँगलियाँ घी में हैं। शपथ खाइए और तत्काल कुर्सी से चिपक जाइए, फिर आपके विरोधी खेमे वाले आपको कुर्सी से नीचे उतारने की शपथ खाते रहेंगे। किसी मंत्री के हटते ही, अथवा मंत्रिमंडल में फेरबदल की घोषणा होते ही, जिन भाग्यवानों को शपथ ग्रहण के लिए आमंत्रित किया जाता है, उनका जीवन धन्य है। ऐसे अवसरों पर

उनकी चुस्ती, फुर्ती और मुस्तैदी देखते ही बनती है। शपथ ग्रहणकर्ता तुरत-फुरत उड़कर, उछलकर, कुलाँचे भरता हुआ शपथग्रहण स्थल पर पहुँच जाता है और शपथ ग्रहण करने के बाद ही साँस लेता है। अपने आसपास खड़े मित्रों, शुभचिन्तकों, विरोधियों और पार्टीमैनों को देखता है। सिर्फ देखता ही नहीं, देखकर मुस्कराता भी है। मानो कह रहा हो—देखा मियाँ, रह गये न टापते। अब अगले शपथग्रहण समारोह तक यों ही टापते रहो और न चाहते हुए भी हमारा जयजयकार करो, हमारे सामने खीसें निपोरो और जमकर बोर होते रहो।

शपथ की महिमा अपरम्पार है। शपथ लेने वाला हमेशा दुष्टता को पुष्ट करे, ऐसा भी नहीं है। सज्जनों को इस जाल में फँसते हुए ज्यादा देखा गया है। दुष्ट तो शपथ से पल्ला झाड़कर कुछ इस तरह अलग छिटक जाते हैं मानो उनसे उसका कोई वास्ता ही न रहा हो मगर शरीफ़ आदमी का शपथग्रहण समारोह उसका पीछा जीवन पर्यन्त नहीं छोड़ता। उसे उसकी शपथ याद दिलाने वाले प्रायः मिल जाते हैं, दिन में कई-कई बार मिलते हैं और भले आदमी का जीवन दूभर कर देते हैं।

आइए, केवल मंत्रीपद अथवा ऊँचा सरकारी ओहदा सँभालने और उत्तरदायित्व से बचाव के काम हथियाने की शपथ लेने के सिवा, जीवन में कभी भी शपथ न लेने की शपथ लें।

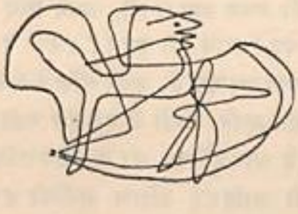

चबूतरा

□ सुरेन्द्र तिवारी

[स्थान—सड़क के किनारे एक मकान के गेट के पास का बाहरी चबूतरा। थोड़ी दूरी पर एक फुटपाथी चाय की दुकान। चबूतरे पर छः सात लड़के। सबकी उम्र सोलह से अधिक और पच्चीस से कम। वे एक-दूसरे के ऊपर लदे से चबूतरे पर बैठे हैं। चाय की दुकान के सामने एक बेंच पर दो आदमी बैठे हैं। ये दोनों पचास वर्ष या उससे अधिक उम्र के हैं। एक आदमी अखबार के पन्नों में खोया हुआ है। दूसरे के हाथ में चाय का गिलास है।

मकान के एक हिस्से में एक खिड़की दीखती है। दो-तीन लड़के बार-बार मुड़-मुड़ कर उस खिड़की की ओर देख लेते हैं। चाय वाला एक चूल्हे पर केतली रखकर आग तेज करने के लिए पंखा झल रहा है।]

एक लड़का : आज की कमेण्ट्री सुनी तुम लोगों ने ? भारत को पाकिस्तान ने सात-एक गोलों से रौंद डाला।

दूसरा लड़का : मैं "राम तेरी गंगा मैली" देखने गया था। वाह, क्या फिल्म है। राजकपूर नें मंदाकिनी को···तूने देखी है, खोखन ?

तीसरा लड़का : नहीं।

पहला लड़का : बेटा राम राम बोलो अब तो। इण्डिया के पास कुछ नहीं बचा अब। एक हाकी के जोर पर तो उफनता था। अब वह भी···

तीसरा लड़का : यार अशोक, तेरे सिर पर तो हमेशा गेम ही सवार रहता है, कभी हाकी तो कभी क्रिकेट···

पहला लड़का : तू समझता नहीं, कितने शर्म की बात है। पहले फुटबाल में भारत ने अपनी मिट्टी पलीद की और अब हाकी में···जब से मैंने सुना है···

चौथा लड़का : तब से ?

पाँचवां लड़का : खाना दुगना कर दिया है। हा-हा-हा।

[कई लड़के ठठाकर हँस पड़ते हैं। इनके ठहाके से चाय की दुकान पर बैठे लोग चौंक कर इन्हें देखने लगते हैं। दोनों बूढ़े व्यक्ति एक-दूसरे के और निकट आ जाते हैं।]

एक व्यक्ति : बूझले भाई, एराई होलो आमादेर देशेर भविष्यति !

दूसरा व्यक्ति : क्या ?

पहला व्यक्ति : नहीं समझे रामनाथ बाबू ? हम तुमको हिंदी में समझाता है कि हम लोगों

के देश का फ्यूचर नेता यही लड़का लोग है ।

रामनाथ : गांगूली बाबू, आपसे कितनी बार मैंने कहा, आप हिन्दी अच्छी तरह सीख लीजिए । पर आप सुनते ही नहीं ।

गांगूली : तुम नहीं समझता, हम सीखता तो है, पर···

[इनकी उम्र का ही एक और व्यक्ति प्रवेश करता है ।]

गांगूली : आइए आइए, सिंह बाबू ! बैठिए । चाय खाएगा सिंह बाबू ?

रामनाथ : गांगूली बाबू, हिन्दी में चाय खाएगा नहीं, पियेगा होता है । चाय पियेगा ।

गांगूली : ओह ! डोण्ट माइण्ड···वो सब एक ही बात है—खाओ या पियो, जायेगा तो इस पेट में ही ।

[गांगूली की बात पर ये लोग भी हँस पड़ते है । इनकी हँसी युवकों तक पहुँच जाती है ।

एक लड़का : साला ।

दूसरा लड़का : क्या हुआ ?

पहला लड़का : कुछ नहीं । देख नहीं रहा, कैसे नकली दाँत दिखाकर ये लोग हँस रहे हैं ।

दूसरा लड़का : तो और करें भी क्या ? सरकारी नौकरी करते हैं । साढ़े नौ बजे से ड्यूटी है । अभी दस बज रहे हैं । आखिर कितनी मेहनत की कमाई खाते हैं ये लोग, यह भी तू नहीं जानता ?

तीसरा लड़का : हाँ, ठीक कहा तूने । मेहनत की कमाई ही तो खाते हैं ये लोग । देख न, यहाँ से ग्यारह बजे तक ऑफिस पहुँचेंगे । वहाँ ग्यारह बजे से चार बजे तक टेबिल पर पैर फेंककर सोयेंगे । इस तरह एड़ी का पसीना सिर तक चढ़ता है, यह आखिर मेहनत नहीं है तो क्या है ?

[लड़के फिर हँसते हैं ।]

पहला लड़का : बूढ़े ! खूसट !

दूसरा लड़का : और यह गांगूली ? जानते हो, यह सामने का मकान इसी का है । एक कमरे का तीन सौ रुपये किराया लेता है । बाहर की तरफ एक छोटा-सा कमरा खाली पड़ा है । कितनी बार कहा मैंने, हमें दे दो, वहाँ हम एक छोटी-सी लाइब्रेरी बना लेंगे, पर नहीं सुनता । मक्खीचूस ।

चौथा लड़का : धत् ! यह क्या कमरा देगा । पैसे के लिए तो इसने अपनी पत्नी तक को मार डाला ।

सभी : (चौंककर) क्या ?

चौथा लड़का : अरे ! तुम्हें नहीं पता ? इसने तीन साल पहले अपनी पत्नी का पचास हजार रुपये का इन्श्योरेंस कराया, और अभी एक महीना तो हुआ, इसने अपनी पत्नी को मार डाला ।

छठा लड़का : हाँ, सुना तो मैंने भी था कि इसकी पत्नी मर गई, किंतु···

चौथा लड़का : मरी नहीं, इसने मार डाला । कहता है, मंसूरी में जब वह अपनी पत्नी के साथ घूमने गया था, वहीं वह फिसलकर एक खाई में गिर गई । झूठा । मक्कार ।

पहला लड़का : छोड़ यार। क्या बूढ़ों की बात ले बैठा। यह बता, आज तेरे इण्टरव्यू का क्या हुआ?

चौथा लड़का : (उदास स्वर में) इण्टरव्यू? (तीखी हँसी) और क्या होगा? वही जो होना था। नॉट परफेक्ट। नॉट सेलेक्ट।...ऐ रामू, दो-तीन गिलास पानी इधर भेजना।... तुम लोग चाय पियोगे क्या?

दूसरा लड़का : मेरे पास तीसेक पैसे हैं।

पांचवां लड़का : मैं पचास पैसे दे दूँगा।

[और दो-तीन भी अपनी-अपनी जेबें टटोलते हैं।]

चौथा लड़का : (ऊँची आवाज़ में) रामू...ओ रामू...चार कप चाय, छह जगह। जल्दी। पहले पानी भेजना।

चायवाला : अभी भेजता हूँ साब। (मन ही मन कुढ़ता है परन्तु कुछ बोलता नहीं।)

[बेंच पर बैठे हुए आदमी अब तक आहिस्ते-आहिस्ते आपस में कुछ बातें कर रहे थे। गांगूली अखबार के पन्नों को उलट-पुलट रहा है।

सिंह : आपने सुना गांगूली बाबू, मीट तीस रुपये किलो हो गया है।

गांगूली : क्या करेगा भाई। हम तो मछली खाता है, जामा मस्जिद से लाता है, पर अब असली मछली खाना भी अच्छा नहीं लगता। सड़ा माछ। छीः। यहाँ के लोग मछली का स्वाद ही नहीं जानते। जब मैं कलकत्ता में था, पाँच रुपये किलो चींगड़ी माछ लाता था। आह, क्या स्वाद है चींगड़ी का। बंगाली लोग मीट ज्यादा नहीं खाता।

सिंह : (उधर से मुँह घुमाकर) रामनाथ बाबू, आपके ऑफिस में तो स्ट्राइक होने वाली है न?

रामनाथ : हाँ, इसी सत्ताइस को।

सिंह : मेरे यहाँ भी बोनस के लिए झमेला चल रहा है। इस बार तो हम लोग भी अड़े हुए हैं। कम से कम चालीस दिनों का बोनस, नहीं तो...

रामनाथ : भैया यहाँ तो हाल यह है कि एक दिन की पे-स्ट्राइक से ही मन थरथराता है। बोनस ज्यादा तो मिलने का नहीं, जो मिलता है वह भी न कम हो जाये। मैं तो सोच-सोचकर परेशान हो जाता हूँ कि कहीं ऐसा न हो जाए...बोनस के पैसे मिल जाते हैं तो बच्चों के लिए कुछ कपड़े वगैरह बना देता हूँ, अगर न मिला तो बच्चों का क्या होगा?

सिंह : हाँ, यह तो है ही, फिर बच्चे भी एक दो हों तो, आपके तो शायद पूरे आठ हैं। हैं न?

रामनाथ : (मासूमियत से) नहीं, नौ हैं।

गांगूली : बाप रे। हम तो सोचता था कि मेरे ही सात बच्चे हैं। पर आप तो हमको भी पार कर गया, रामनाथ बाबू।

रामनाथ : भाई क्या करें, अपनी औरत को कितना समझाता हूँ, आपरेशन करवा ले, पर वह मानती ही नहीं। अब आप ही बताइए, गांगूली बाबू, क्या यह अच्छा लगता है कि हम मर्द आपरेशन करवाकर नामर्द हो जायें?

गांगूली : राम-राम । छीः-छीः । क्या कहता रामनाथ बाबू । हमारा औरत भी हमको ही आपरेशन करवाने को कहता रहा, पर हम काहे को करवायेगा ? हमने तो उसको भी कह दिया था कि कर ले पैदा, जितना करना है । भगवान की देन को कौन रोक सकता है ? और दुर्गा माँ की कसम सिंह बाबू, मेरी औरत भी बड़ी तेज निकली । पूरे तेरह बच्चे पैदा करने के बाद भी वह एकदम जवान लगती थी । वह तो ऊपर वाले की अग्निदृष्टि के कारण छह बच्चे आते ही चले गए । अगर वे भी बचे होते···कभी-कभी भगवान भी बड़ी निर्दयता दिखाता है । हमारा सुख उसको अच्छा नहीं लगा इसलिए उसने मेरी पत्नी को ही उठा लिया, नहीं तो···

सिंह : अभी दो-चार का और प्लान था न क्या, गांगूली ?

गांगूली : अब क्या बोलेगा हम । हमको तो बहुत अफसोस होता अपनी औरत का । पर हम क्या करेगा ? कई लोग बोला, दोसरा शादी कर लो, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है, पर हम नहीं माना ।

सिंह : सच । भला अभी आपकी उम्र ही क्या है ?

रामनाथ : आपने दूसरी शादी क्यों नहीं की ?

गांगूली : दोसरा औरत भी अगर पहली के माफक बोला—तोमार बयस होलो, आपरेशन करिए नाओ—फिर हम क्या करेगा ? आपरेशन नहीं करवायेगा तो फिर वही तेरह बच्चे···सच रामनाथ बाबू, हमारे तो हाथ की लाइनों में लिखा है, दो दर्जन बच्चे ।

[कई लड़के बातें सुनकर व्यंग्य से मुस्कराते हैं । एक लड़का बुरा-सा मुंह बनाता है ।]

एक लड़का : हूँह । साला । बाल पक गए, गाल धंस गए, नकली दाँत लगाकर हँसता है, खाता है, बोलता है और चला है दूसरी शादी करके तेरह बच्चे पैदा करने । हूँह ।

दूसरा लड़का : इन दोनों को तो फेमिली इनक्रीज का इनाम देना चाहिए । सरकार के पास हमें इसकी सिफारिश भेजनी चाहिए ।

पहला लड़का : बिलकुल ठीक । किन्तु लगता है, हम लोगों का कोटा भी ये ही पूरा कर जाएँगे ।

[सब फिर ठठाकर हँस पड़ते हैं ।]

गांगूली : ओफ । ये छोकरा लोग तो एक मिनट भी बैठने नहीं देता । हो-हो-हो··· ही-ही-ही···यहाँ बैठकर किस-किस तरह से हँसता है ये लोग । जानते हो रामनाथ, हम बहुत चाहा कि ये छोकरा लोग यहाँ न बैठें । पर बाप रे, ये लोग किसका बात मानेगा ? पहले हमारा बेटी उस जंगले पर बैठकर पढ़ता था, ये लोग उसे देखकर सीटियाँ बजाता । बोलो, वह कैसे बैठ सकता वहाँ ?"

एक लड़का : (**कुछ देर तक विंग्स की ओर देखने के बाद**) ऐ अशोक, वह बेटा फिर आज आ गया है ।

अशोक : कौन ?

वही लड़का : वही···दूसरे मोहल्ले वाला !

[एक लड़का विम्स के पास आकर खड़ा हो जाता है और खिड़की की ओर देखने लगता है। उसकी नजर सिर्फ खिड़की पर है। कुछ ही क्षणों बाद एक लड़की उस खिड़की के पीछे आती है, कुछ देर तक उस लड़के को देखती है, फिर भीतर चली जाती है।]

पहला लड़का : इस साले को जरा भी डर नहीं है ?

अशोक : ठहर, मैं आज इसे अच्छी तरह समझाए देता हूँ।

[अशोक उठकर विम्स के पास खड़े लड़के के पास आता है। फिर एक एक कर सारे लड़के उठकर आते हैं और उस लड़के को चारों तरफ से घेर लेते हैं।]

अशोक : क्यों बे, उस खिड़की पर क्या तेरी अम्मा बैठी है ?

लड़का : (**कुछ सहमा हुआ है, फिर भी अकड़ते हुए**) जबान संभालकर बात करो··· अम्मा होगी तुम्हारी।

अशोक : तू अपनी नानी को रोज यहाँ आकर देखता है ? (**उसका गला पकड़ते हुए**) और बेटा, हमीं से रोआब···

लड़का : (**घिघियाते हुए**) देखो, अच्छा नहीं होगा···छोड़ दो मुझे···बहुत बुरा होगा ···मैं···

अशोक : तू अपने बाप को बुलायेगा···ऐं ? बुला।

[अशोक उस लड़के को तड़ातड़ थप्पड़ मारता है। पहले तो वह लड़का प्रतिरोध करता है, एक दो थप्पड़ भी चलाता है, किन्तु दो-तीन और लड़के उसे पकड़ कर पीटने लगते हैं। एक शोर मच जाता है। चाय की दुकान पर बैठे सभी लोग उठकर खड़े हो जाते हैं। सिर्फ गांगूली बैठा अखबार पर नजरें गड़ाए रहता है। शोर के कारण खिड़की के पास वही लड़की फिर आ खड़ी हुई है—सुन्दर, सोलह-सत्रह साल की। लड़के को पिटते देखकर वह अचानक ही रोने लगती है, फिर भीतर भाग जाती है। लड़की को आते और जाते गांगूली देखता है, फिर अखबार पर नजरें गड़ा लेता है। रामनाथ और सिंह दौड़कर लड़कों को हटाने की चेष्टा करते हैं, फिर लड़कों का तेवर देखकर खुद ही डरकर अलग हट जाते हैं। फिर मंथर गति से अपनी जगह पर आकर खामोश बैठ जाते हैं।)

अशोक : (**उस लड़के को उठाकर खड़ा करते हुए**) जा, भाग जा यहाँ से। और याद रख, फिर कभी इस मोहल्ले में दिखा तो लौटकर नहीं जा पायेगा ? ···जा भाग।

[लड़का तिलमिलाता हुआ, नाक से बहते खून को एक हाथ से पोंछते हुए भाग जाता है। लड़के कुछ देर तक वहीं उसी तरह खड़े रहते हैं, फिर गांगूली के चारों तरफ आ खड़े होते हैं। गांगूली का शरीर भय

से काँपने लगता है। वह उसी तरह नजरें झुकाए बैठा रहता है।]

अशोक : गांगूली साहब, आप अपनी खूखू को मना कर दीजिए···

गांगूली : क्या मना करेगा, बेटा ?

अशोक : आजकल इस छोकरे के साथ उसकी लागलपेट है, यह आवारा लड़का उसी के कारण हमारे मोहल्ले में आता है···

गांगूली : समझ गया, बेटे, समझ गया, हम आज ही उसे मना कर देगा···उस लड़के के साथ लागलपेट—छी-छीः—खखू को क्या हो गया है···हम मना कर देगा—

अशोक : अगर वह फिर कभी इस लड़के के साथ दिखी···

गांगूली : ना ना, की बोलछो बाबा, वह उसके साथ काहे को जायेगी···हम मना कर देगा ?

अशोक : ठीक है (**कुछ अलग हटकर**) रामू, हमारी चाय कहाँ है ? जल्दी से ला···

रामू : बाबू···वो पहले का बाकी पैसा···

अशोक : मिल जायेगा, कहा तो है।

रामू : बाबू, बहुत हो गया है। इतना उधार देना मुश्किल होगा, बाबू।

अशोक : क्या ? यहाँ बैठकर चाय बेचने का इरादा है या नहीं ?

पाँचवाँ लड़का : फेंक दो उठाकर साले को···

तीसरा लड़का : क्यों बे, तेरी शामत आ गई है क्या ? जब जगह नहीं मिलती थी तो हमारे ही पैरों को पकड़ता था, गिरता था और जब हम लोगों ने जगह दिला दी तो हमीं पर रौब ?

छठा लड़का : बेटे, मिनट नहीं लगेगा, और तेरा बिस्तर गोल हो जायेगा।

रामू : (**घबड़ाकर**) मैं···मैं तो···

अशोक : देख रामू, यहाँ रहना है तो सीधी तरह रह। तेरे पैसे मिल जायेंगे···चल चाय पिला।

रामू : अभी देता हूँ साब···कितनी चाय···हाँ चार कप छह जगह।···आप लोग बैठिए न, मैं अभी लाता हूँ···

अशोक : (**मुस्कराकर**) लातों का भूत बातों से नहीं मानता। चल, जल्दी बना।

[रामनाथ, गांगूली और सिंह सकपकाए हुए चुपचाप बैठे हैं। गांगूली नसी सूँघता है। सिंह बीड़ी सुलगाकर होंठों से लगाता है। बीड़ी का बंडल रामनाथ की ओर बढ़ाता है, पर वह ना कर देता है। लड़के फिर अपनी जगह पर लौट आये हैं और इधर-उधर फैलकर बैठ गए हैं। एक लड़का जेब से एक छोटा-सा पॉकेट ट्रांजिस्टर निकालकर बजाता है, उसमें कोई अंग्रेजी धुन है, जिस पर वह थिरकने लगता है। एक दो और लड़के भी चुटकियाँ आदि बजाते हैं। अशोक जेब से एक सिगरेट निकालकर सुलगाता है, दो-तीन कश लेने के बाद सिगरेट दूसरे लड़के को पकड़ा देता है। अब लड़के बारी-बारी से सिगरेट की कश मारकर धुआँ उगलते हैं।

तीनों आदमी अब भी घबड़ाए हुए बैठे हैं और लड़कों को देख रहे हैं। रामू और तेज-तेज पंखा झल रहा है।]

रामनाथ : (**फुसफुसाकर**) देखा गांगूली बाबू, कैसा गुण्डाइज्म है'''जिसकी लाठी उसकी भैंस'''

गांगूली : माँ दुर्गे, माँ दुर्गे।

रामनाथ : यह सब फस्ट्रेशन है। एक अपना सुपुत्र भी है। वह भी ऐसा ही हो गया है। लास्ट इयर से बी० ए० करके मारा-मारा फिर रहा है। कितनी बार कहता हूँ कि कोई नौकरी-वोकरी कर ले। पर सुनता कौन है। जोर देने पर साफ उत्तर कि नौकरी मिलती कहाँ है ?

सिंह : वैसे वह गलत तो कहता नहीं, आजकल नौकरी की जो हालत है'''

रामनाथ : (**उसकी बात बीच में काटते हुए**) अरे मैं तो कहता हूँ, चाहने से क्या नहीं मिलता। यही तो अपने सक्सेना जी हैं। उनका लड़का भी इसी के साथ था। कितना ब्रिलिएंट निकला। बी० ए० पास करके ही बैंक की नौकरी पा गया। अब बोलो, उसे कैसे मिल गई नौकरी ? जबकि उसका डिविजन भी थर्ड था और मेरे लाडले साहब का सेकेण्ड।

गांगूली : रक्षा कर माँ, रक्षा कर।'''अरे रामू, एक कप चाय मुझे भी पिला दे, फिर उठूँ।

रामू : अभी लाता हूँ बाबूजी !

रामनाथ : (**उसी आवेश के साथ**) सब कोशिश से होता है, सिंह जी, कोशिश से। पर हमारे लाडले साहब कहते हैं कि सक्सेना जी का वहाँ कोई सोर्स था इस कारण उसे नौकरी मिली। अब बताओ, यह भी क्या कोई बात है।

गांगूली : हरिओम। कैसा समय आ गया बाबा।

सिंह : (**गम्भीर स्वर में**) आप फिर भी भाग्यवान हैं, रामनाथ जी, कि आपका लड़का लहेड़ा नहीं निकला। अपने साहबजादे तो बस हीरो बनने की आस लगाए बैठे हैं, उसी में लीन हैं। रोज फिल्में देखते हैं, शीशे के सामने खड़े होकर कभी अमिताभ की, कभी राजेश खन्ना की और कभी मिथुन की नकल उतारते रहते हैं। पावडर, क्रीम, लेवेण्डर क्या-क्या से नहीं घर भर रखा है। दसवीं में चार बार फेल हो गए तो कहते हैं—दिलीप कुमार तो अपना नाम लिखना भी नहीं जानता। अब मैं कैसे उस नालायक को बताऊँ कि उसकी सूरत तुझसे ज्यादा अच्छी नहीं है। और फिर मेरी सूरत ? हा-हा-हा। कॉलिज में एक लड़की को मैं प्यार करता था। हाँ साहब, अपने जमाने की बात मैं कर रहा हूँ। उस जमाने में प्यार करने का अर्थ तो आप जानते ही हैं। तन-मन-धन से किसी पर न्यौछावर हो जाते थे। मैंने एक दिन उस लड़की से कहा—मैं दिलोजान से तुम्हें चाहता हूँ। तो जानते हो क्या हुआ ? दूसरे दिन एक आईना खरीद कर वह मुझे दे गयी। हा-हा-हा।

रामनाथ : (**कुछ खोकर**) हाँ भैया, वह जमाना ही कुछ और था। हम सच्चे मन से किसी को प्यार करते थे। प्यार के लिए मर मिट जाते थे। परन्तु आज ?'''

आज के छोकरों का प्यार ? आज के छोकरे तो बस उल्लू की टाँग हैं। हमेशा उलटे ही रहेंगे। प्यार का अर्थ इन लोगों के लिए बस सिनेमा, होटल और सेक्स बनकर रह गया है। अरे प्यार तो एक तपस्या है···

सिंह : (**बीच में बात काटकर**) लो, अपने साहबजादे भी इधर ही आ रहे हैं। आज छुट्टी ली थी मैंने, यह सोचकर कि कुछ देर तक आप लोगों के साथ गप्पें मारूँगा किन्तु अब उठना ही पड़ेगा, क्योंकि साहबजादे तो मुझे देखकर भी वापस जायेंगे नहीं।

गांगूली : सिंह बाबू, आप अपने लड़के को रोकता क्यों नहीं ?

सिंह : रोकने से कौन रुकता है, गांगूली साहब। लाइये, वह चाय तो दीजिए, पीकर जाऊँ अब।

[गांगूली उसे चाय का कप पकड़ाता है। लड़के आपस में किसी बात पर जोर से हँस पड़ते हैं। एक नया लड़का आकर इनके बीच ही बैठ जाता है।

एक लड़का : खोखन, जरा वो गीत तो सुना यार···**नगीना का···बलमा ओ बलमा··**

कई लड़के : वण्डरफुल आयडिया। क्या चीज है श्रीदेवी भी। और उस पर उसका ठुमका ···हाय।

खोखन : तो फिर तबला ?

[एक लड़का चाय की दुकान के पास पड़ा टिन का एक खाली डिब्बा उठा लाता है। दूसरा लड़का चाय की दुकान से ही एक चम्मच और एक खाली कप उठा लाता है। रामनाथ, सिंह और गांगूली इन्हें आते चुपचाप देखते रहते हैं। अभी-अभी जो लड़का आया है, वह माउथ-आर्गेन निकालकर बजाने लगता है। खोखन हल्के स्वर में गाना शुरू करता है और बाकी उसका साथ देते हैं।]

गांगूली : माँ दुर्गे, माँ दुर्गे। ये लोग और क्या-क्या करेगा ?

सिंह : मत घबड़ाइये गांगूली बाबू, अभी तो ये लोग बहुत कुछ करेंगे। आप इन लोगों को रोक नहीं सकते। ये सब इसी तरह नाच-गा कर अपनी जिंदगी तबाह कर लेंगे। फिर भी ये कहेंगे—हम तो प्रोग्रेस कर रहे हैं। ओल्ड इज कोल्ड नाउ !

गांगूली : हमारा तो कुछ समझ में नहीं आता। लड़कियों के माफक चलना-बोलना, हिजड़ों के माफक नाचना, हमको तो कुछ समझ में नहीं आता। हम लोग भी कभी जवान थे, हम लोगों का भी कभी जमाना था, पर हम लोग तो ऐसा नहीं किया। स्कूल-कॉलिज नहीं जायेगा, वहाँ स्ट्राइक करेगा और यहाँ चबूतरे पर घंटों-घंटों आवारागर्दी करेगा। छिः छिः।

रामनाथ : यह सब फिल्मी सभ्यता है, फिल्मी। बम्बई वाले और हालीवुड वाले यही सब तो सिखाते हैं। हम तो कहते हैं यह नंगई है, और ये कहते हैं यह नई सभ्यता है। अब तो इसी सभ्यता के बीच हमें भी जीना पड़ेगा, गांगूली बाबू।

[लड़के इस बीच जोर से तालियाँ बजाते हैं। खोखन उस तरह हाव-भाव दिखाता है जैसे उसके गाने की बहुत प्रशंसा हुई हो। लड़के एक और, एक और का शोर मचा रहे हैं। खोखन दोनों हाथ उठाकर इशारा करता है—अच्छा, अच्छा। और इस बार वह एक पुराना गीता गाता है—**दम मारो दम**···]

गांगूली : ये लड़के बात···व्यवहार सब भूल गए हैं।

सिंह : शर्म-लिहाज तो इन्हें रही ही नहीं।

रामनाथ : इनकी शिक्षा-दीक्षा सब बेकार है।

गाने की आवाज : **दुनिया ने हमको दिया क्या,**
दुनिया से हमको मिला क्या···

[खोखन की आवाज तेजी से उभरती है। कई लड़के खड़े होकर थिरकते हैं, कुछ खोखन के स्वर में स्वर मिलाकर गाने भी लगते हैं। ये तीनों इस तरह हाव-भाव दिखाते हैं जैसे बहुत विरक्त हो रहे हों। गांगूली रह-रहकर कान में उँगलियाँ डाल लेता है।]

सिंह : पता नहीं, यह सब कुछ देखने के लिए भगवान ने हमें जिंदा क्यों रखा है?

गांगूली : हमारा वायफ कहता था, हमारा बेटी को डिस्को सिखाना। हम उसको सिखा दिया। अब वह रोज होटल में जाकर डांस करना माँगता। बोलो सिंहजी, कहीं लड़की लोगों के लिए यह सब अच्छी बात है? पर सूमी नहीं मानता। वह होटल में डांस करेगा। राम-राम। हमारी बेटी को होटल में नाचते देखकर लोग क्या सोचेगा? पर वह तो जिद कर दिया···डैडी यह तो कल्चर है। माडर्न सोसाइटी। यह कैसी सोसाइटी है सिंह बाबू? यह कौन-सा कल्चर है?

सिंह : **(कुछ सोचते हुए)** हाँ, यह कैसी सोसाइटी है?

रामनाथ : **(सोचते हुए)** सच तो, यह कैसी सोसाइटी है?

सिंह : यह कैसा कल्चर है?

रामनाथ : इसे ही क्या आधुनिक होना कहते हैं?

सिंह : ये लोग क्या सभ्य हो गए हैं?

गांगूली : एटाई की सभ्यता?

सिंह : हमारा देश कहाँ जायेगा?

रामनाथ : समाज का क्या होगा?

गांगूली : मानूष कोथाय जावे? आदमी कैसे रहेगा?

रामनाथ : धर्म कैसे बचेगा?

सिंह : आदमी नष्ट हो जायेगा। धर्म नष्ट हो जायेगा।

रामनाथ : धर्म नष्ट हो जायेगा तो संसार नष्ट हो जायेगा।

सिंह : यह बहुत बुरा होगा।

गांगूली : सती, एटा खूबई खाराब हबे।

[तीनों अपने-अपने विचारों में खो जाते हैं। चाय की दुकान पर लोग

आते जाते रहते हैं। लड़के अभी भी गाने में मस्त हैं। एक लड़का कमर पर हाथ रखकर नाच रहा है। सामने की खिड़की पर फिर वही लड़की आ खड़ी हुई है। वह मुस्कराती हुई इन लड़कों को देख रही है। लड़के उसे देखकर और जोर से गाने-बजाने लगते हैं।
एक लड़का उस भीड़ से बाहर निकलकर मंच पर एक किनारे आता है। उसका चेहरा गम्भीर है। प्रकाश अब उसी पर सिमटा हुआ है।]

लड़का : आप बहुत ध्यान से इन लोगों की बातें सुन रहे हैं न? और आपको यह भी लगता होगा ये लोग जो कुछ कह रहे हैं, सब सच है। यही न? आपकी उम्र और स्थान पर अगर मैं होता तो शायद मैं भी यही सोचता। परंतु मैं जहाँ खड़ा हूँ, जिस उम्र में हूँ, उस उम्र में और उस जगह पर खड़ा होकर भी क्या आप यह कह पायेंगे कि ये लोग जो कुछ कह रहे हैं, सब सच है? मेरे पिता जी, हाँ, मेरे पिता इन्हीं में हैं। रामनाथ जी अपने जिस नालायक लड़के की बात कर रहे थे, वह नालायक लड़का मैं ही हूँ। मैं ही हूँ जो उनकी उम्मीदों पर खरा नहीं उतरा, उनके सपनों को सच करने में जो असफल रहा। आपने मेरे पिता की बातें सुनीं, अब मेरी भी दो-चार बातें सुनने की कृपा करेंगे क्या? जी, मैं बहुत संक्षेप में अपनी बात कहूँगा मेरे पिता कहते हैं, मैं नौकरी नहीं करना चाहता, मुझमें कुछ करने की इच्छा ही नहीं है। परंतु यह सच नहीं है। सच तो यह है कि मेरी तमाम कोशिशों के बाद भी जब मुझे नौकरी नहीं मिलती तो मैं अन्दर से टूटता जा रहा हूँ। नौकरी पेशा लोगों को देखकर मेरे अन्दर ईर्ष्या की आग दहक उठती है। आखिर मुझमें क्या कमी है? क्यों नहीं मिलती मुझे नौकरी? इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि न तो मेरे पास कोई तगड़ा सोर्स है न घूस देने के लिए पैसा। और जब नौकरी नहीं मिलती तो हम क्या करें इस चबूतरे पर, चाय की दुकान पर आवारागर्दी, लड़कियों से छेड़छाड़, लड़ाई-झगड़े या फिर छोटे-मोटे अपराध। जब अपना ही आत्मसम्मान खो रहा हो तो फिर हम दूसरे का सम्मान कैसे कर सकते हैं?

[कुछ देर तक रुकता है, फिर चबूतरे की तरफ देखने के बाद और गम्भीर स्वर में—]

मैं सिर्फ अपनी बात नहीं कर रहा हूँ, यह जो खोखन है, यह जो अशोक है, सुधीर है, रतन है, महेश है, न जाने कितने हैं, मैं सबकी बात कर रहा हूँ, स्कूल-कॉलिज के बाद हम सबके मन में सपने थे, एक अच्छी जिन्दगी जीने के, माँ-बाप को कुछ सुख पहुँचाने के, शादी-वादी करके एक भले आदमी की जिंदगी बिताने के···पर···पर हुआ क्या? हमारे इन सपनों को किसने तोड़ा? किसने हमें विवश किया कि हम लहेड़ा बनें? गुण्डा बनें? खुनी, हत्यारे, चोर-डाकू बनें? क्या मेरे पिता मुझे बता सकते हैं? क्या आप कुछ बता सकते हैं? मैं आप में से किसके पास जाऊँ, जो बता सके कि उसने···

उसने···उसने तोड़े हैं तुम्हारे सपने ? किसके पास जाऊँ ?

अशोक : **(अचानक उस लड़के की ओर देखकर)** अरे मोहित, वहाँ क्या कर रहा है ? इधर आ। पता नहीं, खड़ा-खड़ा क्या सोच रहा है ?

मोहित : **(उसकी तरफ जाते हुए मुस्कराता है)** कुछ नहीं, अशोक, बस यों ही···

[एक तरफ से एक किशोरी का प्रवेश। उसके शरीर पर एक पुराना फ्राक झूल रहा है और बालों में जैसे महीनों से तेल नहीं पड़ा है। उसे देखकर अभी लड़के एकदम चुप हो जाते हैं।]

अशोक : **(लड़की की ओर बढ़ते हुए)** क्या बात है, मधु ?

मधु : भैया, माँ की तबीयत फिर बहुत खराब हो गई है।

अशोक : तू चल, मैं आता हूँ।

मधु : तुम मेरे साथ चलो भैया, माँ दर्द से छटपटा रही हैं।

अशोक : पिताजी घर में हैं ?

मधु : नहीं, वे डॉक्टर को बुलाने गये हैं।

अशोक : डॉक्टर ? **(गम्भीर हो जाता है)** अच्छा, एक काम कर, तू चल, मैं अभी आता हूँ।

मधु : माँ की हालत बहुत खराब है भैया।

[लड़की रो देती है]

अशोक : मैंने कहा न, तू चल मैं आता हूँ।

[लड़की सहमी हुई धीरे-धीरे आँखों को मलती हुई चली जाती है। चारों तरफ एक सन्नाटा छा जाता है। खिड़की के पास खड़ी लड़की वापस भीतर चली जाती है। अशोक अपनी टूटी चप्पल को घसीटता हुआ चबूतरे पर आ बैठता है। मौन, चिंतित। कुछ क्षण तक दूसरे लड़के भी चुप हैं।]

रामनाथ : सुना गांगूली बाबू, इसकी माँ की तबीयत खराब है, फिर भी यह घर नहीं गया।

सिंह : इसकी माँ मर जायेगी।

रामनाथ : और यह यहीं बैठा रहेगा।

सिंह : उसे श्मशान में जला दिया जायेगा।

रामनाथ : और यह यहीं बैठा रहेगा।

सिंह : क्योंकि इसे घर से कोई मतलब नहीं।

रामनाथ : इसे अपनी माँ से कोई लगाव नहीं है।

सिंह : यह गैर-जिम्मेदार है।

रामनाथ : यह लहेड़ा, आवारा और बेकार है।

गांगूली : **(कुछ आश्चर्य से)** यह अपनी माँ के पास नहीं जायेगा ? मरती माँ के पास नहीं जायेगा ?

रामनाथ : नहीं, नहीं जायेगा।

गांगूली : केनो ? मेरा मतलब, क्यों नहीं जायेगा ?

रामनाथ : क्योंकि दवा लानी पड़ेगी।

सिंह : पैसा जुटाना पड़ेगा।

गांगूली : लेकिन उसका माँ मर गया तो ?

अशोक : **(अचानक चबूतरे से उतरकर तेजी से इनके सामने आ खड़ा होता है और चीखता है)** नहीं। ऐसा नहीं होगा। तुम सब झूठे हो। मक्कार हो। तुम लोग जो कह रहे हो, वह मैं कुछ नहीं करूँगा, क्योंकि मेरी माँ नहीं मरेगी।

सिंह : पागल मत बनो, अशोक।

रामनाथ : गुस्सा मत करो, अशोक।

गांगूली : हम तो कुछ नहीं बोला, अशोक।

[तीनों कुछ सहमे हुए एक-दूसरे से चिपक जाते हैं। मोहित उठकर अशोक के पास जाता है।

मोहित : आओ अशोक, आओ। चलो, घर चलें।

अशोक : नहीं। **(बहुत ही पीड़ित स्वर और चेहरा।)**

गांगूली : जाओ बाबा, जाओ, तुम्हारी माँ की हालत खराब है। कहीं तुम्हारे जाने से पहले ही…

अशोक : **(बीच में ही)** नहीं, गांगूली बाबू, नहीं, मेरी माँ नहीं मरेगी, माँ अभी नहीं मरेगी। अभी उसके सपने पूरे नहीं हुए है। वह अभी अपने बेटे को रास्ते पर भीख माँगते नहीं देख पायी है।

मोहित : अशोक ! **(स्वर में दर्द उभर आता है)**

अशोक : अभी तो सिर्फ उसे यही पता है कि उसका लड़का पढ़-लिखकर भी बेकार है, दूसरों की रोटी पर जिन्दा है। अपना समय काटने के लिए अपने इन बेकार दोस्तों के साथ यहाँ बैठा करता है। अभी वह यह जानती है कि उसका बेटा गुण्डा हो गया है, मारपीट करता है और छीन-झपट कर खाता है। खाली जेबों में हाथ डाले घूमता है और भिखारियों को हसरत भरी नजर से देखता है। हा-हा-हा।

[हँसते-हँसते आँखों में आँसू, जिसे वह मुँह ढँकने के बहाने पोंछता है सभी लड़के उठकर उसके पास ही आ खड़े होते हैं।

खोखन : अशोक, चल, घर चल।

अशोक : हाँ, चल…माँ की साँस मेरे लिए अटकी न रह जाए, इसलिए चल, थोड़ा जल्दी चल—हा-हा-हा।

[पागलों की तरह हँसता है, फिर दौड़ता हुआ भागा जाता है मोहित और खोखन भी उसके पीछे-पीछे जाते है। शेष लड़के फिर चबूतरे पर आ बैठते हैं। गांगूली, सिंह और रामनाथ उसे जाते हुए स्थिर-भाव से कुछ देर तक देखते रहते हैं]।

सिंह : बेचारा।

रामनाथ : माँ के गम में पागल हो जायेगा।

गांगूली : भालो मानुष…माँ के लिए रोता है…

सिंह : बेकार है इसलिए थोड़ा बदमाश हो गया है।

रामनाथ : गरीब है इसलिए छीन झपट कर खाता है।

गांगूली : भालो मानुष···अपनी माँ को प्यार करता है।

[अचानक गोली छूटने की आवाज चारों तरफ गूँज जाती है। लड़के सब एक साथ उठकर बाहर की ओर भागते हैं। सिंह, गांगूली, रामनाथ और रामू के चेहरों पर घबड़ाहट है। सभी अपनी अपनी जगह उठकर खड़े हो जाते हैं। बारी-बारी से एक-दूसरे को देखते हैं। आँखों में जिज्ञासा है।

[बाहर कुछ लड़कों का शोर]

सिंह : **(कुछ आगे बढ़कर विंग से बाहर देखने के बाद लौटते हुए)** वही···दूसरे मोहल्ले के लड़के हैं।

रामनाथ : जिस लड़के को इन लोगों ने मारा था ?

सिंह : हाँ, उसी का दल होगा।

गांगूली : माँ दुर्गे, माँ दुर्गे।

सिंह : आइये, हम लोग भी हट जायें। इन हरामजादों का कुछ पता नहीं, कब ये किस पर पिल पड़ें।

गांगूली : रक्षा कर माँ, रक्षा कर।

[तीनों चलने को तत्पर हैं]।

रामू : बाबू पैसे ?

गांगूली : अरे देखो, देखो। तू अभी भाग जा, नहीं तो···

रामू : बाबूजी, यह तो रोज-रोज का झमेला है। हम गरीब आदमी भागेगा भी तो कहाँ ?

सिंह : आइए गांगूली बाबू, आपके यहाँ ही चलते हैं तब तक।

गांगूली : मेरे यहाँ ?···हाँ-हाँ, भालो कथा···चलो, चलो।

रामू : बाबूजी···

सिंह : कितने पैसे हुए तेरे ?

रामू : दो रुपये बाबूजी।

सिंह : हूँह **(जेब से एक दो रुपये का नोट निकाल कर देता है)** ले, यह ले, और अब सामने से हट। रोज-रोज के बैठाने वालों पर भी तेरा भरोसा नहीं। अरे हम कोई दूसरे मोहल्ले के तो हैं नहीं कि फिर तेरी दुकान पर आयेंगे ही नहीं···

रामनाथ : छोड़िए न सिंह जी, अब उससे क्या उलझना।

[फिर गोली चलने की आवाज। शोर बढ़ रहा है]

गांगूली : **(घबड़ाकर)** चलो बाबा, चलो जल्दी करो। अब बाहर रहना ठीक नहीं। ये लड़के पागल हो गए हैं। पता नहीं क्या करेंगे।

[तीनों तेजी से बाहर निकलते हैं। खिड़की के पास लड़की का चेहरा फिर दीख रहा है। किन्तु वह तत्काल ही खिड़की बन्द कर भीतर छिप जाती है। रामू एकदम अकेला खड़ा है। पर्दे के पीछे शोर तेजी से उभर रहा है। रामू सामने पड़ा बेंच उठाकर चूल्हे के और पास कर लेता है और चुपचाप उसी पर लेट जाता है। अंधेरा]

दृश्य दो

स्थान—वही समय शाम। हल्का-हल्का अंधेरा। चाय की दूकान पर एक बल्ब जल रहा है। बैंच यथास्थान, पहले दृश्य की तरह। चबूतरे पर चार पाँच लड़के बैठे है। कई लड़कों के सिर-हाथों पर पट्टियाँ बँधी हैं।

रामू चूल्हे की आग तेज करने के लिए तेज-तेज पंख झल रहा है। बैंच पर रामन थ और सिंह बैठे हैं। सिंह काफी उदास अन्यमनस्क दीख रहा है।

रामनाथ : आज अभी तक गांगूली नहीं आया।

सिंह : हाँ, नहीं आया।

रामनाथ : क्यों, क्यों नहीं आया?

सिंह : हाँ, क्यों नहीं आया?

रामनाथ : जरूर कोई बात है। ऑफिस में तो वह इतनी देर तक रह नही सकता।

सिंह : हाँ, पाँच बजते ही वहाँ से भाग खड़ा होता हैं।

रामनाथ : नही, पाँच भी कहाँ बजने देता है। पाँच बजे तो वह यहाँ होता है। यहाँ आने में आधा घंटा तो लग ही जाता है।

सिंह : वह पैदल आता है।

रामनाथ : तब तो पूरा एक घंटा।'''अरे रामू, एक कप चाय देना।'''नहीं, दो ही दे दे।

सिंह : रामू, गाँगूली बाबू आए थे?

राम : ना साब। आज वो शायद न आयें।

सिंह : (**कुछ चौंककर**) क्यों?

रामू : बाबूजी, उनके साथ आज एक टरेजडी हो गयी है।

सिंह : ट्रैंजडी? कैसी ट्रैंजडी?

रामू : उनकी छोकरियाँ भाग गयीं साब।

दोनों : [**एक स्वर में**) क्याऽऽ? तू कह क्या रहा है?

रामू : हाँ साब, जब मारपीट होत रही, तभी वह कहीं भाग गयी। हमें तो लगता है साब, उसको भगावन खातिर ही वो सब लंकाकांड हुआ रहा।

(दोनों एक दूसरे का चेहरा देखते हैं)।

एक लड़का : ऊँह। भाग ही गयी आखिर।

दूसरा लड़का : हमें तो पहले ही शक था।

तीसरा लड़का : इतनी जल्दी भागेगी, यह तो सोचा भी नही था।

चौथा लड़का : इस मोहल्ले के लिए यह शर्म की बात है।

कई लड़के : इसका बदला लेना ही चाहिए, क्यों भाई?

पहला लड़का : पर इससे पहले तो उन लोगों को छुड़ाना होगा जिन्हें पुलिस पकड़कर ले गई है। अभी तक अशोक नहीं आया।

तीसरा लड़का : पता नहीं, पुलिस वाले किस तरह उन्हें तंग कर रहे होंगे।

पहला लड़का : हाँ, यह तो है। पर आज अशोक नहीं आया।

दूसरा लड़का : मोहित भी।

पहला लड़का : हाँ, मोहित भी तो नहीं आया।

दूसरा लड़का : खोखन को उसके घर से पुलिस पकड़ ले गई?

चौथा लड़का : किन्तु वह तो मारपीट के वक्त था भी नहीं।

दूसरा लड़का : उस मोहल्ले के लड़कों ने उसका नाम भी लिखवा दिया होगा...पुलिस को तो आसामी चाहिए।

[पाँज]

रामनाथ : सुना सिंह जी, ये लड़के फिर उत्पात करेंगे।

सिंह : भैया मैं तो तंग आ गया हूँ। सोचता हूँ, यह मोहल्ला ही छोड़ दूँ।

रामनाथ : कहाँ जाइयेगा? जहाँ जाइयेगा, इन्हें पाइयेगा।

सिंह : दो पल चैन से बैठना मुश्किल हो गया है।

रामनाथ : दिन में खाना रात को सोना हराम है।

सिंह : घर से बाहर और बाहर से घर आना-जाना दुश्वार है।

रामनाथ : रास्ता नहीं चल सकते।

सिंह : बस में नहीं चढ़ सकते।

रामनाथ : सिनेमा थियेटर नहीं देख सकते।

सिंह : ये आग लगा देते हैं।

रामनाथ : ये पेट में चाकू घुसेड़ देते हैं।

सिंह : ये गोली मारते हैं।

रामनाथ : ये लड़कियों-औरतों की इज्जत लूट लेते हैं

सिंह : पुलिस कुछ नहीं करती।

रामनाथ : पुलिस इनसे कुछ नहीं कहती।

सिंह : पुलिस इनसे डरती है।

रामनाथ : पूरा शहर आतंकित है।

सिंह : फिर?

रामनाथ : हाँ, फिर?

[दोनों एक-दूसरे के चेहरे को प्रश्न भरी नजरों से देखते हैं।]

दूसरा लड़का : फिर?

पहला लड़का : हाँ फिर?

दूसरा लड़का : फिर हम लोग क्या करें?

चौथा लड़का : हमें सोचना चाहिए। अशोक को आना चाहिए।

पाँचवाँ लड़का : खोखन और मोना को छुड़ाना ही होगा।

तीसरा लड़का : मैं तो अब कहीं का न रहा।

कई लड़के : (एक साथ) क्यों ? क्या हुआ ?

तीसरा लड़का : पापा बहुत नाराज हैं। वे पहले से ही खीझे हुए थे। मुझसे बोलते तक नहीं थे। आज उन्होंने साफ-साफ कह दिया—इस घर में आने की जरूरत नहीं तुम्हें।

पाँचवाँ लड़का : माँ ने कुछ नहीं कहा ?

तीसरा लड़का : वह बैठी रो रही थी। पापा के सामने उसकी एक नहीं चलती।

दूसरा लड़का : पर उन्होंने ऐसा क्यों किया ?

पहला लड़का : पुलिस से डर गए होंगे।

चौथा लड़का : सर्विस के लिए कह रहे होंगे। मेरा बाप भी इसी तरह मुझे धमकाया करता है···घर से निकाल देगा।

तीसरा लड़का : हाँ, वे रोज सर्विस की बात किया करते थे। हर रोज अखबारों के विज्ञापनों को टटोलते रहते थे। मेरी तरफ से खुद ही अप्लाई करते थे। किन्तु नतीजा ? वही जीरो। ढाक के तीन पात। नो वेकेंसी। जब कहीं कुछ न बना तो मुझ पर लगे खीझने। दिन रात चिड़चिड़ाते रहते हैं मुझ पर। माँ को सुना-सुना कर मुझे कोसते हैं। कहते हैं—इसमें कोई लियाकत ही नहीं है वर्ना नौकरी क्यों न मिले, बस पहले तो यह रंज था, फिर अन्य लोगों ने और भी कई शिकायतें झाड़ दीं। फिर यह मोहल्ले की लड़ाई—आज उन्होंने घर का दरवाजा ही बन्द कर दिया।

चौथा लड़का : यह सरासर अन्याय है। पर अशोक क्या कर रहा है ?

दूसरा लड़का : अब तुम क्या करोगे ?

तीसरा लड़का : क्या करूँगा ?···हाँ, सच···अब मैं क्या करूँगा ?

[सोचते-सोचते वह मंच पर कुछ आगे तक आता है। दूसरे लड़के चुप हैं। स्टिल। रोशनी इसी लड़के पर सिमटी है।]

वही लड़का : मैं तो वर्षों से यही सोच रहा हूँ कि क्या करूँगा। पढ़ते वक्त सोचा करता था कि नौकरी करूँगा, परन्तु नौकरी···तभी मुझसे कहते थे, खूब मन लगा कर पढ़ो, अच्छे नम्बर से पास होने पर ही अच्छी नौकरी मिलती है···मैं खूब मन लगाकर पढ़ता रहा···बी० ए० में फर्स्ट डिवीजन फर्स्ट रहा। मुझे पूरा विश्वास था कि मुझे नौकरी फटाफट मिल जायेगी, परन्तु···ओफ। वह सब याद करना भी कितना कष्टकारी है···तीन वर्षों से लगातार मैं नौकरी के लिए दौड़ रहा हूँ, इस बीच समय कटाने के लिए मैंने एम० ए० भी कर लिया किन्तु नौकरी न मिली। मेरे घर वाले कहते हैं···नौकरी योग्यता से मिलती है, किन्तु कैसी योग्यता ? शिक्षा की हर योग्यता मुझमें है। स्वस्थ हूँ, निरोग हूँ। फिर कौन-सी योग्यता चाहिए ? यह कोई नहीं बताता। क्या आप बतायेंगे—(**एक दर्शक की ओर इशारा करके**) क्यों साहब, आप तो नौकरी करते हैं। क्या आप बतायेंगे कि आपको किस योग्यता

के कारण नौकरी मिली ?

[हाल में से]

एक दर्शक : पैसा।

दूसरा दर्शक : रिश्वत।

तीसरा दर्शक : सिफारिश।

वही लड़का : ओह। मेरे पास तो इनमें से कोई योग्यता नहीं है।

पहला दर्शक : ऊँची कुर्सीवालों से जान-पहचान···

दूसरा दर्शक : मदिरापन···

तीसरा दर्शक : स्त्री दान···

वही लड़का : नहीं, नहीं···यह सब मैं कुछ नहीं कर सकता···मैं सचमुच बहुत अयोग्य हूँ—अपात्र हूँ मेरे पिता ठीक ही कहते हैं···मैं नालायक हूँ···आवारा हूँ··· तो फिर ? तो फिर मैं क्या करूँ ?

[वह अपने पूर्व स्थान पर आ खड़ा होता है। चारों तरफ रोशनी होती है। लड़कों में हलचल।]

एक लड़का : नहीं, इन बूढ़े लोगों को कोई अधिकार नहीं कि वे इस तरह हमारा अपमान करें···हमें घर से बाहर निकालें···।

दूसरा लड़का : यह अधिकार उन्हें है सुधीर, यह अधिकार उन्हें है, क्योंकि उन्होंने हमें पैदा किया है···।

पहला लड़का : पैदा करके हमें भटकने को छोड़ दिया है···

तीसरा लड़का : हमारे लिए कोई रास्ता नहीं बनाया···

चौथा लड़का : बताया तक नहीं कि बड़े होकर हम क्या करेंगे···

पहला लड़का : सिर्फ यह बताया कि यह मत करो वह मत करो···

दूसरा लड़का : यह सब ठीक है किन्तु उन्हें ही कहाँ पता होगा कि हम इस तरह भटकेंगे··· हमारे सामने कोई रास्ता ही नहीं होगा ?

चौथा लड़का : तुम तो इनका पक्ष लोगे ही, क्योंकि तुम्हारे बाप के पास पैसा है और वह तुम्हें कुछ नहीं कहता···नौकरी के लिए भी नहीं···।

दूसरा लड़का : यह झूठ है···ऐसा नहीं है···मैं कभी पिता पर आश्रित नहीं रहा···मैं आज भी दो-तीन ट्यूशन करता हूँ···।

चौथा लड़का : ट्यूशन ? हूँह। ट्यूशन से किसी का गुजारा होता है ?

दूसरा लड़का : नहीं, गुजारा नहीं होता, पर किसी के सामने छोटी-मोटी चीजों के लिए मैं हाथ भी नहीं फैलाता···एक कप चाय के लिए किसी के सामने नहीं गिड़-गिड़ाता···

पहला लड़का, तीसरा लड़का, चौथा लड़का : **(एक साथ)** तुम हमें गालियाँ दे रहे हो ? हम किसी की गालियाँ नहीं बरदाश्त कर सकते···समझे।

[तीनों-चारों लड़के उस लड़के को घेर लेते हैं—फिर उसके चारों तरफ घूमते हैं। वह लड़का घबड़ाया हुआ बीच में इधर-उधर घूम

रहा है। कुछ अंधेरा होता है। वह लड़का बीच में से निकलकर मंच पर आगे आता है। बाकी लड़के उसी तरह घूम रहे हैं।]

दूसरा लड़का : इन लोगों को मेरी बात बहुत बुरी लगी। बेकार आदमी किसी को कमाते-खाते नहीं देख सकता। इन्हें यह बुरा लगा कि उनके बीच का एक आदमी उनसे कुछ अलग किस्म का है। अब तक मैं इनका दोस्त था, अब शायद मुझे ये अपना दुश्मन मानेंगे।···परन्तु इन्हें मैं कैसे बताऊँ कि मेरे पिता ने बलात मेरे गले में पत्नी का जो घंटा बाँध दिया है उसे बजाते रहने के लिए मुझे हाथ-पाँव चलाते रहना पड़ता है···माँ-बाप तो शायद मेरी व्यथा कुछ समझ भी जायें, पर वह औरत, जो अभी-अभी मेरे जीवन में आयी है···कैसे मेरी मजबूरियों को समझेगी? कैसे यह मानेगी कि एक बेकार आदमी, बेरोजगार आदमी पोरुषहीन हो उठता है, उसकी आँखों के आगे हमेशा एक अंधकार ही छाया रहता है। इन लोगों को कैसे बताऊँ यह सब? क्या ये मेरी बात मानेंगे?

[चलता हुआ फिर घेरे में आ खड़ा होता है। पूरी रोशनी। लड़के उसी तरह गोल चक्कर में घूम रहे हैं। रामू चाय के कई गिलास लेकर इनके पास आता है।]

रामू : लीजिए साब, चाय लीजिए, गरम गरम इलायची वाली चाय।

सभी : (**एक साथ**) हाय। चाय।

दूसरा लड़का : अरे हम चाय की बात तो भूल ही गए। चलो, चलो चाय पीते हैं।

[सभी चाय लेते हैं और फिर चबूतरे पर इधर उधर बैठ जाते हैं।]

रामनाथ : गांगूली की कोठी में अभी तक कोई नहीं दिखा?

सिंह : खिड़की भी बंद है।

रामनाथ : लाइट भी नहीं जल रही।

सिंह : वह घर में मुँह छिपाये बैठा होगा।

रामनाथ : लड़की की जात होती ही ऐसी है। फिर आजकल की ये छोकरियाँ। राम राम। रास्तों पर क्या हायतौबा मचा देती हैं ये लोग। अब देखो न, जिसके कारण इतना कुछ हो गया, पूरा मोहल्ला दिन-भर पुलिस से घिरा रहा, दिन भर लोग भय से घर से बाहर नहीं निकले, कई लोगों को पूछ ताछ के लिए पुलिस थाने में ले गयी, उसी लड़के के साथ यह लड़की भाग गयी। छिः छिः। गांगूली बेचारे को इसने कहीं का नहीं छोड़ा। डूब मरने के लिए दो बूंद पानी भी नहीं मिलेगा गांगूली को।

सिंह : नहीं भाई, मुझे तो लगता है, ऐसी कोई बात नहीं। इसमें जरूर इस गांगूली की भी मिली भगत है, वरना···

रामनाथ : (**आश्चर्य से**) क्या कह रहे हो, सिंह?

सिंह : मैं ठीक कह रहा हूँ।

रामनाथ : नहीं, नहीं, तुम्हें कुछ भ्रम हुआ है। गांगूली इतना भला आदमी है···

सिंह : (**कुछ चिढ़कर**) मैं कब कह रहा हूँ कि बुरा आदमी है। (**कुछ क्षणों तक**

शांत रहने के बाद फिर मद्धम स्वर में) अगर ऐसा न होता तो वह लड़की कैसे भागती ? उस समय हम उसके घर में ही तो थे। एक बार भी दिखी थी लड़की ? हम बाहर के शोर-शराबे में डूबे रहे और इसी बीच मौका पाकर गांगूली ने उसे भगा दिया होगा···

रामनाथ : पर वह अपनी लड़की को भगायेगा क्यों ?

सिंह : (**कुटिलता से मुस्कराता है**) तुम भी पूरे बुद्धू हो। अरे भाई लड़की के भाग जाने से गाँगूली को कितना फायदा हुआ, यह भी तुमने सोचा है ?

रामनाथ : (**और चकित होकर**) फायदा ? लड़की के भाग जाने से ? यह कैसी बातें कर रहे हो, सिंह ?

सिंह : (**हँसता है**) यही तो सच्ची बातें हैं···समझते तो तुम भी हो, पर स्वीकारते नहीं···

रामनाथ : (**कुछ अचकचा कर**) परन्तु···

सिंह : अरे किंतु परंतु कुछ नहीं। यह गांगूली एक नम्बर का धूर्त है। लोभी। देखते नहीं हो, लखपति आदमी होकर अठन्नी बचाने के लिए पैदल ही आता-जाता है।

रामनाथ : पर···

सिंह : (**उसी प्रवाह में**) लड़की बड़ी हो गई थी। भाग गयी तो इसका वह खर्चा बच गया जो लड़की की शादी में करता। दो-चार महीनों बाद जब लड़की शादी-शुदा रूप में यहाँ लौटेगी तब देखना, यही गांगूली किस तरह अपनी बेटी और दामाद का आदर-सत्कार करता है।

रामनाथ : पर···लेकिन···क्या ऐसा भी होता है ?

सिंह : (**फिर हँसता है**) यहाँ कैसा नहीं होता, रामनाथ बाबू ? यहाँ तो वह सब कुछ होता है जो कहीं-नहीं होता है। ऐसे ही यह शहर थोड़े ही जिंदा है।

रामनाथ : इनसे शहर जिन्दा है ?

सिंह : हाँ, इन्हीं लोगों से यह शहर जिन्दा है। यहाँ सीधे रास्ते कुछ नहीं होता। यहाँ सब उलट-गंगा है।

रामनाथ : आज तुम किस तरह की बातें कर रहे हो, सिंह ?

सिंह : जिस तरह की बातें तुम सुनना चाहते हो, बंधु हम सबके मन में एक चोर छिपा बैठा रहता है जो सिर्फ दूसरों की हँसी चुराकर खुश होता है। दूसरों का कुछ बुरा होते देख हम सब कहीं न कहीं थोड़ा-बहुत खुश होते ही हैं। तुम तो यही जानना चाहते हो न कि गांगूली अब लड़की के भाग जाने के बाद क्या करेगा ? वह हमारे साथ फिर बैठेगा कि नहीं ? वह आकर बैठेगा तो शायद हम उससे सहानुभूति दिखायेंगे, थोड़ा दुख प्रकट करेंगे और मन ही मन खुश होते रहेंगे, कि यह आदमी अब समाज में सिर उठाकर बात नहीं करेगा। है न ?

रामनाथ : किसी के दुख दर्द में आदमी सहानुभूति दिखाता ही है।

सिंह : हाँ, दिखाता है, क्योंकि सहानुभूति दिखाकर भी आदमी अपने लिए पुण्य

बटोरने जैसा सुख प्राप्त करता है। वह दूसरों के ऊपर एक तरह का अहसान का बोझ लादता है, उसको और ज्यादा जमीन में गाड़ने के लिए'''तुम भी शायद यह सुख, यह पुण्य लूटना चाहते हो।

रामनाथ : (**कुछ गुस्से से**) तुम्हारी बहकी-बहकी बातें मुझे यहाँ से उठ जाने को बाध्य कर रही हैं।

सिंह : (**तटस्थ भाव से**) तुम्हीं क्यों, यहाँ बैठने वाला हर आदमी कभी न कभी उठ ही जायेगा। पर यह तो सोचो कि क्या इस तरह उठ जाने से ही तुम संतुष्ट हो जाओगे? बच जाओगे?

रामनाथ : बोर तो नहीं होऊँगा?

सिंह : और अगर अभी गांगूली आ जाये?

रामनाथ : तो मैं उससे एक शब्द भी नहीं पूछूँगा।

सिंह : और अगर ये लड़के अभी आकर तुम्हें ही घेर लें?

रामनाथ : (**कुछ घबड़ाकर**) मुझे? मुझे क्यों घेरेंगे?

सिंह : तुम भी उसी मोहल्ले के हो, जिस मोहल्ले से इनका झगड़ा चल रहा है।

रामनाथ : (**काँपते हुए**) पर इन लड़कों से मेरी कोई दुश्मनी नहीं है।

सिंह : तुम्हारे मोहल्ले के लड़कों से भी पहले इनकी कोई दुश्मनी नहीं थी।

रामनाथ : मैं इन्हें नहीं बताऊँगा कि मैं उस मोहल्ले का हूँ।

सिंह : ये सब पता लगा लेते हैं'''सब खबर रखते हैं।

रामनाथ : तो क्या वे जानते है कि मैं उस मोहल्ले का हूँ?

सिंह : हाँ, बहुत पहले से जानते हैं। इतने दिनों से तुम यहाँ बैठ रहे हो'''लड़के भी तो यहीं रहते हैं। उनके मोहल्ले में कौन रहता है कौन नहीं, उन्हें क्या पता नहीं है?

रामनाथ : ओह। वे सब जानते हैं?

सिंह : हाँ, सब जानते हैं।

रामनाथ : फिर भी वे मुझसे कुछ नहीं कहते?

सिंह : हाँ, क्योंकि तुम मेरे साथ बैठते हो।

रामनाथ : तुम? तुम कौन हो?

सिंह : मैं? हा-हा-हा। मुझे नहीं जानते?

रामनाथ : (**आतंकित होकर**) हाँ'''तुम'''तुम कौन हो?

सिंह : मैं'''मैं इस मोहल्ले का हूँ।

रामनाथ : तो?

सिंह : तुम उस मोहल्ले के हो।

रामनाथ : तो?

सिंह : मोना मेरा बेटा है।

रामनाथ : तो?

सिंह : वह आज सुबह से थाने में बंद है।

रामनाथ : तो?

सिंह : तुम्हारा मोहल्ला इस मोहल्ले का दुश्मन है।
रामनाथ : नहीं।
सिंह : मैं एक मोहल्ला हूँ, तुम दूसरा मोहल्ला हो।
रामनाथ : नहीं, नहीं। तुम तो मेरे दोस्त हो।
सिंह : मैं एक मोहल्ला हूँ।
रामनाथ : तुम मेरे साथ चाय पीते हो।
सिंह : तुम दूसरा मोहल्ला हो।
रामनाथ : (अत्यधिक घबड़ाहट में) नहीं, नहीं, नहीं सिंह। यह क्या कर रहे हो? वह दूर रखो।
सिंह : (चकित) चाकू ?
रामनाथ : मुझे गोली मत मारो।
सिंह : गोली ?
रामनाथ : मैं बरबाद हो जाऊँगा।
सिंह : तुम ?
रामनाथ : मैं मर जाऊँगा। नहीं, मुझे मारो मत···मत मारो···मैं तुम्हारा दुश्मन नहीं हूँ···।

[रामनाथ चीखते-चीखते भाग खड़ा होता है। सिंह तथा अन्य लड़के भी चकित अपनी जगह पर स्थिर खड़े हैं। फिर दो लड़के तेजी से दौड़कर रामनाथ के सामने जा खड़े होते हैं! रामनाथ डरकर पीछे हटता है। काँपता है।]

रामनाथ : नहीं-नहीं मुझे मत मारो, मैं तुम्हारा दुश्मन नहीं हूँ।
एक लड़का : कौन कह रहा है कि आप हमारे दुश्मन हैं?
दूसरा : आपको इस तरह किसने डरा दिया?
तीसरा : हमने तो आपको कुछ कहा नहीं, फिर?
रामनाथ : (शंकित भाव से) नहीं-नहीं, तुम लोग मुझे जाने दो···मैं···
पहला लड़का : हाँ-हाँ, चले जाइयेगा, पर पहले एक कप चाय तो पी लीजिए।
रामनाथ : (आश्चर्य से) चाय ?
दूसरा : हाँ-हाँ, चाय, आज हम सब एक साथ ही चाय पियेंगे। फिर एक साथ ही अशोक की माँ को देखने चलेंगे···क्यों भाई ठीक है न?
सभी लड़के : हाँ-हाँ, ठीक है।
पहला लड़का : क्यों सिंहजी, आप भी चलेंगे न?
सिंह : क्यों नहीं, क्यों नहीं।
दूसरा लड़का : रामू···फटाफट सबको चाय पिला···एक एक कप।
सिंह : और सबके पैसे मैं दूँगा।
रामनाथ : आप? नहीं, मैं दूँगा।
सिंह : नहीं, मैं।
रामनाथ : नहीं, कदापि नहीं, आज सभी के पैसे मैं दूँगा·· क्यों बच्चो, ठीक है न?
एक लड़का : रामनाथ चाचा···।
सभी लड़के : जिन्दाबाद···रामनाथ चाचा जिन्दाबाद!

[सभी उल्लास में है।]

(परदा)

□ पाश

पुलिस के सिपाही को

पीछे छोड़ आया हूँ मैं
समन्दर-रोती बहिनें
अज्ञात भय में काँपती—
बाप की दाढ़ी
और मन्नतें मानती
गश खाती मासूम ममता को
मेरे नांद पर बँधे
बेजुबान पशुओं को
कोई छाँह में नहीं बाँधेगा
पानी तक नहीं पिलाएगा
और मेरे घर कई समय
शोक में चूल्हा नहीं जलेगा,

सिपाही ! कहो क्या तुम्हें भी
मैं इतना खतरनाक दिखाई देता हूँ
भाई ! सच तो बताना
मेरी उघड़ी हुई चमड़ी
और मेरे मुँह से बहते लहू में तुम्हें
कुछ अपना नहीं दिखाई देता ?

भले लाखों शेखियाँ बघारते रहो
तुम शत्रु-सेनाओं में
तुम्हारी नींद में बोझिल आँखें
और पथरा गया माथा
तुम्हारी फटी हुई नेकर
और उसकी जेब में रम गयी—
जहरीली-गंध तंबाकू की

तुम्हारी चुगली खाती हैं
नहीं साझी तो बस अपनी
यह वर्दी ही नहीं साझी
लेकिन आज भी तुम्हारे परिवार के दुःख
मेरे साथ साझा हैं

तेरा भी बाप जब फेंकता
सिर से चारे की गाँठ-भरी
तो उसकी कसी हुई नसें
यही तो याचना करतीं
कि अब वह कौन सा पल हो
कि बुरे का सिर तोड़ दिया जाये

तेरे बच्चों को भाई, जब
स्कूल का खर्च नहीं जुड़ता
नहीं मिलती ज़रूरतें तो सीना—
फट-सा जाता है,
तुम्हारी अर्धांगिनी का

तुम्हारी पी हुई रिश्वत
जब तुम्हारे भीतर सुलगती
तुम्हें जलाती है
चाहते हो तुम भी तब
हकूमत की शाह-रग तोड़ना—
जो कुछ वर्षों में ही खा गई
तुम्हारा चन्दन-सा शरीर,

ऋषियों-सी तुम्हारी वृत्ति
और बरसाती-वायु-सा
लुभावना परिवार का सुख
वर्दी की ओट में कितने ही तुम
मुझसे दूर खड़े रहो
तुम्हारे मन की दुनिया
मुझे कचोटती, ललकारती है

हम जो संभालते फटेहाल
आवरा, रोगी बचपन को

आटे की तरह गूँथते रहे
किसी के लिए ख़तरा नहीं बने

और वह जो हमारे सुख की जगह
बिकते रहे, बिखरते रहे
किसी के लिए भी चिन्ता नहीं बने

भले तुम दुश्मनों के हाथ में
हो बन गये सहारा आज, सोटी-सा
पेट पर हाथ रखकर सच बताना
हमारी जाति को अब किसी से
क्या और ख़तरा है ?

हम सिर्फ़ ख़तरा हैं तो
उन्हीं के लिए
जिन्हें संसार भर में
सिर्फ़ ख़तरा ही ख़तरा है।

तुम अपने मुँह की गालियों को
अपने अमूल्य गुस्से के लिए
संभाल कर रखो,
मैं कोई सफ़ेदपोश
कुर्सीलाल नहीं

इस अभागे देश की
नियति को गढ़ते
धूल में लथपथ हज़ारों चेहरों में से—
एक हूँ,
मेरे माथे पर बहते पसीने से
कोई भी दरिया छोटा है मेरे देश का

किसी भी धर्म का कोई ग्रंथ
मेरे ज़ख्मी होंठों की खामोशी से
ज्यादा पवित्र नहीं,

मेरे बारे में गलत बताया है
तुम्हारे कायर अफ़सर ने
कि मैं इस राज्य का
एक मारखोर महाशत्रु हूँ, दुश्मन हूँ

नहीं, अभी तो मैंने
दुश्मनी की शुरुआत ही नहीं की
अभी तो पराजित हो जाता हूँ
मैं घर की मुश्किलों के आगे
अभी मैं अमल (कर्म) की खाइयाँ
कलम से भर लेता हूँ
अभी मैं हिस्सेदार जाटों के बीच
लरजती कड़ी हूँ
अभी मेरी दाँयीं बाँह
तुम भी, मेरे से दूर क्यों हो ?
अभी मुझे नाइयों के उस्तरों को
खंजरों में बदलना है
अभी राजमज़दूरी की कांडी पर
लिखूंगा मैं चंडी की वार।

चमकते नारों को जन्म देती कोख में
भीगकर ज़हर में घूमनी है
अभी तो मोचीराम की आर,

और इस शैतान के झंडे से ऊँचा
लहराना है अभी बोलता—खौलता हुआ
धुम्मे तरखान (बढ़ई) का तेसा,
अभी तो लागियों ने लाग लेना है
जुबलियों के बीच जो आते, जाते लोगों के जूठे
बर्तन माँजते रहे हैं

अभी 'खुशिए' हरिजन ने
जलाकर हुक्के में धरनी है
किसी कुर्सी पर बैठी गीद्ध के
रान की नरम हड्डी गर्म हड्डी।

मैं जिस दिन सातों रंगों को मिलाकर
इन्द्रधनुष बुनूँगा
मेरा एक भी हमला
दुश्मन पर खाली नहीं जाएगा

तब फिर झंडी वाली कार के
बदबू भरे थूक के छींटे
मेरी ज़िंदगी के चाव भरे
चेहरे पर नहीं चमकेंगे।

मैं उस रोशनी की प्राचीर तक
अकेला पहुँच नहीं सकता
तुम्हारी भी जरूरत है
तुम्हें भी वहाँ पहुँचना पड़ेगा ही,

कि हम तुम काफ़िला हैं एक
ज़िंदगी की तीखी खशबुओं का
तुम्हारी पीढ़ियों की खाद
इसके शरीर में रमी है।

हम तो गीता-सी गुज़र के
बेताब आशिक हैं
और हमारी तड़प में
तुम्हारी उदासी का नग़मा भी शामिल है,

सिपाही ! कहो, मैं तुम्हें भी
इतना ख़तरनाक दिखता हूँ ?
मैं पीछे छोड़ आया···

अनुवाद : **फूलचन्द मानव**

□ तुलसी मुखोपाध्याय

उससे पहले-नहीं

मृत्यु जो अचानक ही
आ धमकती है
डाकू की तरह
मेरे दरवाजे पर दस्तक देती है
जरखरीद गुलाम की तरह
कहती है—'यस सर !'
लेकिन मैं उसे देख'
हड़बड़ाकर खड़ा नहीं होता !

जीवन की किसी भी कक्षा में
अच्छे आचरण के लिए
मैं पुरस्कृत नहीं हुआ
मृत्यु खूनभरी आँखों से
मुझे घूरते हुए
चीखकर पुकारती है

मैं ध्यान मग्न तपस्वी की तरह
हृदय के भावों को लेकर
रक्त-माँस में प्राण संचार करता रहता
गुस्से में तमतमाती मृत्यु
एक झपट्टे के साथ
मेरा कॉलर पकड़ लेती है

पर्वत की तरह अडिग—अचल
मैं मुस्कराकर बोला—
मैंने आखिरी कविता अभी लिखी नहीं
उससे पहले—नहीं !

□ राजाराम चौधरी

मैं आ रहा हूँ

मैं आ रहा हूँ
तूफान की तरह
आ रहा हूँ।

बरफीले पहाड़ों को
तोड़ते-फोड़ते आ रहा हूँ
दोनों मुट्ठियों में
ब्रह्मांड के नक्षत्रों को लिये
मैं आ रहा हूँ।

तुम लोग मेरी राह में
कोई दीवार न बनाना
मैं मानूँगा नहीं,
(दीवारों को)
चकनाचूर करने के लिए ही मैं आ रहा हूँ
तूफान की तरह आ रहा हूँ।

मैं तुम सबकी आँखों से
कालिख मिटाने आ रहा हूँ
जीवन-बसंत लिये आ रहा हूँ।

तूफान की तरह आ रहा हूँ
मैं आ रहा हूँ।

☐ जतीन्द्रनाथ मंडल

सृजन की रूपरेखा

एक अक्षर अगर धूप में तपता है
तो आसान नहीं होता उसे तोड़ना
एक शब्द को अगर आग में जलाया जाये
तो उससे पैदा होता है
एक और नया शब्द

एक वाक्य को
अगर पीट-पीटकर बड़ा किया जाये
तो जन्म लेता है वहाँ और एक शब्द

एक अनुच्छेद को
अगर सही जगह पर खत्म किया जाये
तो उससे शुरुआत होती है
एक और पंक्ति की

एक कविता
अगर ठीक जगह पर पूरी नहीं होती
तो उससे जन्म होता है
एक और अनुच्छेद का

एक चुम्बन
यदि सही वक्त पर न दिया जाये
तो उससे होती है एक और मृत्यु

ठीक इसी तरह
एक धड़कन को अगर सही वक्त पर
दूसरी धड़कन से जोड़ दिया जाये
तो वहाँ उत्पन्न होता है
एक अमृत चुम्बन

इस अमृत चुम्बन को घेरे रहते हैं
जन्म और मृत्यु
तुम, मैं और वह···
दरअसल,
हम सब पूर्व चुम्बन के ही फल हैं

सभी कविताओं का अनुवाद : **मुनमुन सरकार**

संन्यासिनी

□ अनिल सोनार

ठंड के कारण रास्ते पर वह लम्बे-लम्बे डग भरती बढ़ रही थी। उसने गेरुआ उत्तरीय लपेट लिया था। फिर भी ठंड उसके तन-बदन को जैसे डस रही थी। पल्लू से सिर ढका होने के बावजूद कनपटी जम कर बर्फ हो रही थी। हाँ, मुँह पर लपेटे उत्तरीय के कारण उच्छवास के समय हल्की-सी उष्मा का अहसास जरूर हो जाता था।

उसके साथ घाटी तक जैसे-तैसे आये बीस-पच्चीस साथियों को अब उसके कदमों से कदम मिला कर चलना भारी पड़ रहा था। सात-आठ युवकों के अलावा अन्य सहयोगी काफी पिछड़ गये थे। वृद्ध सेठ करमचंद, उनकी पत्नी तथा अति वृद्ध माँ अपने वाहन में सवार होकर उसे विदा करने दूर तक आये थे। उनकी कार सबसे पीछे धीमी गति से आगे बढ़ रही थी।

घाटी की तलहटी के पास ही कार रुक गयी। चारों ओर सन्नाटा था। सभी लोग मुँह सिल कर धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये। उनकी ओर मुस्कान भरी निगाह फेर कर उसने चार धर्मतत्त्वों का आदतन उपदेशात्मक पुनरुच्चार किया और ध्यानस्थ मुद्रा में बैठी रही। एक-एक करके सभी लोगों ने चरण छूकर उसका अभिवादन किया। वृद्ध सेठ करमचंद, उनकी पत्नी और अति वृद्ध माँ भी उनमें शमिल थे। साठ-सत्तर के बुजुर्गों को अपने चरण छूते देख कर शुरू-शुरू में उसे बड़ा ही अटपटा लगा था। लेकिन बाद में ऐसी कई बातों की वह आदि हो गयी और अब तो ऐसा कोई विचार उसके दिमाग को छूता ही नहीं।

उसने मुड़ कर देखा। वे लोग अपने गाँव की ओर लौट पड़े थे। सेठ करमचंद की कार तो कभी की जा चुकी थी। अब दुबारा किसी संन्यासी या संन्यासिनी के आने तक ये लोग इसी मस्ती में मदमाते रहेंगे मानो इन दो दिनों में उन्होंने बड़ा भारी धर्मकृत्य किया हो। घाटी पार कर लगभग बीस किलोमीटर की दूरी पर अगला पड़ाव। उस गाँव के लोग भी इसी अन्दाज में स्वागत के लिए आएंगे। संन्यासिनी के सत्संग में, आत्म साधना में लीन हो जाएगे और दो दिन बाद विदा करने के लिए कुछ दूर तक ऐसे ही चले आएंगे और लौट भी जाएंगे··· विदाई समारोह में दो-चार कदमों का फासला रखकर चल रहा, लाल स्वेटर वाला वह युवक उसे याद हो आया। उसकी बातूनी आँखें, कुतूहल भरी निगाहें और सवालिया हाव-भाव आदि अब संन्यासिनी के लिए नया नहीं था। हर पड़ाव में एक-न-एक ऐसा युवक अवश्य निकल आता था। लेकिन स्पष्ट रूप से अपने दिल की बात उससे कहने का साहस कोई नहीं जुटा पाता। तथापि वह उनकी आँखों की बात समझ लेती थी। कई बार उनकी सवालिया निगाहों में उसे उत्पीड़न, दर्द और संवेदना का अहसास भी होता था। सुगठित, भरी-पूरी काया तीखे नैन-नक्श,

सलोना रंग-रूप, महीन स्वर माधुर्य और समूचे बदन पर व्याप्त यौवन की आभा तथा हिरनी सी आँखें···फिर भी संन्यासिनी ? इस पारस का स्पर्श तो किसी-न-किसी महाभाग की जिन्दगी को हो जाना चाहिए था। बेचारे की जिन्दगी सोना बन जाती। कच्ची उम्र में इसके दिमाग पर सवार आध्यात्मिक भूत को उतारने का प्रयास क्या किसी ने किया नहीं ? उसके माँ-बाप ने भी नहीं ? बहन-भाई, अन्य सगे-सम्बन्धी भी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे ?···सवालिया निगाहों में इस क़दर भावोत्कटता यदा-कदा ही महसूस की जा सकती थी। बाक़ी निगाहों में कुतूहल और गर्व का पुट ही अधिक रहता था। हर पड़ाव में उस गाँव के लोग बड़े अभिमान के साथ उम्र में तेरह-चौदह साल के उन लड़के-लड़कियों का गुणगान करते जो-स्वेच्छा से दीक्षित हो चुके हैं···स्वेच्छा से···? संन्यासिनी के लिए अब यह गुणगान नया नहीं था। क्या वास्त व में ही उन नासमझ बच्चों ने स्वेच्छा से दीक्षा प्राप्त की होगी ? या कोई अपराध उनसे हुआ होगा? लेकिन कमसिन बालक कौन-सा अपराध कर सकते हैं ?

'तुम्हें ऐसा तो नहीं लगता कि तुम गलत काम कर रही हो ? तुमने सोच-समझ कर और दृढ़तापूर्वक यह निर्णय लिया है न ?' इससे पहले कई बार पूछे गये प्रश्न उसने फिर से दुहराये तो वह उखड़ गयी। गुस्सा आने पर अपने लम्बे-लम्बे बालों की चोटी पीछे झटककर गरदन को एक तरफ को वह लटका लेती थी। आदतन अब वह गर्दन को झटकने वाली ही थी कि उसने अपनी मजबूत हथेलियों से उसकी गरदन पकड़ ली और वह ठठा कर हँसने लगा। उसकी खुर-दुरी, मर्दाना हथेली का स्पर्श नरम-मुलायम गालों को सहलाने पर वह सिहर उठी। उसने कहा, "सॉरी, कहीं तुम्हारी गरदन टूट न जाए इसीलिए पकड़ ली मैंने। तुम गरदन उठा कर चल सको इसीलिए तो मैं संयम बरत रहा हूँ। यदि वही गर्दन टूट जाए तो मेरा क्या होगा ?" उसकी हिरनी-सी आँखें नम हो गयीं। उसके प्रति अपना विश्वास मानो आँसुओं में सिमट गया था। उसने गंभीरता से कहा, "देखो नीता, शादी करूँगा तो सिर्फ तुमसे। मेरे घर वाले तो इसके लिए राजी हैं। लेकिन पहले तुम स्वयं आश्वस्त हो लो। एक बार उठाया गया कदम हर हालत में आगे ही बढ़ना चाहिए। यदि कदम उठाने के बाद तुम्हें अपनी गलती का अहसास हो जाए तो समझ लो कि हम दोनों की जिन्दगी बरबाद हो गयी। इसीलिए मैं तुमसे बार-बार पूछ रहा हूँ !"

"देखो, हम दोनों बालिग हैं। सुविज्ञ हैं। मुझे नहीं लगता कि मेरे पिताजी इसमें बाधा डालेंगे और हमारा समाज उतना पिछड़ा हुआ नहीं है, जितना तुम समझ रहे हो।"

"देखो नीता, किसी चीज की यथार्थता जान लेनी हो तो उसे दूर से देखना चाहिए। तुम अपनी बिरादरी के बारे में कुछ नहीं जानतीं। ये बनिये लोग आधुनिकतम चीजें बेचते तो हैं लेकिन परम्पराओं से जुड़े रहने की भी पुरजोर कोशिश करते हैं। पैसा कमाने के लिए दुनिया के किसी भी कोने में चले जाएँगे, लेकिन अपनी बिरदरी से बाहर रिश्तेदारी कतई नहीं करेंगे। तुम्हें अन्य किसी जाति में ब्याहता देखने के बजाय आजन्म कुँआरी रखना वे पसंद करेंगे।"

"इसके बावजूद तुम मुझसे ही शादी करना चाहते हो। बोलो, तुम मेरे लिए क्या-क्या कर सकते हो ? क्योंकि कल ही बाबूजी रतलाम के किसी लड़के से मेरी बात पक्की करके आये हैं।"

"उससे क्या होगा ? हम शादी करेंगे। मुझे दुनिया से कोई सरोकार नहीं। ऐन मौके पर तुम डट कर खड़ी रहो, तो जीत अपनी ही होगी। प्रियजनों के बिछुड़ने से प्यार का बिछुड़ना

दुखदायी होता है। कम-से-कम मेरे लिए तो ऐसा ही है।"

घाटी चढ़ लेने पर उसने पीछे मुड़ कर देखा। कई खूबसूरत मोड़ों से गुजरकर तलहटी के छोटे से गाँव में वह सड़क सिमट-सी गयी थी। यहीं से आज उसने प्रस्थान किया था। कल साध्वी नीता देवी के रूप में उसने वहाँ प्रवचन किया था। वहाँ वह धर्मरक्षक, प्रीतिरक्षक संन्यासिनी थी। लेकिन इस क्षण वह उस गाँव की कुछ नहीं थी। दुनियादारी के सभी मोहपाशों का त्याग कर देने के बाद फिर कैसे बंधन? अब उसका किसी से कोई रिश्ता नहीं था। इसीलिए वह अब बंधमुक्त थी और इसीलिए उसके सगे माँ-बाप भी उसे विदा करने आये थे और उसके चरण छू कर उन्होंने उसका अभिवादन किया था।

उगते सूरज की सुनहरी किरणें अब उसे चूमने लगी थीं। हवा के झोंके से उसका पल्लू खिसक गया और उसने अपने सफाचट सिर को सहलाने का प्रयास किया। इत्ते-इत्ते ठूँठनुमा बालों के खुरदुरे स्पर्श से वह लहूलुहान हो गयी। इस बहाने अतीत फिर से उसके सामने आने लगा। अब उन्हें बढ़ने का कोई अधिकार नहीं था। ठूँठ बने रहना ही उनकी नियति थी।

अब आगे ढलान थी और ढलवाँ रास्ता था। वृक्षहीन, बेजान पहाड़ियों के कारण रास्ते के मोड़ साफ नजर आने लगे थे। तथापि तलहटी में जरूर कुछ हरे-भरे पेड़ दिखाई पड़ रहे थे। शायद आज इसी गाँव के लोगों को उसका इन्तज़ार था। सूर्योदय के बाद ठंड का असर कम हो गया था। तथापि, आदतन उसने सिर को पल्लू से ढक लिया। बालों के ठूँठ अक्सर गेरुए पल्लू से बाहर झाँकते थे। लेकिन अब वह इस स्थिति की अभ्यस्त हो चुकी थी। जब पहले पहल उसके लम्बे, घने काले बालों को चाँदी की कैंची से काट कर चाँदी की तश्तरी में रखकर उस समय उसके मूक आक्रोश की उलाहना बेज़ुबान थी और बाद में स्वेच्छा से किये गये केशवपन के दौरान बहे रक्त की करोड़ों बूंदों से भी उसका मौन नहीं टूट सका। उसके उन्हीं बालों को प्यार से सहलाते हुए पिताजी ने उसे आशीर्वाद दिया था—"सदा सुहागन रहो। खुश रहो!" उस समय तो उसकी खुशियों का कोई ओर-छोर ही नहीं था उसके ससुराल वालों को भी आश्चर्य हुआ उनके दिल का भ्रम तोड़ने के लिए उसके पिताजी ने कहा भी, "जाति-पांति में रखा ही क्या है? आज-कल तो जमाना नौजवानों का है।" इसके बाद चिकोटी काटने के अंदाज में उन्होंने कहा, "वैसे तो यह सौदा मेरे लिए फायदेमंद ही रहा। बेटी की शादी अपनी बिरादरी में करता तो लाख-दो लाख खर्च हो जाते। कम से कम वह रकम तो बच गयी....."कह कर वे स्वयं ही हँस पड़े थे। उसके बाद दो-एक दिन तो वह मानो हवा में तैरती रही। ससुराल में, उसके हाथों से बनाया खाना खा कर तथा उसे आशीर्वाद देकर पिताजी चले गये। "मेरी बेटी को संभालिए, मैं अपनी बिरदरी वालों से निपटता हूँ" कहते हुए उनका गला जैसे रुंध गया था।

भोंपू बजाते हुए एक कार उसके करीब आ कर रुक गयी। वह चौंक कर सड़क के एक ओर चली गयी। गलती तो उसी की थी। अतीत में खोकर वह रास्ते के बीचोबीच चल रही थी, बेहोश-सी। ढलवाँ, मोड़दार रास्ते में इस तरह की बाधा से ड्राइवर का उत्तेजित हो जाना स्वाभाविक था। माफी माँगने के इरादे से वह हाथ जोड़ने को ही थी कि ड्राइवर की बगल में बैठा गोलमटोल आदमी बाहर आ गया और उसने नीता देवी के पैर छूकर अभिवादन किया। उस व्यक्ति के दोनों हाथों की चार-चार उँगलियों में हीरे की अँगूठियाँ थी, गले में सोने की मोटी-सी चेन और पचास पार कर लेने के बाद भी युवाओं की तड़क-भड़क वाले कपड़े। इसके अलावा पाँच-सात लाख की आलीशान कार! उसका आशीर्वाद ले कर सुवालाल की कार

सरपट आगे निकल गयी।

अगले पड़ाव में धार्मिक कार्यक्रमों के आयोजन की संपूर्ण जिम्मेदारी सुवालाल पर थी। अतिशय धार्मिक प्रवृत्ति के दानी व्यक्ति के रूप में वे सुपरिचित थे और अब दायित्व-निर्वाह के लिए ही वे फुर्ती से चले गये थे। संन्यासिनी के लिए वाहन वर्जित होने से वे मजबूर थे। वरना तो हर साधु-सन्यासी तथा साध्वी को एक-एक वाहन वे अवश्य बख्शते।

रो-रो कर उसकी आँखें लाल हो गयी थी। माँ-बाप ने उसे यूँ ही मिलने के लिए मायके बुला लिया और बेचारी यहाँ आ कर फँस गयी। अभी उसकी शादी को चार दिन ही तो हुए थे। उसके कमरे में बाहर से ताला लगा था। यानी कमरे के बाहर की दुनिया से उसका कोई सरोकार नहीं रहा था। तथापि, बाहर की बातें उसे बकायदा सुनाई पड़ती थीं दरवाजे की झीरी से उसने बाहर की झलक पाने का काफी प्रयास किया। लेकिन दीवानखाने का एक छोटा-सा हिस्सा ही उस झिरी की परिधि में आता था। बिरादरी के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति उसके घर आने-जाने लगे थे और हर एक के मुँह से पुलिस, गुंडे, कोर्ट…हत्या आदि शब्द ही सुनाई पड़ते थे। कुल मिला कर वहाँ के माहौल का अनुमान उसे हो गया था। उसे चिन्ता थी तो यही कि अपने पति का क्या हुआ होगा? इन लोगों ने उसे सुला तो नहीं दिया होगा? इस कदर ज्यादती तो संभव नहीं थी। क्योंकि उसके साथ थोड़ा-सा भी बद-सलूक किया जाता तो उसकी बिरादरी के लोग गाँव के सभी दुकानों को आग लगा देते। जात-बिरादरी के खोखले लेबल इन्सान को इस कदर असहिष्णु और खूंखार बना सकते हैं…? वह असहाय-सी केवल सुन रही थी। अपने पति से तो दूर, अपने माँ-बाप से भी उसे नहीं मिलने दिया जा रहा था।

लाख कोशिशों के बावजूद डाट-डपट करने वाले उस व्यक्ति की शक्ल उस झिरी से वह देख नहीं पायी थी। तथापि उस व्यक्ति के हाथ की उँगलियों में पहनी हुई अँगूठियाँ जरूर उसकी निगाहों में बस गयीं। उसका दिल तड़प रहा था, अपनी असहायता को कोसने लगा था। एक बालिग, सुविद्य स्नातिका ने बाकायदा शादी की थी। इसके बावजूद यह असहायता? पति इस झंझट से मुक्ति पाने के लिए अपनी जान से न खेल बैठे…?

उसे लगा था कि अपना धंधा-कारोबार छोड़कर ये लोग कब तक अपने घर में डेरा जमाए बैठे रहेंगे? धीरे-धीरे उत्तेजना कम होगी और वातावरण पूर्ववत् हो जाएगा। लेकिन ऐसे कोई आसार तो नजर नहीं आ रहे थे। आज की चर्चा सुनने के बाद तो उसके हौंसले और भी पस्त हो गये। जाने-अनजाने में भी किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाने वाले ये अहिंसक लोग अपनी बिरादरी के अहंकार का जतन करते हुए किसी युवक के जज्बातों का गला क्या इतनी सहजता से घोंट सकते हैं? उसके अरमानों की दुनिया को इतनी बेरहमी से तहस-नहस कर सकते हैं? उस बेचारी से अपना रास्ता खुद तय करने का अधिकार तो छीन ही लिया था, साथ ही उसके परिजनों को भी बेआबरू और बेजुबान बना दिया गया था। उनकी मानसिक स्थिति का जायजा लेने की आवश्यकता किसी ने भी महसूस नहीं की। क्योंकि घर से भागकर उसने शादी जो कर ली थी। इसी वजह से बदनामी को नजरन्दाज करने के लिए कोई तैयार नहीं था। उसे तो उन युवकों पर तरस आ रहा था जो एक ओर तो आधुनिक शालीन और सुधार-वादी होने का स्वांग भरते हैं लेकिन दूसरी ओर कालातीत और दकियानूस विचारधाराओं से चिपके रहते हैं। वहाँ ऐसे युवक समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के इशारे की प्रतीक्षा में ही थे।

इशारा मिलते ही सरेआम उन दोनों का काम तमाम कर देने के लिए वे तैयार खड़े थे। लेकिन उनके इस दकियानूसी उत्साह को हीरे की अँगूठियों वाली उँगलियाँ नियंत्रित कर जल्दबाजी न करने की सलाह दे रही थीं।

'महासाध्वी नीता देवी की जय हो' गाँव के प्रवेश द्वार पर ही हरे वस्त्र पर बड़े-बड़े गेरुए अक्षरों में लिखा गया था। कमानी के खंभे पर रंगीन टी० वी० के पोस्टर लटका दिए गए थे। संभवतया सुवालाल जी की ऐजेन्सी का वह विज्ञापन था। प्रवेश द्वार पर ही श्रद्धालु लोगों ने नीता देवी की जोरदर अगवानी की।उसे गाजे बाजे के साथ मन्दिर तक लाया गया। वहाँ पहले से ही एक अधेड़ उम्र की संन्यासिनी मौजूद थी। उसने श्रम परिहार हेतु नीता देवी के पैर दबाए और अन्य सेवा की। तत्पश्चात नीता देवी ने भी प्रतीक स्वरूप उस अधेड़ संन्यासिनी की सेवा की। भाषण, प्रवचन, आशीर्वाद और विदाई—इसी क्रम से कार्यक्रम होने वाला था। अति उत्साही व्यक्तियों ने स्थानीय महाविद्यालय में भी उस के भाषण का एक कार्यक्रम आयोजित किया था। सेठ सुवालाल ने इस महाविद्यालय के लिए बहुत बड़ी धनराशि दी थी।

शोख चंचल, आकर्षक वस्त्र पहने युवक-युवतियों को देखकर उसे एक धार्मिक कहानी याद आयी—"आजन्म सर्व-संग-परित्याग का व्रत कड़ाई के साथ निभा रही एक संन्यासिनी एक दिन शाम के वक्त एक खूबसूरत वाटिका के पास से गुजर रही थी। इसी बीच इसका ध्यान वाटिका के लता-कुंजों की ओर गया। यह ठिठक गयी। वहाँ एक वृक्ष के नीचे एक गणिका पाँच हट्टे-कट्टे नौजवानों के साथ प्रणय कर रही थी। यह दृश्य देखकर हठात् उसके मन में विचार आया—"कितनी भाग्यवान है यह गणिका।" और अंततः जो सोचा वही पाया। आजन्म व्रती रहकर उसने धर्माचरण तो किया लेकिन क्षणिक इच्छापूर्ति की कामना ने उस पुण्य को बराबर कर दिया। वह संन्यासिनी अगली यौनी में द्रौपदी बनी और पाँच पांडवों की भार्या कहलायी।" अत्यन्त ठंडे दिल से वह उन युवाओं को इन्द्रिय-दमन की घुट्टी पिलाती रही।

उसे एक आसन पर बिठाकर पाद-प्रक्षालन किया जाने लगा। इस मंगल कार्य का शुभारंभ सेठ सुवालाल के हाथों होना स्वाभाविक था। चाँदी के नक्काशीदार गिलासों में उन्होंने केसर-सुगन्धित जल लिया और नीता देवी के पाँव धोने लगे। हीरे की अँगूठियाँ पहनी वही उँगलियाँ…चाँदी के पाँच छोटे पात्र…उनमें विष…! उसके विलाप की तनिक भी चिन्ता किए बिन सुवालाल जी कह रहे थे, "जैसा हम कह रहे हैं, वैसा ही बयान यदि कल तुमने कोर्ट में नहीं दिया तो यह विष पीकर तुम्हारे घर के पाँचों व्यक्ति आत्मघात कर लेंगे।" मायूस, बुझे-बुझे से उसके माता-पिता के चेहरे मानो कह रहे थे, "कल ही क्यों, हम तो आज भी विष-पान करने के लिए तैयार हैं!" जिस संतुलित अंदाज में वह इन्द्रिय निग्रह पर बोल रही थी उसी संतुलित अंदाज में उसने बयान दिया—"मेरी रजामंदी के खिलाफ मुझे विवाह के लिए मजबूर किया गया…"

उसे विदा कर ग्रामवासी लौट गये थे। अब वह अकेली ही लम्बे-लम्बे डग भरती हुई आगे बढ़ रही थी। इसी बीच दोपहर हो चुकी थी। पिछले पाँच वर्षों की यायावरी में कम-से-कम आठ-दस हमउम्र संन्यासिनियों से उसका साक्षात्कार हुआ था, और उसने महसूस किया था कि यह बोझ केवल उसी के सिर पर नहीं है। न मरने की हिम्मत है, न लड़ने की ताकत। ऐसी स्थिति में अपना समाज तो विष का प्याला ही पेश करता है या संन्यासी बना देता है। पलक झपकते ही अपमानित परिवार के माथे पर सम्मानित परिवार का लेबल लग जाता है और

विकारी मन अविकारी एवं विरक्त ! यह मार्ग धर्म का है या जाति का ? यह उस दयाधन की कृपा है या दयाहीनों की नीचता ? उसे नासिक की वह घटना याद आयी। तीन वर्ष पहले नासिक में कुम्भ मेला लगा था। उसमें कई संन्यासी-संन्यासिनी आये थे। किसी धर्मशाला में उनके रहने की व्यवस्था की गयी थी। आधी रात के वक्त अचानक चीख-पुकार सुनाई पड़ी और आनन-फानन में वह रुक भी गयी। कुछ ही क्षणों में पूर्ववत् स्थिति हो गयी। दूसरे दिन श्रेष्ठ मुनि प्रवर संन्यासी सुरेन्द्रनाथ की शवयात्रा निकली। उसमें हजारों लोग शामिल हुए थे। कुम्भ मेले की पावन बेला में, नासिक जैसी पवित्र नगरी में मृत्यु हो जाने के कारण अन्त्य-यात्रा में अपार जनसमूह शामिल हुआ था। लेकिन धर्मशाला की बातूनी दीवारें कह रही थीं कि सुरेन्द्र मुनि की गाड़ी पटरी से नीचे उतरते ही उस धर्मद्रोही और पापाचारी को यह सजा दी गयी थी। उनके शिश्न में गर्म सलाख घुसेड़ दी गयी थी। मुँह में ठूँसा गया कपड़ा अचानक बाहर निकल आते ही थोड़ी-सी चीख-पुकार सुनाई पड़ी बस। इसके अलावा कहीं कुछ भी तो नहीं हुआ था।

सरे राह अकेले चलते हुए उसे बार-बार लग रहा था कि उसके तरल, स्वप्निल, भावुक और संवेदनशील व्यक्तित्व में ही कोई गर्म सलाख ठोंक रहा है। वह पीड़ा से चीख रही है लेकिन उसकी करुण चीख किसी के कानों तक पहुँचती ही नहीं। "साध्वी, नीतादेवी की जय !" वह होश में आयी। उसने सामने देखा। अगले पड़ाव के लोग उसकी अगवानी के लिए आये थे। उसने शान्त, प्रसन्न भाव से उनकी ओर देखा और आशीर्वाद देने के लिए हाथ ऊपर उठाये।

अनुवाद : **प्रकाश भ्रातम्ब्रेकर**

संगम

□ सु० राममूर्ति

यकीन ही नहीं हो रहा है उन्हें, कि अभी अभी लक्ष्मी ने जो कहा है, वह हकीकत का ही एक टुकड़ा है? "लड़की तलाशने की भला क्या जरूरत? बगल में छुरा, गाँव में ढिंढोरा। वाह, गीता है न सयानी हो गई है। तुम फटाफट तारीख पक्की कर डालो, भैया। बाकी मेरे जिम्मे···।" लक्ष्मी कहकर भीतर चली गयी थी। वे भीगी आँखों से उस ओर देखते ही रह गए। कहाँ गया उसका भय? उसकी तमाम आशंकाएँ। लोगों का डर? उन्हें लगा, इतने दिनों तक जो भी झेला था, पल भर में, सारी खरोंचें मिट गयी हैं। सिर्फ धुंधलापन शेष रह गया है। अभी पौंछ लेंगे, तो झक्क, सब कुछ उजला नजर आयेगा।

वे वापस खाट पर बैठ गए। अब लेटने की इच्छा नहीं रही। जो कुछ घट गया था, आनंद के यहाँ आने और लौटने के बाद···कितना अकल्पनीय था। ऊपर तक भर गये हैं वे, सोच के पाँव धीरे-धीरे पलटने लगे और उन्हें याद आ गया है। इस छूटी यात्रा की शुरूआत।

वे पैंतीस वर्षीय सरकारी नौकरी के बाद अपनी जमीन की तलाश में लौटे थे। यूँ नौकरी सरकारी थी, इसलिए हर वर्ष या हर दूसरे वर्ष वे यात्रा सुविधाओं का उपयोग करते थे और गाँव में महीना, दो महीना गुजार कर ही लौटते। पर उन दिनों गाँव में रहते हुए भी अपने प्रवासी होने का एहसास बरकरार रहता और लौटने में, कुछ छूट जाने की तकलीफ होती थी। मिट्टी का आकर्षण इतना प्रबल होता है, यह तो उन्हें बाद में पता लगा, जब सेवा मुक्त हुए। गाँव लौटने का निर्णय यकायक लिया। हालांकि शहर में ही रहकर, अपने को दूसरी नौकरी में व्यस्त कर सकते थे, या फिर किसी संसा से जुड़ सकते थे। समाज सेवा का पुराना सपना भी जुड़ा हुआ था उनमें। वक्त उनके लिए था—भरपूर। पर गाँव···।

कावेरी नदी के तट पर बसा, हरे-भरे दरख्तों वाला यह गाँव! गाँव क्या, बमुश्किल बीसेक मकान होंगे। अग्रहारम के तीन या चार मकान, कुछ दूरी पर खेतिहर मजदूरों की बस्ती। कुछ छोटे-मोटे किसान। खपरैल के कच्चे मकान और ओमरि। चारों ओर खेतों से घिरा यह गाँव कावेरी के सोना उगलने वाली धरती का ही एक हिस्सा था। बाप-दादों की थोड़ी सी जमीन थी। लगभग दस बीघे। वह भी बटाई पर उठायी थी। जिसमें उनकी याददाश्त हरी हुई है। दुनिया जहान की फसल खराब हो जाए, पर उनके खेतों की फसल खराब हुई हो, ऐसा जान नहीं पड़ता। भारी की मेहनत और ईमानदारी ही थी कि वसुंधरा ने उन्हें

कभी नहीं छला। गाँव में विधवा बहन के लिए उसकी जरूरत भर का अनाज मिल जाता, शेष को मुत्तू बिकवाकर उन्हें रुपये भिजवा देता।

गाँव लौटे भी तो इसी मुत्तू के भरोसे थे। उसके साथ खेती-बाड़ी का काम देखना और शेष दिन गुजार देना।

उन्हें भी याद है, उस रोज पिछवाड़े में मुत्तू ने उन्हें मालज दी थी। वे उससे बुआई को लेकर कुछ सुझाव माँग रहे थे। मुत्तू चाहता था, बारिश से पहले बुआई का काम शुरू कर दिया जाए। दिहाड़ी मजदूरों के लिए व्यवस्था करने का आदेश देकर वे पलट ही रहे थे कि मुत्तू के पीछे खड़े आठ वर्षीय बालक पर उनकी आँखें ठहर गयीं। उस लड़के की चमकदार आँखों में जाने क्या दिखा था, कि हठात् पूछ लिया, "तुम्हारा बेटा है न? पढ़ता है?"

"हाँ सरकार! बेटवा हमार ही है। कुछ दिन इस्कूल गया रहा। फिर इसकी अम्मा नहीं रही। तब दिन में हमार संग खेतन मा काम करत है। वैसे सरकार, पढ़ाई खातिर खूब जिवियात है, पर हम का करी…। एहका हम देखि, का खेल्ब का काम करि।…"

"देखो मुत्तू! पढ़ने में उसका दिल लगे तो उसे रोकना मत। तुम अँगूठा छाप रह गए सो रह गए। इसे तो कुछ बनाकर दिखा दो।" वे बोल रहे थे। मुत्तू सिर हिलाता रहा।

"हम भी चाहत हैं सरकार…।" उसने जिस ढँग से वाक्य को खींचा था, वे झट बोल पड़े थे।

"इसे हमारे पास छोड़ दिया करो। सुबह आयेगा। शाम को चला जाया करेगा।" सेवा निवृत्ति के बाद वक्त काटे नहीं कट रहा था तिस पर बरसों पहले अध्यापकी से अपना पाला था, वही कहीं से फिर निकालने लगा।

"तुम्हार नाम क्या है?" लड़के से पूछा!

"अंबलम'…।" लड़के ने पलकें झपका कर उत्तर दिया।

साफ और स्पष्ट उच्चारण!

"पर मैं तुम्हें आनन्द कहूँगा।" उन्होंने एक नया नामकरण किया था जो कि उसे नया जीवन देने का प्रश्न जैसा था। नये नामकरण से शुरूआत की गयी।

आनंद रोज आने लगा था। घर के छोटे-मोटे कामकाज कर देता। नाश्ता, खाना उनके साथ ही होता। दोपहर को आराम करते तो वह उनके लिए प्रश्न हल करता। उसकी लगन, उसकी मेहनत और सीखने की तत्परता ने उन्हें अचंभित कर दिया था। कई बार अंधेरा हो जाता, समय का पता तक नहीं चलता। ऐसे में वह उनके साथ ही रह लेता।

उनकी जिंदगी फिर व्यस्त होने लगी थी। सारा ध्यान आनन्द को पढ़ाने में, उसे बनाने संवारने में…।

गाँव के बुजुर्गों को इसमें घोर आपत्ति रही। शुरू-शुरू में तो बातें आपसी कानाफूसी तक ही सीमित थीं…पर देखते ही देखते कुछ लोग टोकने लगे। हरिजन लड़के का ब्राह्मणों की बस्ती में रहना, उनके संग उठना, बैठना, खाना- उन्हें नागवार गुजरने लगा था। उन्हें गाँव वालों से कुछ लेना नहीं था। इसलिए परवाह भी नहीं की। पर लक्ष्मी ने तो की। वे भले ही परदेश में रहे हों, पर लक्ष्मी उसी मिट्टी, उन्हीं संस्कारों में ढली थी। उसने साफ कह दिया था, "भैया जी, यह तुम ठीक नहीं कर रहे। लोग जाने कितनी बातें बना रहे हैं। कुछ पता है? तुम्हें न सही, हमें तो गाँव वालों से बनाकर रखना है। गीता सयानी हो रही है। कल

उसके ब्याह की बात चलानी होगी। तब क्या होगा ?"

उन्हें लगा, अपनी जिस हरकत को वे प्रशंसनीय और सही मानते चल रहे थे, वह उनके घर वालों के लिए गलत है। लक्ष्मी को वे दोष नहीं देते। क्योंकि उस वक्त उसके भीतर की माँ बोल रही थी।

कुछ देर की चुप्पी के बाद वे बोले, "तुम ठीक कहती हो। पर गाँव वालों की बात भी तो सही नहीं। जब ये वर्गीकरण हुए होंगे तब कोई-न-कोई आधार रहा होगा पर अब वे आधार कहाँ रहे। फिर भी मैं नहीं चाहता कि तुम्हें मेरी हरकतों का परिणाम भुगतना पड़े। मेरा विश्वास मेरा अपना है। तुम पर थोपना नहीं चाहता।"

और किया भी तो यही उन्होंने ! पास पड़ी खाली जमीन पर का कचरा उठवा कर आनन्द के साथ अलग से रहने लगे थे। लक्ष्मी कुछ दिनों तक खाना भिजवाती रही। फिर उन्होंने यह दायित्व भी खुद ही ओढ़ लिया था। मुत्तु के गुजर जाने के बाद तो आनन्द उनके साथ ही रहने लगा था। गाँव का विद्रोह खुद-ब-खुद शान्त हो गया। पर वे बहिष्कृत थे। लोगों ने उनके साथ उठना-बैठना खत्म कर दिया था। पर वे खुद ही कहाँ बैठते थे उनके साथ ? सारा वक्त तो आनन्द के साथ निकल जाता था। पूरे गाँव से कटने के बाद उनका मात्र आधार आनन्द ही था। उनका लक्ष्य उसको उसकी मंजिल तक पहुचाना था।

आनन्द ने भी कोई कसर नहीं रखी। हमेशा प्रथम आता रहा। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि उसकी निष्ठा और नम्र स्वभाव—वे सचमुच पुलकित हो उठे थे। जाने कहाँ-कहाँ की बातें स्वतः सोचने लगा था। उन्हें तो आश्चर्य होता। उन्हें याद है, एक बार कॉलेज में अनुसूचित जाति वालों को मिलने वाले वजीफे को उसने ठुकरा दिया था। उन्होंने नहीं लिया। उनसे बोला था, "बाबूजी, मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि जन्म के आधार पर मुझे सुविधा या असुविधा दी ज़ाए। कितने ऐसे हैं, जिनके ऊपर आपका सा संरक्षण भी नहीं है। उन्हें जरूरत है। मेरे विचार में प्रतिभा या आर्थिक स्थिति को ही मापदंड मानना होगा। जन्म को नहीं। फिर यह तो उनको लगातार एहसास दिलाने जैसी बात हुई न कि मैं एक खास वर्ग का हूँ…।"

वे उसकी विवेकशीलता पर मुग्ध हो गए थे। अगले वर्ष ही, कॉलेज में प्रथम आने पर उसे राष्ट्रीय छात्रवृत्ति प्रदान की गयी। जिसे उसने सहर्ष स्वीकार किया। आनन्द की यह खुददारी उन्हें संतोष दे गयी।

आई० ए० एस० में बैठने की उसकी इच्छा को वे लगातार राह देते रहे। उन्हीं दिनों जब आनंद आई० ए० एस० की तैयारी में जी जान से जुटा था, लक्ष्मी का व्यवहार उसके प्रति नरम होने लगा था। हालांकि अब भी वह उसे घर के एक सदस्य के रूप में अंगीकार नहीं कर पायी। पर, वह पहले की-सी नफरत नहीं रही। पर यह स्नेह भी ठीक वैसा ही था, जो गाँव के किसी भी लड़के के लिए होता।

आनन्द आई०ए० एस० में चुना गया। यह उनके लिए जीवन का सबसे अहम समाचार था। वे फूले नहीं समाये थे और आनन्द को गले से लगा लिया था। आँखें नम हो आयी थीं और लगातार वह आठ वर्षीय भोला बालक याद आता रहा, जो मुत्तू के पीछे सहमा उन्हें देख रहा था। न जातिगत सुविधाएँ काम आयीं न वजीफे। उन्हें लगा, सिर्फ स्नेह और संरक्षण से बड़ी कोई ताकत नहीं होती। शह भर मिल जाए जाने कितने 'अंबलम' 'आनन्द' में तब्दील हो सकते हैं।

उन्हें कतई आश्चर्य नहीं हुआ जब गाँव के बुजुर्ग बधाई देने उनके घर पहुँचे। आनन्द सिर्फ विनम्रता के साथ उनके पैरों पर झुक गया था और तो और लक्ष्मी ने उस साँझ नजर उतारी थी। आनंद जैसे वर्गहीन हो गया था। रह गयी थी उसकी प्रतिभा, उसकी निष्ठा। सच, ज्ञान और प्रतिभा को वर्ग जाति के खानों में बाँटा नहीं जा सकता। 'विद्वान सर्वत्र पूज्यते ।' उन्हें कहीं पढ़ी पंक्तियाँ याद आयीं।

ट्रेनिंग और फिर पोस्टिंग के बाद भी आनन्द आता जाता रहा। उन्हें गाँव छोड़कर अपने साथ ही रहने का आग्रह करता। पर वे ही टाल रहे थे। पहले काम तो देख ले, फिर चले आएँगे। काम के बीच उनका भी बोझ, बोझ ही तो हो गए थे वे। कहाँ ताकत बच रही थी, अब? लाख नौकर-चाकर हों, पर आनन्द उनके लिए खुद समय निकालेगा और वे उसे काम के प्रति ढीला नहीं देखना चाहते थे।

आज भी तो अचानक ही चला आया था। दोपहर को वे झपकी ले रहे थे कि दरवाजा खटका था। गीता ने ही दरवाजा खोला था और भीतर भाग गयी थी। आनंद ने भीतर आकर उनके पैर छू लिए।

"इतनी धूप में?" वे चौंक पड़े थे।

"पास के गाँव तक आया था सोचा मिलता चलूं।" वह उनके पास ज़मीन पर बैठ गया था, बेतकल्लुफी के साथ। लक्ष्मी भीतर से आयी थी, और खाने का आग्रह भी किया था।

खा-पी कर वह निकल पड़ा था।

"इतनी धूप में जाओगे।"

"जीप है चला जाऊँगा।" वह जाते हुए कुछ हिचकिचाहट के बाद लक्ष्मी के पैरों पर झुक गया था। लक्ष्मी की आँखें नम थीं और होंठ बुदबुदाए थे।

वे आनन्द को जाते देखते रहे।

"कब तक यूँ ही रहेगा? झटपट इसकी शादी कर डालो भैया जी।" लक्ष्मी ने पहली बार आनंद को लेकर कुछ सलाह दी थी।

"हाँऽऽऽ! लड़की ढूँढ़नी होगी। सोचता हूँ यह काम भी निपटा दूँ—।" जैसा चाहता था, वैसा ही निकला। ज्ञान की भूख मन में होती है। बस उसे जगाकर, उसकी भूख मिटाने वाले मिल जाएँ···तो··।"

उनकी आँखों में भविष्य खिंच गया। "यही है 'आनन्द' 'अंबलम' के रूप में भी शायद पढ़ लेता। हाईस्कूल तक फिर आर्थिक एवं सामाजिक बाधाओं के चलते चपरासीगिरी ही करने लगता! फिर···एक ढर्रा चल निकलता। उसका, उसके बच्चों का···! पर 'अंबलम' को 'आनंद' बनाने के लिए प्यार और संरक्षण की जरूरत है। बस वह मिल जाए···।"

"भैया जी···! क्या सोच रहे हो? लड़की ढूँढ़ने निकल रहे हो क्या? अरे उसकी क्या जरूरत? बगल में छुरा और गाँव में ढिंढोरा! गीता तो है न। सयानी हो गयी है तुम फटाफट तारीख पक्की करो! बाकी मेरे जिम्मे···।" वह भीतर चली गयी थी। वे अकेले रह गए थे। कितनी-कितनी बातें, कितने चित्र गड्डमड्ड हो रहे थे। मुत्तू के पीछे सहमा अंबलम, फिर गाँव वालों के ताने, लक्ष्मी की नफरत, आनन्द की लगन मेहनत, उसका आई०ए०एस० में आना···।

उन्हें लगा, बरसों पहले जिस मिट्टी के आकर्षण में बँधकर यहाँ आए थे उसका ऋण तो अब पूरा हुआ है। मुत्तू ने उनके खेतों में अपना सर्वस्व लगा दिया था···और उनकी धरती ने उन्हें कभी नहीं छला। आज भी उन्हें पुख्ता विश्वास है कि स्नेह और विश्वास कभी नहीं छला जा सकता। वह तो इतना पावन बन जाता है, कि जो भी आए बस स्नेह धारा में डूब जाए। वे खाट पर लेट गए थे। नींद अब नहीं आ रही थी। उन्हें ढेरों काम करने हैं···सोने की फुर्सत कहाँ है।

अनुवाद : सुमति अय्यर

पुस्तकें

माटी का खिलौना : एक रोमानी तथा रूहानी रचना !

□ दर्शन सेठी

'माटी का खिलौना' एक सशक्त सामाजिक तथा रोमानी कृति है। इस उपन्यास में लेखक ने इस तथ्य का निरूपण किया है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा इस मानव-सृष्टि का संचालक तथा सूत्रधार है। प्रत्येक प्राणी उसके हाथों का एक खिलौना मात्र है। मगर इस मुट्ठी भर राख में जब प्रेम और संवेदना का उदय हो जाता है तब यह माटी का खिलौना एक दिव्य मानव बन जाता है। क्योंकि भगवान ने मनुष्य को इसीलिए इस धरती पर जन्म दिया है, कि वह दूसरों के दुख-दर्द का अहसास करे। संवेदना और सद्भावना में ही तो मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। उपन्यास का नायक डॉ० शीतल इसी प्रेम और संवेदना का सूक्ष्म प्रतिरूप है। उसकी प्रियतमा छाया का प्रेम जब चिर-वियोग में परिणत हो जाता है, तब उसका जीवन व्यथा की मरुभूमि बन जाता है और उसका सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एक मृग-तृष्णा। जिसमें एक मात्र आहें हैं, आँसू हैं और अतृप्ति है। वह दर्द और दुविधा का मूर्तिमंत रूप है। मगर वे सब अपने सीने में दबाए वह अपनी सद्भावना की शीतलता चारों ओर बिखरता है और अपने नाम शीतल को सार्थक करता है। वह समाज के लिए सुख और शांति का स्रोत है। उसकी व्यक्तिगत वेदना समष्टि-सेवा, सहयोग तथा संवेदना का उदात्त रूप धारण कर लेती है। किन्तु वह स्वयं अशांत और अतृप्त है। अपनी छाया की छवि पाने के लिए वह सतत व्याकुल रहता है। उसका प्रेम एकनिष्ठ तथा अनन्य है, उसके जीवन में अनेक सुन्दरियाँ आती हैं। मगर वह अपनी छाया के लिए ही आजीवन समर्पित है। व्यक्तिगत वेदना की समष्टिगत संवेदना में परिणति इस कृति का एक स्तुत्य एवं सर्वात्यवादी आयाम है।

शादी से एक रात पूर्व पूर्णिमा की रात को डॉ० शीतल की प्रियेसी 'छाया' नदी की लहरों में सदा-सदा के लिए समा जाती है? यह इस कथा का केन्द्र बिन्दु है और एक ऐसी जिज्ञासा है जो इस रचना में कौतूहल को अंत तक जीवंत बनाए रखती है। किन्तु किसी भी स्थिति में सत्यनिष्ठ स्नेही डॉ० शीतल यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होता कि उसकी प्रियेसी

'छाया' का प्राणांत हो चुका है। पूर्णिमा की प्रत्येक रात में वह उसे पुकारती है। मगर जब वह नदी तट पर पहुँचता है; वह आवाज और आलम्बन दोनों न जाने कहाँ खो जाते हैं? इस क्षणिक लौ के बाद शीतल के जीवन का अंधेरा और भी गहरा जाता है। शीतल का संस्कारशील तथा आत्मीय सेवक 'शामू काका' उसे बार-बार सांत्वना देते हुए यह समझाता है कि ये आवाजें 'छाया' की अशांत आत्मा की है। अतः आपको 'छाया' की भटकती हुई आत्मा की शांति तथा सद्गति के लिए धार्मिक अनुष्ठान करना चाहिए। किन्तु शीतल की आशा और आस्था अविचलित है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि छाया अभी जीवित है और उसे वह एक दिन अवश्य मिलेगी। 'छाया' से संयोग-साधना के इस सन्दर्भ में शीतल सर्वप्रथम सिताराबाई के कोठे की नर्तकी 'नशीली' से मिलता है। तदुपरांत वीरा गाँव के मन्दिर की पुजारिन 'अरुणा' से उसकी भेंट होती है, जो एक बच्ची 'पुरस्कार' की माँ है! मगर शीतल यह निश्चय नहीं कर पाता कि 'छाया', 'नशीली' और 'अरुणा' एक ही तस्वीर के तीन रूप हैं अथवा अलग-अलग व्यक्तित्व? शीतल का असमंजस यथावत बना रहता है।

वस्तुतः इस उपन्यास, में छाया की तीन, छवियाँ अंकित हुई हैं—'छाया', 'नशीली' और 'अरुणा'। इस प्रकार इस कृति की नायिका का व्यक्तित्व 'थ्री इन वन' का समवेत रूप है। श्री सलूजा ने इन तीनों रूपों में एक तर्क संगत तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया है। और उपन्यास की कथा को एक वांछित विकास की दिशा प्रदान करते हुए उसे सार्थक तथा सहज अंत तक ले जाने में वे सफल हुए हैं। कथा-नियोजन तथा विकास की यह सुसम्बद्धता लेखक की शिल्प-विधि की एक उपलब्धि है। किन्तु इसका एक मात्र आधार सर्वत्र विप्रयोग तथा दैवयोग ही है। ये प्रयास कथा की रोचकता तथा जिज्ञासा-वृद्धि में निस्संदेह सहायक सिद्ध हुए हैं किन्तु इनकी सीमायें भी अत्यधिक स्पष्ट हैं। पूर्णिमा की रातों में छाया की पुकार की बार-बार विवृति, कथा-सौंदर्य में चाँद की मृगांक संज्ञा को ही सार्थक करती है। कथा-प्रवाह में यह पुनरावृत्ति एक अवांछित ऊब भी पैदा करती है।

वस्तुतः विप्रयोग तथा दैवयोग इस उपन्यास का प्राल-तत्व है और लेखक की दृष्टि में भाग्य तथा भगवान ही जीवन के एकमात्र नियामक हैं। यह पूर्वाग्रह इस उपन्यास में आद्योपांत व्याप्त है और लेखक इस जीवन तथा तत्व-दर्शन के प्रति पूर्णरूपेण प्रतिबद्ध है। उपन्यास की कथा घटना-चक्र, पात्र तथा उनका क्रिया-कलाप सभी कुछ इस दृष्टि से आच्छादित हैं। इस धरातल पर कथा-सूत्रों को जोड़ने वाली कड़ियाँ सहज न हो, सायास प्रतीत होती हैं। रहस्यात्मकता को जबरन बनाये रखने के इस अंदाज के रहते हुए भी सामान्य पाठक इस उपन्यास के ताने-बाने में ऐसा उलझ जाता है कि जानकर भी अनजान बना हुआ, इसे आदि से अंत तक पढ़ जाता है। यह इस कथा-शिल्प का जोरदार जादू है। और जादू वही होता है जो सिर चढ़कर बोले। इस कृत्ति में नायक और नायिका का एकनिष्ठ प्रेम संबंध लैला और मजनू जैसा है। इस संदर्भ में यह अन्तःसाक्ष्य द्रष्टव्य है—"कौन है चाची?" अरे वह मजनू! हमारी लैला मतलब 'नशीली' को वापस ले आया है। (पृष्ठ १७४)। नायक का जनून इस वृत्ति में नशे की इसी हद तक पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। भाग्य हर बार इसके साथ खिलवाड़ करता है। मगर वह कहीं भी निराश अथवा हताश नहीं होता। इस साहसपूर्ण संघर्ष का अक्षय-स्रोत नायक की एक निष्ठा एवं अनन्य आस्था है। यह परम्परागत किन्तु प्रशस्त जीवन-दृष्टि अनुकरणीय है। इस मानवतावादी और आशावादी संदेश के साथ ही उपन्यास की कथा का सुखद अंत होता है,

जो वर्तमान समाज में प्रेम, संवेदना तथा सद्भावना का संदेशवाहक भी है और अनन्य, एक-निष्ठ रोमानियत का प्रतिपादक भी। इस उपन्यास का परिवेश भी रोमानी एवं रुहानी है। अनेक अप्राकृत, अतिप्राकृत तथा आश्चर्य-तत्व और कृत्रिम उपादान परिवेश की सजीवता तथा सहजता में सहायक प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार इस उपन्यास के सभी उपकरण एकनिष्ठ तथा आग्रहपूर्ण आत्मवाद से सर्वत्र आक्रांत हैं। पात्रों के स्वभाव तथा सरोकार भी सहज न हो, पूर्व नियोजित तथा पूर्व-नियत है। यह आत्मवादी जीवन-दर्शन एकांगी है, अर्ध सत्य है। मनुष्य की स्वतंत्र-सत्ता, तक़दीर तथा तदबीर का तक़ाज़ा—ये सनातन बहस के महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। किन्तु श्री सलूजा इस दुविधा से ग्रस्त नहीं हैं। उनकी आस्था अनन्य एवं एकनिष्ठ है। उपन्यास की भाषा एवं शिल्प भी इस दृष्टि के अपवाद नहीं हैं। उपन्यास की भाषा सहज, सपाट एवं सार्थक है। पात्रों के स्वभाव तथा योग्यता के अनुकूल भाषा-प्रयोग सराहनीय-शिल्प का सूचक है: स्थानीय स्पर्श से भी भाषा की सजीवता में स्तुत्य संवृद्धि हुई है। उदाहरणार्थ ये संवाद उल्लेखनीय हैं···"एक ड्राइवर बोल उठा···'अरे यह तो अपनी नशीली है। सितारा बाई के कोठे की फुलझड़ी।' धन्य भाग हमारे जो दीदार हुए तुम्हारे। मैं ने कहा आदाब-अर्ज़, मेरी जान।" (पृ० १७२) 'छड़ो बाऊ जी। उन्हाँ दी तरफ़ों मैं माफ़ी मंगदा हूँ।' (पृ० १७३)। मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों तथा अलंकारों के प्रयोग भी संप्रेषणीयता के साधक हैं। नाटकीय-परिवर्तन, पूर्व-दीप्ति, अन्तंद्वन्द्व, आत्मविश्लेषण तथा स्वागत-कथन के विधानों का सदुपयोग भी इस रचना में हुआ है।

वस्तुतः 'माटी का खिलौना' एक निष्ठ प्रेमी की सहज सम्वेदनाओं का लेखा-जोखा है। इसका कथ्य और शिल्प दोनों दैवयोग तथा विप्रयोग की आँख मिचौनी हैं। इस सुखांत कथा का यह सौंदर्य भी है और सीमा भी।

'माटी का खिलौना' : (उपन्यास) लेखक : **सुरेन्द्र सलूजा**, (संयुक्त राष्ट्र संघ, अमेरिका)
प्रकाशक : **'सुहास दीप प्रकाशन'** दिल्ली-110034
मूल्य : **चालीस रुपये**,

देवताओं की मृत्यु

□ उदय प्रकाश

'थोकदार किसी की नहीं सुनता' प्रख्यात कथाकार और समालोचक **बटरोही** का दूसरा उपन्यास है। पर्वतीय अंचल के स्थिर-शाश्वत जैसे समाज में स्वतंत्रता के बाद औद्योगीकरण या शहरीकरण की जो प्रक्रिया तीव्र हुई, उसके कारण आये उथल-पुथल और रूपांतरण को बटरोही ने अपने उपन्यास का विषय बनाया है। अल्मोड़ा जिले में सुदूर पहाड़ियों और घने जंगलों से घिरा गाँव तलचट्टी कई-कई बार 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सॉलिट्यूड' के गाँव मकांदो की याद दिलाता है। तल चट्टी भी बाहरी, तथाकथित सभ्यता और आधुनिकता की दुनिया से अलग-थलग कटा हुआ अपने आप में एक स्वायत्त संसार है। दूसरा अपना स्वायत्त समय है, एक पृथक इतिहास है और एक ऐसा पूर्व-आधुनिक सामुदायिक जीवन है जहाँ रुपये यानी मुद्रा का प्रवेश नहीं हुआ है। इस दुनिया में मिथकीय पात्रों, देवों और मान्यताओं का यथार्थ है। इस सामुदायिक जीवन के ऐसे अदृश्य नियम हैं, जो परस्पर विश्वास और किसी अदृश्य आस्था के कारण तलचट्टी के पूरे समाज को एक सूत्र में बाँधे रखते हैं: लेकिन आजादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत के साथ ही तलचट्टी पर भी परिवर्तन के थपेड़े पड़ने लगते हैं। वह अब अभेद्य नहीं रह जाता। तलचट्टी भी बदलता है—और इस परिवर्तन की अनिवार्यता और तलचट्टी के रूपांतरण को बटरोही ने लोकाख्यान की शैली में प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का चरित्र नायक थोकदार और उसका गाँव तलचट्टी—दोनों ही इस सामाजिक परिवर्तन के 'लिटमस पेपर' हैं। उपन्यास के अंत तक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे तलचट्टी के 'ध्यूल देव' जंगलों के 'कठपतिया' देवता या घिंगरैल कोट की 'लायन लेडी' परुलि सबके सब नष्ट हो जाते हैं। पर्वतीय अंचल का एक मिथकीय यथार्थ देखते-देखते हमारी जानी पहचानी क्रूर दुनिया के हाथों मिटा दिया जाता है।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि भारतीय गाँवों के बदलाव को अपना आधार बनाने वाले आज तक जितने भी महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे गये हैं, उन्होंने ज्यादातर चौथे-पाँचवे दशक के काल खंड को ही अपना आधार बनाया है। १९५२ के प्रथम संसदीय चुनावों के बाद प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत हुई। बटरोही के उपन्यास में तलचट्टी गाँव इस पहली पंचवर्षीय योजना के कारण ही परिवर्तन का पहला स्वाद चखता है। फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास 'परती परिकथा' का समय भी इसी प्रथम पंचवर्षीय योजना का समय है जब टेनेसी वैली योजना के तहत गंडक परियोजना का काम शुरू होता है, सड़कें बनती हैं, गाँव में जीपें दौड़ने लगती हैं, सरकारी हाकिम-मुलाजिमों की भ्रष्ट और मक्कार नस्ल गाँवों के शरीर में

प्रवेश करती है, मलेरिया सेंटर खुलता है और देखते-देखते बिहार के पूर्णिया जिले का एक गाँव इतिहास के एक काल खंड से निकलकर दूसरे में चला जाता है। 'थोकदार किसी की नहीं सुनता' का गाँव तलचट्टी भी एक दीर्घ और शाश्वत नींद से अचानक जगा दिया जाता है और यह गाँव भी इतिहास से निकाल कर आज के समय में झोंक दिया जाता है।

और आज का समय, यानी १६५२ के प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ प्रारंभ हुआ आधुनिकीकरण या पर्वतीय अंचल पूर्व आधुनिक ग्रामीण समाज का पूंजीवादीकरण—एक ऐसी दुर्घटना जो छत्तीस साल पहले कितनी भी आकर्षक और उपयोगी लगती रही हो, अब यह एक ऐतिहासिक सच है कि तब से लेकर अब तक इस अंचल के ग्रामीण समाज ने न सिर्फ़ अपनी पहचान और आत्मा खो दी है बल्कि अपने वनों, प्रकृति और संसाधनों से भी वह वंचित कर दिया गया है। आजादी के बाद सरकार के भ्रष्ट प्रशासनतंत्र द्वारा बनायी गयी तथाकथित विकास योजनाओं के भंवर चक्र में फँसा तलचट्टी दरअसल भारत के किसी भी दूसरे ग्रामीण समाज को भी प्रतीकित करता है।

'इजा ने कभी बताया था कि काले पाथर के नीचे पनार में भंवर है। पानी के नीचे मीलों लंबी एक सुरंग है। कोई चीज वहाँ पर अगर गिर जाये तो भंवर में फँसी रह जाती है। वर्षों तक, जब तक वह सड़ न जाये, मील भर की सुरंग में चक्कर काटती रहती है। गाँव के कुछ लोग बताते थे कि इसके अंदर नाग लोक है। जो भी आदमी या जानवर वहाँ फंस जाता है, नागों का राजा उसे खा जाता है।''

कहने की जरूरत नहीं कि पाँच साला सरकारी योजनाओं और सामुदायिक विकास योजनाओं का जो नतीजा हमारे सामने है, उसके चलते तलचट्टी सरीखे असंख्य गाँव इसी 'पनार' में गिरे हैं और नागों का राजा उनको निगल गया है। इस मायने में रेणु के परानपुर से भी ज्यादा त्रसद स्थिति बटरोही के तलचट्टी गाँव की है। चौथी शताब्दी में कत्यूरियों के राज्य से निकल कर समय के प्रवाह को अपने भीतर सोखता हुआ जब यह गाँव एम० डी० एम०, जे० ई० और तथाकथित भारत की स्वतन्त्र देसी सरकार के सम्पर्क में आता है, तब नष्ट हो जाता है। थोकदार को गाँव में बिजली लाने के लिए रिश्वत देनी पड़ती है। बड़ी आसानी से बटरोही इस चरित्र को राग दरबारी के लंगड़दीन की तरह आदर्शवादी और 'कॉमिक-ट्रैजिक' चरित्र में बदल सकते थे—लेकिन थोकदार व्यावहारिक है और रेणु के जमीदार की तरह ही अपने गाँव में परिवर्तन का अग्रदूत भी वही बनता है। जो कठमुल्ले आलोचक 'सामंतवाद-पूँजीवाद' को जड़ और रूढ़ अर्थों में लेने की लफ्फाजी के शिकार आलोचक हैं, उन्हें थोकदार का वह रूप स्वीकार नहीं होगा। इस उपन्यास में नैनीताल के एक पेटी बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी के रूप में इसे व्यक्त भी किया गया है। लेकिन थोकदार कल्याण सिंह तलचट्टी का उस पुरानी अस्मिता और गरिमा का अंतिम अवशेष है जिसे परिवर्तन के साथ कदम भी मिलाना है और अपने को विनाश से बचाना भी है। अंत में, थोकदार सरकारी प्रशासनतन्त्र के एक प्रतिनिधि एस० डी० एम० सिन्हा की हत्या करता है और अपनी अंतिम पराजय स्वीकार कर लेता है।

अगर 'थोकदार किसी की नहीं सुनता' की औपन्यासिक संरचना को देखें तो एक सपाट-सीधी-एकरेखीय संरचना है। उपन्यास के परंपरागत ढाँचे को यह कहीं से भी तोड़ने बदलने की कोशिश नहीं करता। बल्कि 'मैला अंचल' और 'परती परिकथा' के बजाय यह नागार्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेसर नाथ' या 'दुःखमोचन' के ज्यादा निकट पड़ता है। आख्यान भी पारंपरिक

क़िस्सागोई का है। किंवदंती, फैंटेसी, लोक मान्यताओं और तथ्यात्मक ब्यौरों को एक-दूसरे में मिलाते हुए बटरोही ने उपन्यास को पठनीय बना दिया है। रोचकता पाठक की शुरू से अंत तक बनी रहती है। उपन्यास के अंत में परिशिष्ट के रूप में पर्वतीय अंचल के विकास के संदर्भ में उत्तर प्रदेश सरकार का प्रेस नोट भी छापा गया है जाहिर है। इस 'पर्वतीय विकास' की त्रसद गाथा और वास्तविकता से यह उपन्यास पाठक को पहले ही परिचित करा चुका होता है।

फिर भी इस उपन्यास को पूरा पढ़ने के बाद यह स्पष्ट लगता है कि यह वस्तुतः उपन्यास नहीं, भविष्य में बटरोही द्वारा लिखे जाने वाले किसी उपन्यास का एक मूल ढाँचा भर है। उपन्यास अपनी शुरूआत के साथ जिस उठान पर चलता है, जिस मिथकीय संसार की रचना करता है, आगे चलकर वह परिवर्तन की समूची प्रक्रिया को दर्शाने के लिए सिर्फ कुछ बिंदु लगाने लगता है। लगता है बदलाव की रफ्तार को उसके सभी आयामों और स्थिर गतिचित्रों के साथ पकड़ने के बजाय फिलहाल बटरोही जल्दी-जल्दी आगे बढ़ जाना चाहते हैं, कुंतलि, नितिन, भंगिरुआ, घुसीराम आदि अनेक चरित्र इस उपन्यास में ऐसे हैं जो अपनी उपस्थिति के बावजूद अपना व्यक्तित्व और स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। 'उत्तरा खंड जुझारू संगठन' जैसे संगठन बनाकर अमेरिका जाने की आकांक्षा रखने वालों, अंतर्राष्ट्रीय अनुदानों पर पलने वालों और दोहरे जीवन जीने वाले शहरी क्रांतिकारियों की बिडम्बना और उनके वर्ग चरित्र को पूरी तरह उद्घाटित करने के लिए बटरोही को धैर्य और विस्तार का सहारा लेना चाहिए था। अगर यह उपन्यास लंबे समय में, समूची तैयारी और आवश्यक विवरणों के साथ लिखा गया होता तो निश्चित ही इसका विषय ऐसा था कि यह एक महाकाव्यात्मक ऊँचाइयाँ पा सकता था। उपन्यास के प्रारंभिक अंश इसका प्रमाण भी देते हैं। लेकिन इसके बाद उपन्यास तेजी से आगे बढ़ने लगता है— आधे-अधूरे दृश्य, आधे-अधूरे व्यक्तित्व, सुदूर के भू-खंड—जैसे किसी ट्रेन पर बैठकर समय को देखा जा रहा हो, जबकि उपन्यास का परिवेश बटरोही की स्मृति, संस्कार और चेतना में रचा-बसा परिवेश है। इसके साक्ष्य स्वयं इस उपन्यास में ही हैं: खासतौर पर बचपन में थोकदार घ्यूल देव की पूजा के लिए बकरे का बच्चा लेकर लौटने का प्रसंग। उपन्यास का यह अंश उतना ही जीवंत, ऐंद्रिक और संवेदनशील है, जितना 'तमस' में सूअर को मारने वाला बहुचर्चित प्रसंग। बटरोही इस उपन्यास में ऐसी कई जगहों पर अपनी गहरी भाषिक क्षमता और सृजनात्मक संवेदना का परिचय देते हैं, लेकिन वे फिर आगे बढ़ जाते हैं। बहरहाल अगर 'कसप', 'पटरंगपुर पुराण', 'पत्थर और पानी' और कृष्णनाथ के यात्रा संस्मरणों के साथ 'थोकदार किसी की नहीं सुनता' को भी पढ़ा जाय तो पर्वतीय अंचल के जनजीवन, प्रकृति, यथार्थ और इतिहास की ऐसी जानकारी हमें मिलती है जो मार्मिक भी है, त्रासदी से भरी हुई भी है और बहुत मूल्यवान भी है।

'थोकदार किसी की नहीं सुनता'(उपन्यास)लेखक : **बटरोही**; प्रकाशक : बिभा प्रकाशन, ५० चाहचंद, इलाहाबाद; मूल्य : **पचास रुपये**।

विश्व साहित्य

फ्रेंच कहानी

कलाकार का जन्म

□ आन्द्रे मोर्वा

जब उपन्यासकार पॉल-एमील ग्लेस ने स्टूडियो में प्रवेश किया, उस समय पिएर दूश नामक चित्रकार अचल पदार्थों के एक चित्र को समाप्त कर रहा था—दवाफरोश के एक बर्तन में फूल और एक प्लेट पर बैंगन ! ग्लेस कुछ क्षणों तक अपने काम करते हुए मित्र को देखता रहा और फिर जोर से बोल उठा "नहीं !"

चित्रकार ने आश्चर्य से सिर उठाया और चित्र के एक बैंगन को चमक देता-देता रुक गया।

"नहीं !' ग्लेस फिर से बोला। "नहीं, तुम क्यों सफल नहीं होंगे ? तुम शिल्पकुशल हो, तुममें प्रतिभा है, तुम ईमानदार हो। लेकिन तुम्हारी चित्रकला बाज़ारू है, मेरे भले आदमी ! इसमें सौन्दर्य नहीं है, इसमें प्राण नही हैं। प्रदर्शनी के एक दालान में, जिसमें पाँच हजार चित्र लटके हुए हों, तुम्हारे चित्रों के आगे उनींदे दर्शक को रोकने वाली कुछ भी बात नहीं-–नहीं पिएर दूश, तुम क्यों सफल नहीं होंगे। यह अफसोस की बात है।"

"क्यों ?" ईमानदार दूश ने दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा। "मैं वही बनाता हूँ, जो मैं देखता हूँ : मैं अपनी अनुभूति को प्रकट करने की चेष्टा करता हूँ।"

"लेकिन ऐसी बात नहीं है, मेरे भोले मित्र ! तुम्हारी एक पत्नी और तीन बच्चे हैं। उनमें हरएक को प्रतिदिन तीन हजार कैलोरी की जरूरत है। चित्रों की संख्या ग्राहकों से अधिक है, और कला से अनिभिज्ञ मनुष्यों की संख्या विशेषज्ञों से अधिक। तब किस उपाय से, पिएर दूश ! अप्रसिद्ध और असफल मनुष्यों की भीड़ से निकलना संभव है ?"

"कार्य से।" पिएर दूश ने कहा, "ईमानारी से।"

"मजाक मत करो। कला से अनभिज्ञ मनुष्यों को जगाने का केवल एक ही उपाय है, और वह है आश्चर्यजनक व्यवहार करना। प्रचार करो कि तुम्हारा इरादा उत्तरीध्रुव में चित्र खींचने का है। मिश्र के राजा की पोशाक में घूमा करो। अपने चेले चपाटों का एक दल बनाओ। पांडित्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया करो : विदेशीकरण, ऊर्जस्विता, अवचेतन मन, कल्पनाप्रसूत आदि। घोषणात्मक निबन्ध तैयार किया करो। न तो गतिशीलता को स्वीकार करो, न स्थिरता को, न सफेदी को, न कालिमा को, न चक्कर को, न वर्ग को। 'नव होमरी चित्रकला' का आविष्कार करो जिसमें सिर्फ़ लाल और पीला रंग हो। बेलन के आकार की चित्रकला या अष्ट-कोण चित्रकला या चार परिमाणों की चित्रकला का आविष्कार करो···"

इसी क्षण एक विचित्र और मधुर सुगंध ने मैडम कोस्नेप्सका के प्रवेश की सूचना दी। मैडम कोस्नेप्सका पोलैंड की एक सुन्दर महिला थी, जिसकी जामुनी आँखों को पिएर दूश मुग्ध होकर देखा करता था। वह महँगी पत्रिकाओं की स्थायी ग्राहक थी, तीन वर्ष की उम्र के बच्चों की महान कला-कृतियों का प्रकाशन करने पर बहुत अधिक व्यय भी करती थी वह इसीलिए कि ईमानदार पिएर दूश का नाम इन पत्रिकाओं में नहीं मिलता था। वह उसकी चित्रकला की अवहेलना किया करती थी। दीवान पर लेटते हुए उसने एक चित्र पर नजर डाली, अपने सुनहरे बालों को हिलाया और कुछ तरस खाती हुई मुस्कराने लगी।

"कल मैंने अच्छे युग की हवशी-कला की एक प्रदर्शनी देखी," उसने अपने काँपते एवं सुखद अनुभूति के स्वर से कहा! "अहा! कैसी संवेदनशीलता थी! क्या ही रूपरेखा थी! कितनी प्रभावोत्पादकता थी उनमें!"

उसे दिखाने को चित्रकार एक चित्र लाया, जो उसे पसन्द था।

"बहुत खूब," उसने ऊपरी मन से कहा। और तब निराश-सी, झूमती हुई-सी, गाती हुई-सी सुगन्धि से भरी वह गायब हो गयी। पिएर दूश ने एक कोने में अपने रंग के पात्र को फेंक दिया और दीवान पर गिर पड़ा: "मैं बीमा कंपनी का इंस्पेक्टर बनूंगा या बैंक का कर्मचारी या पुलिस का आदमी। चित्रकारी सबसे गया गुजरा धंधा है। सिर्फ दर्शकों द्वारा सफलता प्राप्त होती है और वह भी उन्हें जो प्रतिभाहीन हैं। सच्चे कलाकारों को सम्मानित करने के बदले ये समालोचक मूर्खों को प्रोत्साहित करते हैं। मैं अब तंग आ चुका, अलग होता हूँ इस धंधे से।"

ध्यान से यह सुनने के बाद, पॉल-एमील ने एक सिगरेट सुलगायी और काफी देर तक सोचता रहा।

"क्या तुम अपने को समर्थ समझते हो," उसने अन्त में कहा।

"कोस्नेप्सका को और कुछ दूसरे लोगों को पोप की सी गम्भीरता के साथ यह बताने में कि तुम दस वर्षों से अपनी चित्रकला की शैली के पुनर्नवीकरण की तैयारी कर रहे हो?"

"मैं?"

"सुनो प्रकाशित दो लेखों द्वारा मैं हमारे तथाकथित विशेषज्ञों को बताने जा रहा हूँ कि तुम आदर्शवादी-विश्लेशणात्मक स्कूल की स्थापना कर रहे हो। तुम्हारे पहले तक मनुष्यों का चित्र बनाने वाले अपनी अज्ञानता में मनुष्यों की मुखाकृति का निरीक्षण करते रहे हैं। कैसी मूर्खता! नहीं! जो वास्तव में आदमी का प्रदर्शन करता है वह वे कल्पनाएँ हैं, जो आदमी द्वारा हमारे मन में जागृति होती हैं। जिस प्रकार,—एक कर्नल का चित्र इस तरह से बनाया जाता है: नीले और सुनहले रंग की उसकी पृष्ठभूमि, इसके आर-पार पाँच फीते, एक कोने में एक घोड़ा, दूसरे कोने में क्रास के रूप में बने हुए पदक।···एक उद्योगपति का चित्र इस तरह से: कारखाने की चिमनी, टेबुल पर बंद की हुई मुट्ठी। समझ गए तुम, पिएर दूश! तुम्हें भिन्न भिन्न तरह के चित्र लोगों के लिए बनाने चाहिए! क्या तुम एक महीने के अन्दर-अन्दर बीस आदर्शवादी-विश्लेषणात्मक चित्र मेरे लिए तैयार कर सकते हो?"

चित्रकार की मुस्कराहट में उदासी थी।

"एक घंटे में," वह बोला, "लेकिन यह बड़े दुख की बात है कि यदि मैं दूसरे प्रकार का आदमी हुआ होता, तो यह योजना सफल हो सकती थी।"

"प्रयत्न किया जाय।"

"मुझे व्याख्यानबाजी नहीं आती।"

"भले आदमी, जब कोई आदमी व्याख्या चाहेगा, तब तुम थोड़ा समय ले लेना, एक पाइप सुलगाने में लग जाना, प्रश्नकर्ता की नाक पर एक धुएँ का बादल फूंकना, और ये सीधे सादे शब्द बोलना : क्या आपने कभी एक नदी का निरीक्षण किया है?"

"क्या मतलब ?"

"कुछ नहीं," ग्लेस बोला, "और इस कारण लोग तुम्हें बहुत महत्त्वपूर्ण पाएँगे, और जब ये लोग तुम्हारा आविष्कार कर चुके होंगे, तुम्हारे चित्रों की व्याखया कर चुके होंगे, और जी भरकर तुम्हारी प्रशंसा की झड़ी लगा चुके होंगे, हम यह सारी कहानी सुनाएँगें और उनके विक्षोभपूर्ण विस्मय का मजा लेंगे।"

दो महीने के बाद दूश के चित्रों की प्रदर्शनी का उद्घाटन बहुत सफल रहा। रूपवती मैंडम कोस्लेफ़्सका गाती हुई-सी, झूमती हुई-सी, सुगन्धि से भरी, अपने नये बड़े आदमी को बिल्कुल नहीं छोड़ रही थी।

"अहा !" वह बार-बार दुहरा रही थी, "कैसी संवेदनशीलता है ! कैसी रूपरेखा है ! कितनी प्रभावोत्पादकता है इनमें ! बताइये, प्रियवर, किस प्रकार से आपने आश्चर्यजनक संश्लेषण ढूँढ़ निकाले हैं ?"

चित्रकार ने थोड़ा समय लिया, अपनी पाइप फिर से सुलगायी, धुएँ का एक विशाल बादल फेंका और बोला, "क्या आपने कभी एक नदी का निरीक्षण किया है, मैंडम ?"

उत्तेजनावश कंपित होते हुए पोलैंड की उस रूपवती महिला के होंठ नृत्यमय और संगीत मय सौभाग्य की सूचना देने लगे।

खरगोश के चमड़े के कॉलरवाला कोट पहने हुए युवक स्ट्रुन्सकी बड़ी शान के साथ दर्शकों के समूह में अपना मत प्रकट कर रहा था : "बहुत ही उत्कृष्ट !" उसने कहा। "बहुत ही उत्कृष्ट ! लेकिन मुझे बताइये, दूश, यह अन्तः प्रेरणा...आपको कहाँ से मिली ? मेरे लेखों से ?"

पिएर दूश ने काफी समय लिया, दूसरे की नाक पर धूएँ का एक विजयोल्लासपूर्ण बादल फेंका और बोला, "क्या आपने कभी एक नदी का निरीक्षण किया है, मेरे प्रिय मित्र ?"

"कमाल है !" दूसरे ने पुष्टि की, "कमाल है !"

इसी क्षण चित्रों के एक प्रसिद्ध व्यापारी ने प्रदर्शनी की गश्त लगाने के बाद चित्रकार के कोट की बाँह पकड़ ली और उसे एक कोने में खींच ले गया।

"दूश, मेरे मित्र," उसने कहा, "आप बड़े चालक हैं। इससे एक बड़ा व्यापार चालू किया जा सकता है। अपने चित्रों का उत्पादन मेरे लिए सुरक्षित रखिये अपनी शैली न बदलें, जब तक मैं आपको न कहूँ और मैं प्रतिवर्ष आपसे पचास चित्र खरीदता रहूँगा। सहमत हैं ?"

दूश रहस्यमय रूप से पाइप पीता रहा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

धीरे-धीरे चित्र प्रदर्शनी खाली हो गई। पॉल-एमील-ग्लेस ने दरवाजे को अन्तिम दर्शक के पीछे बन्द कर दिया। सीढ़ियों पर प्रशंसात्मक बड़बड़ाहट दूर होती सुनाई दे रही थी।

तब चित्रकार के साथ अकेले रह गए उपन्यासकार ने बड़े हर्ष से अपने हाथों को अपनी जेबों में डाला।

"अब, मेरे भले आदमी," वह बोला, "क्या हमने उनको ठीक तरह से उल्लू नहीं

बनाया ? क्या तुमने खरगोश के चमड़े के कॉलरवाले उस छोटे से व्यक्ति को सुना ? और पौलैंड की रूपवती महिला और उन तीन लावण्यमयी जवान लड़कियों को, जो बार-बार कह रही थी, ऐसी नवीनता ऐसी नवीनता ! ओह, पिएर दूश, मैंने मनुष्यों की मूर्खता को सीमाहीन माना था, किन्तु यह तो मेरी आशाओं से अधिक निकला !"

और फिर उसके लिए हँसी को रोकना बहुत मुश्किल हो गया। चित्रकार ने भौंहें चढ़ायीं, जबकि दूसरे के पेट में हँसने से बल पड़ रहे थे। कठोरतापूर्वक बोला, "बुद्धू !"

"बुद्धू ?" उपन्यासकार क्रोध में भरकर चिल्लाया, "पत्रकार बीशू के बाद लोगों का इससे अधिक अच्छी तरह मजाक क्यों नहीं उड़ाया गया···!"

चित्रकार ने अभिमान से उन बीस विश्लेषणात्मक रूपचित्रों पर अपनी दृष्टि दौड़ाई और तब ऐसे जोर के साथ बोला, जिससे निश्चयता प्रकट होती थी, "हाँ ग्लेस ! तुम एक बुद्धू हो। चित्रकला की इस शैली में कुछ है···"

उपन्यासकार अपने मित्र को हक्का-बक्का सा होकर देखने लगा।

"यह तो बदतमीजी की हद है !" वह चिल्ला उठा, "दूश, याद तो करो। किसने तुम्हें इस नयी शैली का सुझाव दिया है ?"

तब पिएर दूश ने थोड़ा समय लिया और अपनी पाइप से एक विशाल धुएँ का बादल निकालते हुए बोला, "क्या तुमने कभी एक नदी का निरीक्षण किया है ?"

मूल फ्रेंच से अनुवाद : साबीना रिचर्ट

वृद्ध सप्ताह

□ कोंज़ाबुरो ओए

वह नर्स अशंकालिक नौकरी के लिये आए विश्वविद्यालय के तीन छात्रों को जिस अथिति-गृह में ले गई, वह गोदाम की भाँति विस्तृत और अंधकारमय था। हर खिड़की पर मोटा पर्दा झूल रहा था जिस से बाहर से न तो सूर्य-किरणें पहुँच सकती थी न ही कोई ध्वनि। वह नितांत अकेला कमरा था। कमरे में फ़रनीचर इतने भरे पड़े थे कि वह विशेष बिक्री के लिये तैयार पुरावस्तुओं का प्रदर्शनी स्थल जैसा लग रहा था। क्योंकि दिन के भरपूर प्रकाश को पूरी तरह प्रतिबिंबित करने वाली गरम दूब पर कदम बढ़ाते हुए ये तीन छात्र अहाते में गोदाम की संरचना में निर्मित मकान के भीतर पहुँच गये, अंधेरे के आदी होने के प्रयास में वे पलकें झपकाते हुए, इधर-उधर भिन्न-भिन्न फरनीचरों से टक्कर खाते गये और इंगित की गयी कमरे के ठीक मध्य में रखी कुर्सियों पर बैठ गये। फिर तीनों ने लंबी साँस ली। छात्रों को कुछ-कुछ डर-सा महसूस होने लगा था। वस्तुतः यह कमरा पुराने बेकार से फ़रनीचरों का वन था। रात को क्रियाशील बनने वाले जीव जंतुओं की भाँति अकेली वह नर्स अंधेरे में पूर्णमुक्ति के साथ चल फिर रही थी। उस ने तीनों कुर्सियों के सामने खड़े टेबल लैंप के, ज़ुल्फ़ सी सजा-वट वाले स्विच की जंजीर खींची। धुंधले पीले प्रकाश में तीन छात्रों के तने हुये चेहरे उभर आये। छात्रों ने एक क्षण के लिये कुछ इस प्रकार एक दूसरे चेहरों पर आँखें घुमाई मानो वे रहस्य का पता लगाने जा रहे हैं। और फिर उन्होंने अपनी आँखें झट से हटी लीं। दाएँ और बाएँ की दिशा में पंक्तिबद्ध कुर्सियों के सामने एक नीचा पलंग रखा था जिस की पृष्ठभूमि में अंगूर के रंग का मखमल का पर्दा पड़ा था। उस पलंग के एक कोने से एक वृद्ध ने अचानक छछूँदर की भाँति सावधानी बरतते हुये सीधे अपना सिर ऊपर उठाया और छात्रों को ध्यानपूर्वक देखा। वृद्ध के सफ़ेद बाल छँटे हुये थे और उस का सिर, नन्हें बच्चों की भाँति छोटा था। केवल आँखें बाज की तरह थीं।

"ये जो विश्वविद्यालय के छात्र हैं, आप को एक सप्ताह के दौरान बाहर की दुनिया के बारे में बतलाने आया करेंगे। आप के लिये उत्तेजित होना ठीक नहीं है। इसलिये आध घंटे के लिये बातचीत होगी। इस का सख्ती के साथ पालन किया जाना होगा।" छात्रों के पीछे खड़ी होकर नर्स ने जबरदस्त आदेश सुना दिया।

"कष्ट दे रहा हूँ। मैं काफी लंबे समय से इस कमरे में बंद हूँ। मरने से पहले बाहर की दुनिया के बारे में कुछ सुनना चाहता हूँ। दसेक वर्षों से मैंने न तो समाचार पत्र पढ़ा, न ही

रेडियो सुना। उस सब का अभी क्या हाल है?" वृद्ध ने फटी आवाज में कहा मानो उसे थोड़ा-थोड़ा कर खाँसी आ रही हो।

"और टेलिविजन का?" नर्स ने बात जोड़ दी।

"इस सब से बढ़ कर यह बात है कि जब से मैं कमरे में बंद रहने लगा हूँ तब से पहली बार बाहर के आप लोगों से मिल रहा हूँ। मैं बड़ा आभारी हूँ। कितना अच्छा लग रहा है।"

"यह छात्र साहित्य पढ़ते हैं, यह विज्ञान के हैं और यह शैक्षिक विभाग की हैं।। अच्छा दादा जी, आज के लिये यह परिचय काफी है। ज्याद उत्तेजित होना ठीक नहीं है इसलिए।" नर्स ने कहा। उस की आयु भी शायद पचास को पार कर चुकी होगी।। गालों पर गहरे घाव की भाँति ऊपर से नीचे की ओर क्रूर सी झुर्रियाँ पड़ी थी जिस से वह विद्वेषपूर्ण लग रही थी, हिंसात्मक भी।

"हाँ, हाँ ठीक है। यह स्त्री भी तो बाहर की दुनिया के बारे में बिल्कुल भी नहीं जानती। जो कुछ मैं पूछता हूँ, उसका यह सही उत्तर दे नहीं पाती।" वृद्ध शांत मन से मुस्कराया। कंठ स्वर नहीं, आहें भरने जैसी आवाज ही धीमे-धीमे निकल पा रही थी।

"अच्छा तो अब," नर्स ने छात्रों को संकेत देने के साथ-साथ टेबल लैंप के स्विच वाली जंजीर खींची।

अंधेरे में कुछ निचले स्तर से हड़बड़ी में वृद्ध की आवाज उभर आयी।

"बस एक, एक ही प्रश्न पूछना चाहता हूँ। सर्वप्रथम तो, क्या बाहर की दुनिया सामान्य तौर पर अच्छी चल रही है? क्या मैं शांति से मर सकता हूँ?"

"जी हाँ, अच्छी चल रही है? बहुत ही अच्छी चल रही है।" साहित्य के छात्र ने कुछ चिन्तित से, लेकिन चिन्ता को दूर करने में पर्याप्त उत्साह के साथ उत्तर दिया।

उसके बाद वृद्ध को, जिसका मन अभी पूरा नहीं भरा प्रतीत हो रहा था, पीछे छोड़कर तीनों छात्रों ने ग्रीष्म काल के आरम्भ के मध्याह्न वाले प्रकाश में पैर रखे। वे गालों में चुभने वाली गर्मी महसूस करते हुए मंगोलियाइयों की भाँति आँखें छोटी कर, कंधे से कंधा मिलाकर पैदल चलने लगे। तीनों, मानो राहत और मुक्ति का आनन्द उठा रहे थे। उनमें से एक ने भी गोदाम की संरचना में निर्मित पृथक मकान की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। वे धीरे-धीरे गति बढ़ाते हुए दूब के ऊपर कदम रखते गये मानो उस अकेले गढ़ से, जहाँ ९० वर्ष की आयु वाला वृद्ध कमरे में बन्द है, मृत्यु के पूर्व संकेत वाला विषैला वात उमड़ पड़ रहा है और वह उनके दम घोंटने के लिए तेज गति से पीछा करता आ रहा है।

नर्स, दोनों बाँहें खूब तान कर छाता बनाते हुए छात्रों की बगल में कदम रखती साथ-साथ चलने लगी। जब वह छात्रों की तेज होती जा रही गति के पीछे रहने लगी तब फुर्ती से कुछ दौड़ते हुए उनके बराबर तक आ गई और बोली, "सबसे पहले मैंने कहा था न, आप कुछ ऐसी बातें कीजिए जैसे कि बाहर की दुनिया सुख-आनन्द से भरी पड़ी है। जब आपने कहा कि दुनिया अच्छी चल रही है, बहुत अच्छी चल रही है, तब बाकी दोनों ने भी झट से हामी भर दी होती। तब तो और भी अच्छा था।"

विज्ञान के छात्र और छात्रा ने तेज सूर्य प्रकाश में मुँह बिचकाते हुए हड़बड़ी में हामी भर दी। सचमुच उस समय दोनों को एक ही आवाज में साहित्य के छात्र को समर्थन प्रदान करना चाहिए था। क्योंकि मृत्यु शय्या ग्रस्त ९० वर्ष के वृद्ध के सामने वर्तमान विश्व को

उज्ज्वल व तृप्त माया रूप में प्रस्तुत करने के लिए तो तीनों को अंशकालिक नौकरी मिली थी। अहाते के पिछवाड़े के द्वार के सामने तीनों छात्रों ने नर्स से विदा ली और पहले दिन के ताप से मुक्ति पायी। अहाते के बाहर आकर वे मरम्मत के लिए खोदी गयी सड़क के किनारे-किनारे खूब तेजी के साथ मानो वे उछल-कूदरहे हैं, भूगर्भरेलवे स्टेशन की ओर कदम बढ़ाते गये। शीघ्र ही तीनों के ललाट पसीने-पीसने हो गये।

"उतना सरल कार्य मालूम नहीं लग रहा।" विज्ञान के छात्र ने कुछ चिंतित होकर कहा।

"कह रहे थे कि ६० वर्ष की आयु का है। तभी तो मैंने सोचा था कि वह और बूढ़ा-बूढ़ा लग रहा होगा। दिमाग भी काफी कमज़ोर हो गया होगा। लेकिन वह ठीक ठाक मालूम देता है। क्यों ?"

"तो भी बुढ़ापे का निश्चय ही शिकार हुआ है। नर्स कह रही थी कि इसी ग्रीष्म काल को पार करना कदापि संभव नहीं होगा।" छात्रा ने कहा।

"लेकिन बाहर की दुनिया क्या अच्छी चल रही है ? जी हाँ, अच्छी चल रही है, बहुत अच्छी चल रही है। तुम्हारा यह उत्तर बगल में बैठकर सुनते हुए मुझे कुछ एतराज हो रहा था।" विज्ञान के छात्र ने कहा, "मैंने मौन रह कर अच्छा नहीं किया। लेकिन मौन रहने का यही कारण है।"

"उस नर्स के साथ किये हुए वचन की बात छोड़िये। तो भी तुम्हारे विचार में क्या उत्तर दिया जाना चाहिए था।" साहित्य के छात्र ने विरोधी भावना में कुछ तिरस्कार के शब्द कहे। "मृत्यु शय्याग्रस्त बूढ़े के सामने क्या तुम कुछ ऐसा कह सकते हो कि वह दुनिया के यथार्थ रूप से निराश होकर बेकार की मौत मर जाए ?"

"इसके अलावा मैं सोचता हूँ कि इस प्रकार के प्रश्न का आसानी से उत्तर दे पाने वाला एक भी व्यक्ति इस दुनिया में नहीं होगा। यह दुनिया ठीक चल रही है कि नहीं, इसका निर्णय लेने वाला अगर कोई है तो वह भगवान ही है। यह तो आदमी का काम नहीं है।"

"ठीक कहते हो। कोई कह नहीं सकता। आज के विश्व के सही रूप के बारे में कोई ठीक निर्णय नहीं ले सकता। मैं भी उस नर्स की शर्त पूरी करते हुए निराधार बातें मुँह से निकालने का बिलकुल भी इरादा नहीं रखता। चाहे वह अभी मरने वाला है, और वह गत एक दशक से अपने कमरे के बाहर की घटनाओं के बारे में बिलकुल भी नहीं जानता, तो भी मैं लापरवाही से झूठ बोलना पसन्द नहीं करूँगा। अतः मैं अपने २० वर्ष बाद वाले आदर्श लोक के बारे में बताऊँगा। यह कहकर कि आज की दुनिया यही है। भविष्य काल के स्थान पर वर्तमान काल की भाषा में कहूँगा। यह समझ लो कि में २० वर्ष पहले ही, जल्दी में रिपोर्ट पेश कर रहा हूँ तब तो यह झूठ, झूठ नहीं रह जाएगा।" साहित्य के छात्र ने कहा।

"तब तो तुम्हारे १९८० के दशक का भावी विश्व, ठीक चल रहा है न ? मेरे लिए भी वैसा निकले तो अच्छा है।" विज्ञान के छात्र ने व्यंग्यात्मक ढंग से कहा। वह कुछ क्षोभ का अनुभव कर रहा था क्योंकि साहित्य का छात्र तीनों छात्रों का नेतृत्व हड़पने जा रहा है।

"जैसे भी हो, जो कुछ मैं उस बूढ़े से कहूँगा, सरसरी तौर पर ही सही, हाँ में हाँ मिला दो, क्यों ? नहीं तो बूढ़े का दिमाग गड़बड़ करेगा। बस हमें यह बात साफ़ हो कि जो कुछ वह बूढ़ा आज के दृश्य समझ कर सुनेगा, वह हमारे लिये कल के आदर्श लोक की बातें होंगी।"

"हाँ, हाँ, मैं अवश्य तुम्हारी हाँ में हाँ मिलाऊँगा। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि

तुम जैसे दयालु व्यवहार करने वाला, झंझट का बीज बोया करता है।"

"जैसे भी हो, सहयोग दो न। मैं आज पूरी रात लगाकर अपने सर्वाधिक उज्ज्वल भविष्य का रूप सोच निकालूंगा। वैसे मैं शुरू से ही निराशावादी रहा हूँ। खैर, मुझे वह बूढ़ा अच्छा लगने लगेगा।"

"जी, मैं भी हाँ में हाँ मिलाना तो अवश्य करूँगी। लेकिन कुछ ज्यादा जटिल आदर्श लोक की बात सोचियेगा नहीं। ठीक ठाक एक सप्ताह का काम पूरा हो जाए और मुझे पारिश्रमिक मिल जाए, बस।" छात्रा ने यथार्थवादी बात साफ़ कह दी।

संवेदनशील नवयुवकों द्वारा तय किया गया कि प्रतिदिन आधे घंटे के लिए ६० वर्ष की आयु वाले वृद्ध की सेवा की जाए। पूरे एक सप्ताह बाद प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक की रक़म प्रत्येक छात्र के लिए १० हजार येन होगी। जब विश्वविद्यालय के सूचना पट पर इस कार्य के लिए एक चिट चिपकाई गई तब क्योंकि अशंकालिक नौकरी करने वाले छात्रों के लिए पारिश्रमिक की यह रक़म असाधारण रूप से बड़ी थी, इसलिए अनेक छात्रों ने इस कार्य के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। अस्तु, लॉटरी द्वारा इन तीन छात्रों को सौभाग्य प्राप्त हुआ। यही कारण है कि तीनों छात्र, सैद्धांतिक तौर पर खुश थे। और आपस में सहयोग देने पर तत्पर थे। तीनों छात्र, भूगर्भरेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर विदा होने तक ग्रीष्मकालीन यात्रा योजनाओं पर बातचीत करते रहे। वे सब २० वर्ष की आयु के थे और उनमें शारीरिक व मानसिक रूप से लेश मात्र का यह स्मरण रह गया था कि अंधेरे कमरे में पड़े ६० वर्ष के उस वृद्ध के चारों तरफ घने रूप से मृत्यु की गंध मंडरा रही थी।

मंगलवार को, शायद थक जाने के कारण वृद्ध ने छछूंदर की भाँति तो सिर नहीं उठाया। छोटी-सी काया से ग्रीष्मकालीन रजाई का छोटा-सा पहाड़ बना कर लेटते हुए वृद्ध ने तीन छात्रों का स्वागत किया। उत्तेजित होना ठीक नहीं है, ये शब्द बार-बार दुहराकर सावधान करने के बाद जब वह नर्स कमरे के बाहर चली गयी तो वृद्ध ने शुरू में कुछ औपचारिकता बरतते हुए पूछा, "इस समय बाहर की दुनिया में पैदा होने वाले बच्चे, क्या साधारणतया सुखी होते हैं?"

छात्रा ने असावधानी के साथ कहा। "जी हाँ, लेकिन बाँहें विहीन बच्चे भी पैदा होते हैं।"

न केवल साहित्य के छात्र ने बल्कि विज्ञान के छात्र ने भी इस असावधान छात्रा को तिरस्कार की क्रूर दृष्टि से देखा। ग़लती होने के एहसास से शर्म की कालिमा छात्रा के गरदन तक फैल गयी।

वृद्ध ने आश्चर्यजनक तत्परता के साथ प्रतिक्रिया दर्शाते हुए यह प्रश्न किया। "माँ ने किसी विशिष्ट औषधि का सेवन किया होगा, कुछ इस प्रकार की बात का परिणाम है क्या?"

"जी हाँ, नींद की गोलियाँ खाने का परिणाम है।" छात्रा ने शर्म के मारे बहुत धीमे स्वर में कहा।

"गर्भ धारण करने की खुशी न मनाकर क्यों नींद की गोलियाँ खाती होंगी? परेशान माताओं की संख्या में वृद्धि हो गयी?"

साहित्य का छात्र बीच में बोल पड़ा, "लेकिन वे थालिडोमाइड बच्चे भी सुखी जीवन बिता रहे हैं। उनके लिए सुविधाओं से लैस संस्थाएँ भी हैं। कुछ दिन हुए समाचार पत्र में मैंने

एक थालिडोमाइड नवयुवक का चित्र देखा था। वह नौकरी करता है और विवाहित भी है।" यह कहते हुए उसने इसी क्षण अपने आदर्श लोक में थालिडोमाइड बच्चों की आवास व्यवस्था भी शामिल कर दी।

"क्या कैंसर रोग के कारण मरने वालों की संख्या अब भी काफी ज्यादा है?" वृद्ध ने दूसरा प्रश्न किया।

"जी अभी आँकड़ों में तेजी से घटाव लक्षित किया जा रहा है। अब तो कैंसर पर भी नियंत्रण किया जा चुका है जिस तरह कि क्षय रोग पर विजय पायी गयी।" साहित्य के छात्र ने बलपूर्वक कहा, "दस वर्ष पूर्व की तुलना में जापानियों की औसत आयु में कहीं अधिक वृद्धि हो रही है।"

"तब तो गिंजा (राजधानी के रौनक भरे बाजारी क्षेत्र) में वृद्ध लोग ही नजर आयेंगे न? और उनके बीच सुखी थालिडोमाइड नवयुवक नई नवेली पत्नी की बाँह थामकर, नहीं, थालिडोमाइड बच्चों की बाँहें नहीं होतीं तो बाँह थामना कठिन होगा न, खैर प्रसन्न मुद्रा में चहलकदमी कर रहा है। क्यों?" वृद्ध ने सरलता के साथ कहा।

तीनों छात्र, एक क्षण के लिए संदेहास्पद दृष्टि से वृद्ध को देखने के बाद मौन रह गये। अतिरेक में तने हुए त्वचा वाली स्कंध अस्थियों के यहाँ तक कंबल खींचते हुए वह वृद्ध लेट रहा था। उसका छोटा-सा सिर कुछ ऐसा दिख रहा था कि यदि वह इसी तरह मर भी गया तो भी उसमें खास परिवर्तन नहीं आएगा। सूखे माँस के रंग के वृद्ध के पतले से होंठ, कान से भी शब्दों का उच्चारण करेंगे। इस बूढ़े शरीर में तीन युवकों की खिल्ली उड़ाने में पर्याप्त अतिरिक्त शक्ति शेष रहती है क्या?

"यातायत दुर्घटनाएँ कैसी हैं?" वृद्ध ने नये सिरे से शांत स्वर में प्रश्न किया।

"कम हो चली हैं।" साहित्य के छात्र ने दावे के साथ कहा।

"मोटरगाड़ियों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई क्या?"

"जी, कहीं बड़ी संख्या में वृद्धि हो रही है। मोटरकार-मालिक-वर्ग कहकर मध्यम वर्ग के साधारण से साधारण लोग अपनी ही मोटरगाड़ी में सवार होकर निकलते हैं। मोटरगाड़ियों के स्वामियों की दर, दस वर्ष पूर्व के अमरीकी आँकड़ों के निकट तक पहुँच गयी होगी।"

"तब तो यातायात दुर्घटनाएँ होनी ही चाहिए। मोटरकार-मालिक-वर्ग तो क्या भयभीत घोंघे होते हैं जो अपना गला घोंट कर मर जायेंगे यदि उनकी सोने जैसी मोटरगाड़ी को चोट लग गयी तो।"

"सड़कें बढ़िया हो गयी हैं। बहुत ही बढ़िया सड़कों का जाल देश भर में बिछा हुआ है। खासतौर पर तोक्यो की सड़कें लाजवाब हैं।" साहित्य के छात्र ने उत्साह से गालों को फुलाकर लाल बनाते हुए कहा।

"अच्छा, इस प्रकार यातायात दुर्घटनाएँ घट गयीं क्या? कैंसर से मरने वाले कम हो गये, यातायात दुर्घटना के कारण मरने वाले कम हो गये, तब मृत्यु के साधारण से साधारण कारण क्या हैं? यदि जापान भर में लोगों की उतनी भरमार न हो तो भी प्रति वर्ष मरने वाले भी अवश्य होंगे।"

"जी, अवश्य···।"

"वे कौन से रोगों के कारण मरते हैं? कैंसर का स्थान लेने वाली घातक बीमार निकल

आयी है क्या ?" वृद्ध अड़ा रहा ।

तीनों छात्र हठात् निरुत्तर होकर मौन रह गये । तीनों ही छात्र सोच में पड़ गये कि २० वर्ष बाद के हमारे आदर्श लोक में हम जापानियों का, साधारण से साधारण रोग के कारण देहान्त होगा, मगर वह कैसा देहान्त होगा ?

"हाँ, याद आया" वृद्ध के मानो अचानक एक बात मन में कौंध आयी हो आवाज़ निकाली । फिर उन्होंने लिनिन का कवर लगे तकिये पर रखे हुए सिर को चुप्पी साधे हुए विचार में मग्न तीनों छात्रों की ओर धीरे से घुमाया । बाज जैसी आँखों में एक क्षण के लिए बिजली-सी चमकी ।

"मृत्यु का सर्वाधिक कारण आत्महत्या होगा । सभी लोग आत्महत्या करते होंगे न ?"

बुधवार की थकान से और भी कमज़ोर होते जा रहे वृद्ध ने सर्वप्रथम यह प्रश्न किया कि युवराज ने विवाह किया कि नहीं ? तीनों छात्रों ने उसी क्षण निरुत्तर होकर झट से परस्पर चेहरे को टटोल कर देखा । तीनों सोच में पड़ गये कि कहीं यह बूढ़ा, शाही परिवार का भक्त तो नहीं होगा ? युवराज के विवाह सम्पन्न होने से पहले और बाद में कुछ ऐसे वृद्ध जनों को बड़ा सदमा पहुँचा था । अस्तु सर्वाधिक व्यावहारिक चरित्र की छात्रा ने अंततः कह डाला । "जी हाँ, विवाह हुआ । बच्चा भी हुआ है ।"

वृद्ध ने पूछा, "किस राज घराने की कन्या के साथ ?"

साहित्य व विज्ञान के छात्र, जिम्मेदारी से पलायन कर छात्रा को देखते रहे कि कहीं वह फँस तो नहीं गयी । छात्रा ने दो टूक जवाब देने के लिए चाहे एक ही बार में बूढ़े पर प्रहार क्यों न हो जाए, निर्णायक रूप से कह दिया ।

"जी नही, उनके, किन्हीं राज घरानों या शाही परिवारों के साथ बिलकुल भी संबंध नही हैं । युवराज ने साधारण नागरिक की कन्या के साथ विवाह किया ।"

तीनों छात्र, सावधान होकर वृद्ध की ओर देखने लगे कि क्या प्रतिक्रिया होगी । लेकिन वृद्ध बिलकुल भी विचलित नहीं हुआ ।

"अच्छा हुआ । प्राचीन ज़माने में भी उदाहरण मिलता है ।" वृद्ध ने कहा ।

"मान-योशू (प्राचीन कविता-संग्रह) में एक है, टोकरी, प्यारी-सी टोकरी को लेकर, खुरपी, प्यारी सी खुरपी को लेकर, इस टीले पर तरकारी चुनने वाली कन्या, तुम" (इस प्रकार ५ वी सदी में महा महिम यूर्याकु ने साधारण नागरिक की कन्या से सम्राट का प्यार जताया था ।)

तीन छात्रों ने सरलता से चिन्ता मुक्त होने पर राहत की साँस ली । लेकिन उसके बाद वृद्ध द्वारा प्रहार आरंभ हुआ । "क्या शाही परिवार अनेक जापानियों के मन में बसे हुए हैं ?" वृद्ध ने कहा ।

"जी हाँ, वैसा प्रतीत होता है ।" छात्रा ने जवाब दिया ।

"तब तो रूढ़िवादी पार्टी की सरकार बरक़रार है न ।" वृद्ध ने कहा ।

छात्रा ने अपना उत्तर देने से पहले साहित्य के छात्र को एक बार देखा । २० वर्ष बाद वाले भावी विश्व के इस हिमायती ने छात्रा की ओर देखते हुए मजबूरी के साथ सिर हिलाया । उसने छात्रा की ओर देखते हुए, ठेस लगे स्वर में यह कहने के स्थान पर कि हाँ, हाँ, २० वर्ष

बाद की सरकार भी रूढ़िवादी पार्टी की ही सरकार होगी, सिर हिलाया। अतः छात्रा ने कहा। "जी हाँ।"

"सड़कें कहीं ज्यादा अच्छी हो गयी हैं न? तब तो कर भी खासा वसूल किया गया होगा। एक दशक, या उससे अधिक लंबे समय तक रूढ़िवादी सरकार बरकरार रही और कर भी ज्यादा वसूल किया गया तो जनता उपद्रव नहीं कर सकती? हुआ क्या?"

"नहीं, नहीं हुआ।" एक बार फिर छात्रा की दृष्टि पाकर साहित्य का छात्र, अपनी ओर से सहायता के लिए आगे निकल आया।

"तब तो जापानी जनता में असंतोष नहीं है?"

"विशेष रूप से बड़ा असंतोष हुआ तो रूढ़िवादी पार्टी चुनावों में हार खा चुकी होगी।"

"क्या तुम वास्तव में वैसा सोचते हो?" वृद्ध ने यही पूछकर साहित्य के छात्र को एक क्षण के लिए झेंपने दिया तो भी सौभाग्यवश और प्रहार नहीं हुआ।

"तब तो यह बात है क्या कि आर्थिक स्थित बेहद अच्छी है। गत एक दशक के दौरान क्या दक्षिण कोरिया या ताइवान जैसे देशों में जापानियों को भारी लाभ कमाने देने वाला युद्ध हुआ क्या?"

"युद्ध नहीं हुआ, आगे भी नहीं भड़केगा।" साहित्य के छात्र ने कहा।

"आगे भी क्यों नहीं भड़केगा?"

"यदि युद्ध होगा तो परमाणु युद्ध ही होगा। और परमाणु युद्ध कभी नहीं भड़केगा। साहित्य के छात्र ने सचमुच बड़े उत्साहित होकर उल्लसित आँखों के साथ कहा।

'अच्छा, तो क्या में यहाँ बुढ़ापे की कमजोरी के कारण मरने के स्थान पर विश्व के लोगों के साथ परमाणु युद्ध में ही मरने की प्रतीक्षा नहीं कर सकता?" वृद्ध ने कहा मानो उन्हें कुछ खेद का अनुभ र हो रहा हो।

"जी नहीं, पृथ्वी के सभी मानव एक साथ परमाणु युद्ध में मर जायेंगे, ऐसा हो ही नहीं सकता। ऐसा नहीं हो सकता, यह निश्चितता और प्रबल होती जा रही है। परमाणु अस्त्रों को संचालित करने वाले बटन को नियंत्रण में रखने का तरीका विकसित होता जा रहा है और किसी भी क़िस्म के आकस्मिक युद्ध को टाला जा सकता है।" साहित्य के छात्र ने कहा।

"लेकिन यह बात तो नहीं न कि अमरीकी राष्ट्रपति और सोवियत नेता, पूर्ण रूप से सहमति पर पहुँचें।"

"जी नहीं, लेकिन परमाणु अस्त्रों से लैस दो गुटों के बीच भय के कारण सुदृढ़ रूप से संतुलन कायम है।"

"क्या दोनों ठिठक गये? लेकिन वाशिंगटन और मॉस्को, चाहे भय वाले संतुलन के दलदल में फँस गये, तो भी बदले में क्षेत्रीय युद्ध नहीं होंगे? उन्हें अभिकर्ता युद्ध कहें या क्या कहें।"

"जी, वियतनाम और लावस में वैसे युद्ध हुए। लेकिन यह सब अतीत की बात हो गयी।" साहित्य के छात्र ने धीरे-धीरे अपने ही आदर्श लोक में डुबकी लगाकर और भी गहराई तक अग्रसर होते हुए बलपूर्वक कहा। बूढ़े की आत्मा को शांति मिले, इसी प्रार्थना में वह अधिक से अधिक भलाई करने की चेष्टा में था···।

"क्या वहाँ पर भी भय वाला संतुलन फिर कायम हुआ ? वैसा जरूर हुआ होगा न ? वियतनामी लोग भी परमाणु बम के मालिक बन गये होंगे। जैसे भी हो बाहर की दुनिया तो दिन दूनी रात चौगुनी आगे बढ़ती ही जाती है। लेकिन इस सबके बदले अब जातियों के बीच अभिकर्ताओं द्वारा युद्ध भड़क तो नहीं उठे ?"

"जी, जी" किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भी अपना स्थान क़ायम रखने के प्रयास में साहित्य के छात्र ने कहा। "लेकिन वहाँ पर भी शांति···।"

"फिर भय वाला संतुलन ? क्या लावस की भिन्न-भिन्न जातियों के मुखिया लोगों ने भी छोटे अणुबम खरीद लिये ? तब तो अब व्यक्तिगतस्तर का अभिकर्त्ताओं द्वारा युद्ध आरंभ होगा ? विभिन्न स्तरों पर भय वाले संतुलन की परत दर परत दीवार के भीतर बाहर की दुनिया वाले आज के मानव, कहीं वीरान से अकेलेपन का शिकार तो नहीं बने हुए हैं ?" वृद्ध ने कहा।

"जैसे भी हो, अब तो इस दुनिया से युद्ध गायब हो गया है।" गुनगुनाने जैसे या कहिये, सिसकने जैसे स्वर में साहित्य के छात्र ने कहा।

"पृथ्वी पर स्वर्ग का वास हो रहा है, सचमुच। लेकिन यदि पृथ्वी के सारे मानव, व्यक्तिगत स्तर के युद्ध में मग्न रहते हैं तो भाईचारा या मानवता कहीं लुप्त नहीं हो जाती ?"

"वह सब किसी दिन फिर व्याप्त होगा ही।"

"जब तक कि भय वाले संतुलन की कच्ची दीवार ढह न जाती तब तक वैसा हो सकेगा ?"

"जी हाँ, किसी दिन अवश्य।"

"किसी दिन, अवश्य ? वह कब की बात होगी ?"

पूरी शक्ति लगा चुकने के बाद साहित्य का छात्र, थक कर सिर नीचे किये चुप हो गया। उसके मस्तिष्क में जो आदर्श लोक था, वह व्यक्तिगत स्तर वाले युद्ध नामक नये उठाये गये विष का शिकार होकर खट्टी-सी, अप्रिय दुर्गंध छोड़ने लगा।

"किसी दिन अवश्य, वह तो" वृद्ध का स्वर, जो पतला-सा, फटा-सा बना रहा, हास्य-कर रूप से हल्का व सजीव हो उठने लगा। और वह गोदाम जैसे कमरे में अनेकों फ़रनीचरों के बीच से होकर चूहे की भाँति दौड़ता गया।

"वह तब है जब मंगल के जीव धारी, पृथ्वी पर प्रहार करेंगे। एक-एक व्यक्ति समझौता कर वे बंधुत्व में बँध जायेंगे, जातीय स्तर पर संधि सम्पन्न होगी, राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र-भेद को अर्थहीन समझा जाने लगेगा, मॉस्को और वाशिंगटन की ओर से एक-एक प्रति-निधि को खड़ा कर दिया जाएगा और दोनों में से एक, पृथ्वी रक्षक सेना का प्रधान सेनापति बनेगा, जिसका, पृथ्वी पर कोई भी मानव विरोध नहीं करेगा। वह तब है जबकि मंगल ग्रह के जीव धारी और पृथ्वी के मानव के बीच युद्ध होगा। तब तो कुछ ही घंटों में पृथ्वी का सर्वनाश हो सकता है।"

वह वृद्ध अकेला ही, बीमारी से कमज़ोर पड़ गये बच्चों की भाँति हीं-हीं कर हँसा। तीन छात्र, शरीर को सिकोड़कर तन कर सख्त बने हुए चेहरे को झुका गये। विशेष रूप से साहित्य का छात्र, इतना उत्तेजित हुआ कि पीले पड़ गये गालों पर काफी समय तक कँपकँपी आयी हुयी थी। वह वृद्ध को भविष्य के अंधकारमय रूप से मुक्ति दिलाने के प्रयास में उपाय न ढूँढ़ पाकर उद्विग्न हो रहा था। फिर भविष्य का वह अंधकारमय रूप तो मूलतः उसकी नेकी से बोये गये

बीज पर खिला अनपेक्षित विषैला फूल तो नहीं था? कहीं उसने मृत्यु शय्या पर पड़े वृद्ध के सामने नरक का पूर्वाभास कराने जैसा, बहुत ही निर्दयी कृत्य न कर डाला था? साहित्य के छात्र के मस्तिष्क में इस घबराहट का, विज्ञान के छात्र व उस छात्रा पर किसी न किसी रूप से प्रभाव पड़ रहा था। अकेला ६० वर्ष का क्षीणकाय वृद्ध, अंगूर के रंग के पर्दे के सामने वाले पलंग को घेरने वाले मंद प्रकाश में जिज्ञासा व स्फूर्ति पूर्ण अवस्था में बहुत ही प्रसन्न था। तो भी ये तीनों छात्र, कुछ ऐसा महसूस कर रहे थे कि वे, बूढ़े के संतुष्ट मुद्रा वाले छोटे से चेहरे पर बाज की-सी कत्थई रंग की आँखों की गहराई में असीम निराशा का प्रतिबिंब झाँक रहा है।

बृहस्पतिवार व शुक्रवार को साहित्य के छात्र को केन्द्र में रखकर तीनों ने प्रयास कर हारे हुए अंक फिर से प्राप्त करने की चेष्टा की। और उन्होंने दो दिन के मेहमान उस वृद्ध को २० वीं सदी की शैली में, स्वर्ग के लिए निमंत्रण वाला आनन्दमय चित्र खींचकर दिखाना चाहा। लेकिन भलाई की जितनी भी सेवा वे करते, आश्चर्यजनक रूप से निराशापूर्ण गहरा खड्ड वृद्ध के सामने आ जाता था जिससे तीनों घबड़ाकर निराशा की चपेट में आ जाते। यह सोचकर कि वृद्ध को कितना सदमा पहुँचा होगा, विज्ञान के छात्र व छात्रा भी साहित्य के छात्र से बढ़कर प्रयास किये बिना न रह सके कि किसी तरह अब तक की कमी को पूरा करने का उपाय सोच निकाला जाय। अतः ये दोनों भी अपने मस्तिष्क से आदर्श लोक का धुंधला-सा रूप जबरदस्ती चेतना की सतह तक खींच निकाल कर उसे अपने ही वर्तमान जीवन के चित्रण के तौर पर वृद्ध के कान में धीरे से कहकर देखने को तत्पर हुए। लेकिन चित्रण के वे शब्द भी वृद्ध के फटे व धीमे स्वर में किये जाने वाले पुनः प्रश्न का जवाब देते समय झट से चरमराकर ढहने लग जाते थे और पूरी तरह उलटा प्रभाव पड़ने लगता था। प्रति दिन आधे घंटे की भेंट के बाद गोदाम की संरचना में निर्मित मकान में पलंग पर पड़े-पड़े छोड़े जाने वाले वृद्ध की बात तो खैर छोड़िये, मगर तीनों अंशकालिक नौकरी वाले छात्र, थकान से चूर-चूर होकर अंधकारमय व उद्विग्न असमर्थता का शिकार हो जाते। इतना ही नहीं विक्षोभ से भी आसानी से मुक्त नहीं हो पाते थे।

उदाहरण के तौर पर शुक्रवार को हुई बातचीत का अंतिम भाग कुछ ऐसा रहा। वृद्ध ने प्रश्न किया कि आज का युवा वर्ग, राजनीतिक दृष्टि से कैसा है। "दस वर्ष पूर्व की तुलना में खास परिवर्तन नहीं हुआ कहा जा सकेगा। वामपंथी लोग भी हैं, रूढ़िवादी भी। लेकिन दस वर्ष पूर्व की भाँति तो रक्तरंजित वारदातें नहीं होतीं। संक्षेप में हमने राजनीतिक स्थिति को लाँघ कर संजीदगी पूर्ण मैत्री भावना का पुनरुत्थान किया।" उत्तर में विज्ञान के छात्र ने कहा। विज्ञान के छात्र ने इसी कारण झट से उत्तर दिया क्योंकि दिन-ब-दिन साहित्य का छात्र, मौन धारण करने लग गया था और अग्रणी बन कर उत्तर देना भी छोड़ने लग गया था। फिर विज्ञान के छात्र ने स्वयं भी आरंभिक व्यंग्यात्मक रवैया छोड़ दिया और वह इस कोशिश में रहा कि बूढ़े के जीवन के अंतिम दिनों के लिए अब तक की, अपने व्यवहार में आयी कमी दूर कर नये सिरे से अंक कमाने का प्रयास किया जाए।

"लेकिन यह बात थी न कि चीन, सोवियत संघ और अमरीका को भी भय वाले संतुलन की पक्की बंद गली में फँसा दिया गया है। तब तो जापानी युवक-युवतियाँ भी चाहे वे वामपंथी

विचारों के क्यों न हों, रूढ़िवादी चिरंजीवी सरकार के अधीन सिर उठा नहीं पा रहे। क्यों? संजीदगीपूर्ण मैत्री भावना नहीं, बल्कि उन्होंने सामने आकर लड़ने का जोश खो तो नहीं दिया? यानी वे गये बीते तो नहीं?"

"जी नहीं, चाहे वे देखने में गये बीते और निष्क्रिय होकर लड़ना भूल गये, वह सतही बात मात्र है।" विज्ञान का छात्र, हड़बड़ा कर बीच में बोल पड़ा।

"अच्छा तब तो क्या व्यक्तिगत स्तर का युद्ध चलता है जिस प्रकार कि पहले बताया गया। दबाये हुये क्रोध का कभी विस्फोट होगा और विश्वविद्यालय के छात्रों व पुलिस के जवानों के बीच सचमुच रक्तरंजित भिड़ंत होने की स्थिति साकार रूप ले सकती है, क्यों? आपको इस बात का आभास होता है?"

"जी नहीं, हमें बहुत ही उज्ज्वल भविष्य के आगमन का आभास होता है।" विज्ञान के छात्र ने बनावटी घमंड के साथ ऊँचे स्वर में जिसमें निष्ठा नहीं, अभागेपन की झलक थी, कहा।

"हाँ हाँ, कल तो आप लोग आखिरी दिन के लिए आ रहे हैं। मैं जानना चाहूँगा कि २१वीं शताब्दी से आप लोगों की क्या-क्या आशाएँ हैं, इस पर आप कुछ बताएँगे। मैं बहुत जल्दी मर जाऊँगा शायद, लेकिन आप लोग २१वीं सदी में कदम रखेंगे। और आप अपने भविष्य का खाका खींच सकेंगे। बहुत ही उज्ज्वल भविष्य का जो आभास आप को हो रहा है, वही बता दें। मैं इंतज़ार में रहूँगा।" वृद्ध ने यह कहकर आँखें मूंद लीं।

गोदाम की संरचना वाले पृथक मकान के बाहर निकल कर साहित्य का छात्र, अन्य दो छात्रों से कुछ इंतज़ार करने को कहकर, समय बताने आयी नर्स के साथ धीमे स्वर में बातें करते हुए अहाते के फाटक की ओर चला गया। विज्ञान का छात्र व छात्रा, क्षोभ व विषाद से मौन खड़े थे। उन्हें मानो प्राथमिक विद्यालय में दाखिला पाने के बाद से पहली बार कठिन से कठिन होमवर्क दिया गया। तेज प्रकाश में वे प्रायः आँखें बंद किये, पसीने की दुर्गंध महसूस कर रहे थे। थोड़ी देर में साहित्य का छात्र दौड़ कर वापस आया। उसके गाल अजीब तरह से लाल व गरम नज़र आ रहे थे और आँखों में जघन्य-सा भाव झलक रहा था। जब तीनों पिछवाड़े के द्वार से बाहर आये तब साहित्य के छात्र के दहाड़ने जैसी आवाज़ आयी मानो वह रोब जमाना चाहता है। "मैं कल यहाँ नहीं आऊँगा। मैं पाँच दिन का पारिश्रमिक प्राप्त कर चुका हूँ।"

विज्ञान का छात्र व छात्रा किंकर्तव्यविमूढ़ मुद्रा में साहित्य के छात्र को देखते रहे।

"बड़े निष्ठुर हो तुम। आदर्श लोक वाले झूठ का प्रचार तो तुम्हारे ही आविष्कार की देन है। और अभी भागने जा रहे हो। डरपोक कहीं का। हमें सबसे उलझा हुआ कल का काम थोप कर जा रहे हो तुम।" विज्ञान का छात्र साहित्य के छात्र के समीप तक डग मार कर चिल्लाया। उसका मुँह गुस्से में लाल और शरीर काँप रहा था।

साहित्य का छात्र भी काँप रहा था। स्पष्ट है कि वह अंदर ही अंदर शर्म महसूस कर रहा था। यही कारण है कि विज्ञान का छात्र, साहित्य के छात्र को घूँसा जमाने से किसी तरह रह गया।

"मुझे डर लगता है कि मैं उस बूढ़े को दुर्भाग्यपूर्ण भ्रम के गर्त में आखिरी हद तक डुबो दूँगा। फिर मैं शुरू से ही निराशवादी रहा हूँ फिर भी अपने भविष्य का चित्रण आज की भाँति अंधकारमय व मनहूस कभी नहीं किया। मैं समझता हूँ कि इस सब पर उस बूढ़े के साथ की निष्ठुर बातचीत का प्रभाव पड़ा है। मैंने कभी नहीं सोचा था कि ऐसा परिणाम निकलेगा।"

साहित्य के छात्र ने दोनों छात्रों को देखते हुए अपील की। आँखें मानो भय खा रही थीं और कुछ छलक आ रहा था।

"यदि हम सच्चाई उगाल दें कि आज तक की सारी बातें कल्पना लोक की थी तो कैसा रहे। और आज की वास्तविक स्थिति की चर्चा क्यों न करें?" छात्रा ने कहा।

"नहीं, नहीं, वैसा करने पर उस बूढ़े को कितना सदमा पहुँचेगा और मर जाएगा। देखो न वह बूढ़ा कैसा है। पूरी तरह सोचकर हमने आदर्शलोक का निर्माण किया। वह बात सुनकर उसने कितनी शीघ्रता के साथ भिन्न-भिन्न नरक निकालकर दिखाए। सोचो तो एक माँ जो थी, उसने अपने बाँहें विहीन थालिडोमाइड बच्चे को मार डाला था। मगर उसे सजा नहीं हुई। कैंसर के अस्पतालों में तो कभी खाली पलंग नही मिल रहा। लावस में युद्ध जारी है। ये सब ढेर सारी बातें सुनकर वह बूढ़ा ठीक रहेगा? कहीं दिल का दौरा पड़ गया तो?" साहित्य के छात्र ने मानो आतंकित स्वर में तीव्रता के साथ कहा।

"यदि हमने वे सब बातें वापस न लीं तो वह बूढ़ा आज के वर्तमान रूप को मस्तिष्क में ऐसे खड़ा करेगा जैसे कि गिजा क्षेत्र में बाँहें विहीन थालिडोमाइड नवयुवक, नवयुवतियाँ बड़ी संख्या में चहलकदमी करते हैं, और पृथ्वी पर लोग व्यक्तिगत क्रोध के कारण युद्ध लड़ते रहते हैं। वह बूढ़ा आखिर निराश होकर मर ही जाएगा।" छात्रा ने विवश होकर जवाब दिया।

मरम्मत के लिए खोदी गई सड़क पर से गीली मिट्टी गर्म चक्रवात में उड़कर तीनों छात्रों के ऊपर निर्दयता के साथ गिरती जा रही थी। भारी आवाज के साथ चलते आ रहे बुलडोज़र के युवा चालक ने मूर्खतापूर्ण मगर प्रसन्न आँखों से ऊँची सीट पर से विषाद और चिन्ता की गहराई में डूबे हुए तीन छात्रों को कुछ इस प्रकार देखा मानो वह अनोखी चीज देख रहा है।

"आह, मैंने उस बूढ़े से क्या कह डाला, वह तो मरने ही वाला है।" साहित्य के छात्र ने कराह कर कहा। मिट्टी के छोटे-छोटे टुकड़े गालों पर जो सूख गए थे वहीं से आँसू, काले बूँद बनकर टपक पड़े। "मुझे नीच नहीं समझना कि मैं कल विमुख हो रहा हूँ। मुझे डर लगता है। मेरे ही पारिश्रमिक से तुम दोनों भी कुछ खाकर जाओ न।"

"नहीं हरगिज नहीं।" छात्रा, मानो उसे हिस्टीरिया का दौरा पड़ गया हो चिल्लाते हुए पीछे खिसक गयी।

विज्ञान के छात्र ने भी साहित्य के छात्र की विनती करती-सी आँखो से सिर हिलाकर इन्कार कर दिया और वह किसे सुना रहे हैं, यह परवाह किए बिना उदास भाव से कहने लगा, "दोष इस बूढ़े का है। ९० वर्ष की आयु को पार कर वह अचानक क्यों बाहर की दुनिया में एक बार फिर रुचि रखने लगा? वैसा नहीं किया होता तो वह अंधेरे शांत कमरे में निश्चिन्त होकर शांति से मर सकता था। संभवतः इस दुनिया के सर्वाधिक सुखी वृद्ध के रूप में मर सकता था। आखिर दोष उस बूढ़े का है।"

शनिवार को अन्य दिनों की तुलना में एक घंटा देर से—तब तक वह छात्रों की प्रतीक्षा में रही—उस नर्स ने अकेली धुंधले कमरे में जहाँ वह वृद्ध इन्तज़ार में है, प्रवेष किया। नर्स में वह स्फूर्ति नही थी जो छात्रों की अगुवाई करते समय मौजूद रहती थी। वह मानो ऊब गयी है। उसके व्यवहार में आलस्य झलकता था। "आखिर छात्र लोग नहीं आये। शेष पारिश्रमिक तो विश्वविद्यालय के पते पर डाक से भेजना होगा।" नर्स ने वृद्ध को सूचित किया।

वृद्ध ने पलंग पर से नंगा व दुबला पतला शरीर उठाया। वह भी अत्यन्त असंतुष्ट

दिखाई दे रहा था।

"फिर यही बात।" वृद्ध ने उत्तेजित होकर बार-बार कहा।

"आप तो छात्रों को ज्यादा तंग करते हैं। अपनी आयु की बात भी तो सोचिए।" नर्स ने आँखें निकाल कर वृद्ध से कहा।

वृद्ध, उत्तर दिए बिना बंदर की भाँति फुरती के साथ पलंग के उस पार खड़ा हो गया। और अंगूर के रंग का पर्दा झट से हटाया। उस तरफ आरम्भिक ग्रीष्म के मध्याह्न का सूर्य प्रकाश प्रतिबिम्बित करती हुई दूब और दूब से सटकर चमकता-सा अतिआधुनिक कमरा दिखाई दिया। कमरा भरा पड़ा था। टेलिविजन सैट, स्टीरियो सैट, फिर टेबल है। टेबल पर समाचार पत्र, साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ, कई प्रकार की नई प्रकाशित पुस्तकें आदि हैं। जैसे भी हो, यह स्पष्ट है कि वृद्ध की रुचि, फरनीचर आदि से कमरा भरने में है।

वृद्ध ने टेलीविजन का बटन दबाया और पर्दे के उभर आने तक का समय बेकार न जाने दिया जाय, कुछ ऐसे उतावलेपन के साथ उसने नवीनतम शैली की वृद्धों की कसरत आरम्भ कर दी। छोटे मगर कसे हुए शरीर को उसने बंदर की भाँति फुरती के साथ तेजी से घुमाया-फिराया और मरोड़कर भी देखा। जब गरदन घुमाने वाली कसरत आरम्भ हुई तो वृद्ध नर्स की ओर देखकर बर्बरता के साथ चिल्लाया।

"दुत तेरे। आजकल के विश्वविद्यालय के छात्रों में कल्पना शक्ति का अभाव बहुत खलता है। हद हो गयी रे। अबकी बार और कम आयु वालों को बुलाकर देखें क्या। नई नवेली फैशन वाले आधुनिक व आधुनिकाएँ कैसे होंगे?"

मूल जापानी से अनुवाद : मिवाको कोईज़ुका

हिन्दी भारत की अमर वाणी है,
यह स्वतंत्रता और सम्प्रभुता की गरिमा है।
—माखनलाल चतुर्वेदी

कला

यथार्थ-अयथार्थ के मध्य हुसेन

□ आनन्दकुमार अग्रवाल

भारतीय समकालीन आधुनिक चित्रकारों में **मकबूल फिदा हुसेन** सबसे अधिक पहचाने जाते हैं। हुसेन की कल्पना शक्ति में एक अद्भुत ताक़त है और उनका व्यक्तित्व इस ताक़त से भरा पड़ा है। ३५ वर्ष की उम्र में जब उन्हें ख्याति मिलनी प्रारम्भ हुई तो उनके सामने जो दो रास्ते थे उन्हें हुसेन ने नहीं पकड़ा। वे थे कि अपने साथी चित्रकारों रजा और सूजा की तरह वह यूरोप जायें अथवा पाकिस्तान। आज यह तीनों ही चित्रकार भारतीय कला के प्रमुख स्तंभ हैं।

भारतीय जीवन से अगर सही रूप में कोई कलाकार सबसे अधिक जुड़ा है, तो वह निर्विवाद रूप से हुसेन हैं। हुसेन की कला-दुनिया विस्तृत है, उसमें आम भारतीय जीवन के सपने और संघर्ष हैं। सौन्दर्य से सत्य तक, आदर्शवाद से यथार्थ तक, शान्त से प्राणवन्तता तक, कला-शास्त्रीय मूल्यों के पुर्नमूल्यांकन में प्रभाववाद से आरम्भ कर समस्त आन्दोलन प्रयोगात्मक सक्रियता के रूप में उलझा हुआ है और मक़बूल फिदा हुसेन के अथक प्रयास से यह उलझा हुआ कला का रूप नये रूप में सक्रिय होकर हमारे समाने आया।

हुसेन के अनुसार—"पहले कला पर आर्थिक, राजनीतिक की अपेक्षा धर्म का प्रभाव अधिक था, अब राजनीतिक का। आज हमारी जिंदगी का एक-एक मिनट राजनीति से जुड़ा है। यह राजनीतिक ताक़त भ्रष्ट करने वाली है धर्म ने कला को मदद दी थी। उससे कलाकार का विश्वास बना रहा। वह अपनी कला में पूर्णता पाने की कोशिश करता रहा। आज निजीपन पर अत्यधिक जोर है इससे हमारी कला में निरन्तरता नहीं रह गई है।"

तकनीक के प्रश्न पर हुसेन ने कहा, "साठ के दशक में कई तरह के आंदोलन सामने आये थे। कला, कविता—सभी में एक नया दौर आया। मैक्लूहन का वह नारा 'माध्यम ही सन्देश है' सामने आया। जहाँ तक इस तरह के अनुभव का प्रश्न है, मैं यह कहूँगा कि सब बेकार नहीं था। उन आन्दोलनों की अच्छी चीजों को लेकर उनमें कुछ जोड़ा जा सकता है। आज तकनीक का युग है। जब विज्ञान दूसरे ग्रहों पर पहुँच रहा है तब कला क्यों पीछे रहे!"

हुसेन के सबसे महत्त्वपूर्ण काम पचास के दशक के नजर आते हैं। १९५८ का का चित्र "लैंप और मकड़ी के बीच" बीसवीं शताब्दी की भारतीय कला के इतिहास में ऐसा सादा और

उपर्युक्त चित्र श्री मकबूल फिदा हुसेन का है जिसे स्वयं उन्होंने रेखांकित किया है।

प्रभावपूर्ण चित्र खोजना मुश्किल है। इस समय के चित्रों में मानव, जमीन, आसमान, अक्षर, प्रतीक चिन्ह और रंग सभी इतनी सहजता और सादगी से उभरते हैं कि जैसे कलाकार को कोई कोशिश ही नहीं करनी पड़ी।

हुसेन ने भारतीय जिंदगी को उसकी विविधता, गरीबी और यथार्थ से अयथार्थ में कुछ इस तरह से एक लम्बे समय तक देखा है कि अचानक जो मिल जाता है उसके पीछे भी बहुत कुछ होता है। यही वजह है कि सत्तर के दशक में आकार जब यह लगने लगा कि हुसेन अब अपने हाथी-घोड़े और चेहरे बनाते-बनाते शायद थक चुके हैं, तो अचानक हुसेन अपना कैमरा और रंगीन फ़िल्में लेकर दक्षिण की सड़कों पर पहुँच गये। इन सड़कों की फ़िल्मी संस्कृति से हुसेन जो चीजें लाये उनमें एक नया कोण और नई दृष्टि थी। कलाकार के रूप में प्रसिद्ध होने से पहले हुसेन ने स्वयं कई फ़िल्मी पोस्टर तैयार किये थे। मगर उन फ़िल्मी पोस्टरों पर हुसेन के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं होता था।

हुसेन का जन्म १९१५ में शोलापुर, महाराष्ट्र में एक गरीब सुलेमानी बोहरा परिवार में हुआ। जब हुसेन तीन चार महीने के ही थे तभी आपकी माता का निधन हो गया। बचपन इंदौर में गुजरा। जब हुसेन ६ वर्ष के ही थे आपके पिताजी भी आपका साथ छोड़ गये। और हुसेन सिद्धपुर, गुजरात में नाना के घर आ गये। यहाँ पर हुसेन का लालन-पालन हुआ, धार्मिक संस्कार मिले जिन्होंने आपके जीवन-विकास पर महत्त्वपूर्ण असर डाला। भाषा धर्म, साहित्य, सुलेखन (कैलीग्राफी) आदि की निर्णायक पृष्ठभूमि हुसेन को यहीं मिली। छोटी उम्र में ही 'हया' नाम से शायरी भी शुरू कर दी थी।

हुसेन की कला के विकास और उसकी बुनियादी रूप में हिंदू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों की विशिष्ट भूमिका रही। १७ साल की आयु में एक कला प्रदर्शनी में हुसेन को स्वर्ण पदक मिला। सायंकालीन कक्षाओं में कला की शिक्षा इंदौर से लेकर जे० जे० स्कूल बंबई में प्रवेश हेतु गये लेकिन परिस्थिति बस उन्हें पुनः इन्दौर वापिस आना पड़ा। सन् १९३७ में ग्रांट रोड (उन दिनों दल्लों और वेश्याओं का स्थान था) बम्बई के एक तंग इलाके के कमरे में सिनेमा के पोस्टर बनाकर खुद अपने पैरों पर खड़े होकर पढ़ते तथा एक कलाकार की ज़िंदगी जीने की कोशिश करने लगे।

सन् १९४१ में खिलौनों और फर्नीचर डिजाइनर के रूप में चर्चित होने लगे। १९४७ में आपके चित्रों की प्रथम प्रदर्शनी बम्बई में आयोजित हुई और इसी के साथ प्रोगेसिव आर्टिस्ट ग्रुप से संबंध जुड़ गया। और यहाँ से ही वास्तविक कलाकार का जीवन प्रारम्भ हुआ। हुसेन ने बहुत जल्दी ही स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कला में एक ऐसी जगह बना ली जहाँ बहुत थोड़े से कलाकार उनकी बराबरी के थे। हुसेन ने पश्चिम में जाकर बसने के बजाय नेहरू युग और पंचवर्षीय योजनाओं के भारत में अपने कलाकार की शक्ति को जानने की कोशिश की।

सिनेमा का हुसेन की कल्पना शक्ति से बहुत शुरू से ही सम्बंध बन गये थे। नई दिल्ली में जब हुसेन के काम की पुनरावलोकन प्रदर्शनी रवीन्द्र भवन की दीर्घाओं में हुई तो हुसेन ने एक बातचीत में कहा कि अब मैं यूरोप जाता हूँ तो अपना समय कला दीर्घाओं में न बिता कर सिनेमाघरों, रंगमंच, संगीत समारोहों की दुनिया में भटकता हूँ। मेरी कला में फ़िल्म का बहुत अधिक प्रभाव है। मैं क़रीब १२ छोटी फ़िल्में बना चुका हूँ। मैं अपने बारे में कहता भी हूँ कि घोड़े बेचता हूँ, फ़िल्में बनाता हूँ। बड़ी इच्छा है मन में कि डेढ़ घंटे की लम्बी एक फ़िल्म अपने ढंग से बनाऊं!

भारत की स्वतंत्रता के प्रथम वर्ष १९५७ में बम्बई आर्ट सोसाइटी की वार्षिक प्रदर्शनी में पुरस्कृत होने के बाद हुसेन, सूजा, रजा जैसे कलाकारों के नजदीक आये। सूजा की तरह हुसेन अधिक बोलने वाले और बौद्धिक नहीं थे। ३५ वर्ष की अवस्था में सन् १९५० में अपनी प्रथम एक प्रदर्शनी आयोजित की। अब हुसेन को एक माहौल मिला जहाँ उनकी प्रतिष्ठा और प्रतिभा को अपेक्षाकृत आसानी से आगे बढ़ने का मौका मिला। १९५३ में यूरोप जाकर अपने चित्रों की विभिन्न गैलरियों में प्रर्दशनियाँ की जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई !

सन् १९५४ में आप ललित कला अकादमी, नई-दिल्ली के सदस्य चुने गये। और १९५५ में पहला राष्ट्रीय पुरस्कार, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली से मिला। इसके बाद से राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों और सम्मानों का लम्बा सिलासिला जारी है।

१९५६ में यूरोप तथा अन्य स्थानों पर एकल प्रदर्शनियाँ आयोजित की गईं। १९५७ में एयर इन्डिया इन्टरनैशनल हांगकाग, बैंकाकॉक, जूरिच, परागुए पर म्यूरल बनाये। सन् १९५६ से १९७१ तक भारत तथा विश्व में आपके चित्रों की प्रदर्शनियाँ होती रहीं। सन् १९७१ में 'एन आर्ट बुक ऑन हुसेन' ५० रंगीन तथा १५० काली-सफेद चित्रों की पुस्तक न्यूयार्क यू. एस. ए से प्रकाशित हुई ! सन् १९७३ में भारत सरकार ने पदम भूषण से सम्मानित किया।

प्रारम्भिक जीवन में आर्थिक संघर्ष और दिक्कतें थीं, तो साठ के दशक से हुसेन के लिए पैसा एक मज़ाक-सा बनने लगा। जो सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध होती गईं, उनके बंधनों में उन्होंने कभी स्वयं को जकड़ने नहीं दिया। कार का शौक हुआ दो-दो कारें खरीद लीं, महीने में दो तीन बार हवाई जहाज से यात्रा करते। धन को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया। अपनी कमजोरियों और सीमाओं को भी छिपाने की कभी कोशिश नहीं करते। वे 'इंटेलेक्चुअल' से बहुत घबड़ाते हैं, कला संम्बन्धी बहसों और झगड़ों में भी वे कभी भाग नहीं लेते।

हुसेन के चित्रों में विविध्रता है। पश्चिमी कला (विशेषतौर पर अभिव्यंजनावादी) से भी सीखते इसमें **पिकासो** प्रमुख हैं। दूसरी तरफ **अमृताशेरगिल**, जार्जकीट, लघु चित्र, हिन्दू-मुसलिम धार्मिक सामाजिक सरोकार व लोक जीवन की विस्तृत धारा है। इन स्त्रोतों से हुसेन ने बार-बार प्रेरणा ली है। '४७ का 'चाक पर काम करता कुम्हार' '५० का 'किसान जोड़ा' इसके बाद लोक जीवन को उन्होंने प्रेरणा स्त्रोत बनाया। '५७ का 'दो स्त्रियों का संवाद,' '५८ का, 'मकड़ी और लैंप,' 'दुपट्टों में तीन औरतें,' '५९ का 'नीली रात,' 'घोड़ा' आदि सर्वश्रेष्ठ चित्र हैं। बाद में हुसेन ने रागमाला, नृत्य, महाभारत, रामायण, बनारस, कश्मीर, राजस्थान आदि अनेक शृंखलाओं को अपनी कला का माध्यम बनाया। १९६० के बाद नृत्य, संगीत, घोड़े, चंद्रमा पर मनुष्य का पहुँचना, महात्मा गाँधी, आपत्काल, मदर टेरेसा आदि विषयों को भी चुना।

दोहराव की बात पर हुसेन कहते हैं कि यह ठीक है कि मैं अपने को दोहराता हूँ। अमूर्त कला-आप सभी जगह यह दोहराव पायेंगे ! मैं जब अपनी कला में कुछ नई चीजें, कुछ बातों को दोहराता हूँ तो मेरा मक़सद अपनी कला के खास तत्त्वों पर जोर देना होता है !

हुसेन ने प्राकृतिक चित्र, ग्राम जीवन व जन सामान्य के चित्र 'रचे', जिनमें नारी का शारीरिक सौन्दर्य बड़ी सुघड़ता से दर्शाया है। हुसेन एक स्वतन्त्र विचार वाले अभिव्यंजनावादी व प्रभाववादी कलाकार हैं। वे रुढ़िवादी कलाकार नहीं हैं जो भी आधुनिकतम प्रगति कला ने की है वे सबका पूर्णतया समर्थन करते हैं और सदा ही नवीनतम खोजों पर आधारित शैलियों का प्रयोग करने में हर्ष अनुभव करते हैं। हुसेन ने पाश्चात्य कला के जामें से भारतीय संस्कृति को एक नवीनतम सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत किया है।

आनन्द देव

□ आनन्द कुमार अग्रवाल

मानव स्वयं में कम विचित्र नहीं होता पर जब विकट परिस्थितियाँ उसके सामने चुनौतियाँ लेकर उपस्थित होती हैं तो परिणाम और भी दारुण होकर उभरने लगते हैं। इन्हीं प्रत्याक्षित परिस्थितियाँ एवं अप्रत्याक्षित परिणामों में आनन्द देव ने बड़ी कुशलता से राजनैतिक, सामाजिक एवं कला के क्षेत्र में कार्य किया है। अदम्य साहसी व्यक्ति के सम्मुख बड़ी से बड़ी कठिनाई भी घुटने टेक देती है। और आनन्द देव इसी से प्रेरित होकर हर मुसीबत को घुटने टेकने पर मजबूर कर देते हैं। तथा हर पल नये विचार एवं नई रोशनी के साथ भाव व्यक्त करने में सुख अनुभव करते हैं, हर उभरता कलाकार उनके नजदीक पहुँचने का प्रयास करता है। क्योंकि हर कलाकार के प्रति आपके मन में अथाह प्रेम है।

जीवन के हर मोड़ पर मानव को प्यार, हमसफर और सहायता की आवश्यकता होती है। यौवन की दहलीज पर उसे विशेष अनुभूति का अहसास होता है जो उसके जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्य क्षण होते हैं। ऐसे में आनन्द देव एक मार्ग दर्शक बनकर सामने खड़े हो जाते है। कोई भी कलाकार या सामान्य व्यक्ति अपनी कोई समस्या लेकर आनन्द देव के पास आता है तो वह उसकी समस्या का समाधान बड़ी सरल भाषा से कर देते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उस कलाकार या उस व्यक्ति की उन्नति का मार्ग दर्शन कराकर सौन्दर्य बोध एवं कलात्मक ज्ञान भी प्रदान करते हैं।

कला और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। कला मानव जीवन और राष्ट्र जीवन को चेतना, शक्ति और प्रेरणा प्रदान करती है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार साहित्य कला राष्ट्रीय कला के अति उत्तम प्रतीक है। आनन्द देव की कला जन-जीवन से उत्साह पाती है और उसे प्राणवन्त करती है। आनन्द देव की कला आदर्शवादी सांकेतिक, रहस्यमयी, सौन्दर्यात्मक पूर्णता से परिपूर्ण है। सांकेतिक एवं रहस्यमय चित्रण कलाकार की स्वच्छ मनोवृति का कारण है। इससे नवीनता, विशिष्टता, रंगों में स्वच्छता, नव-प्रेरणा, नव-आकांक्षा एवं नव-जागृति और रेखाओं में गति मिलती है।

प्रेम मनुष्य पर सृष्टि कर्ता का सबसे बड़ा हाथ है। यह अथाह प्रेम मनुष्य की हृदय वीणा को बाहर छोड़कर नित्य नवीन रूप में दिखता है। इसी से ही कल्पना का जन्म होता है। इस अपूर्व प्रेम धारा से प्रेरित होकर आनन्द देव अपनी कुशलता से ओतप्रोत होकर नवीन

रूप की चित्र शैली में मिलते हैं। नवीन रूप और रस की आनन्दानुभूति को जानने के लिए आनन्द देव के प्रारम्भिक जीवन को देखना पड़ेगा।

सन् १९३३ में दिल्ली में जन्मे आनन्द देव कला के क्षेत्र में माता यमुना देवी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावनाओं से प्रभावित होकर बढ़े। आपकी कला प्रतिभा से प्रभावित होकर श्री शैलोज मुखर्जी ने आपको कॉलिज ऑफ आर्ट दिल्ली में प्रवेश की प्रेरणा प्रदान कर प्रवेश दिलवाया। इस कॉलिज से सन् १९६१ में आपने ललित कला में डिप्लोमा प्राप्त किया। अपने अध्यापन के समय में आनन्द देव ने अपने चित्रों तथा व्यक्तिगत माध्यम से यह सिद्ध कर दिया कि यह दीपक स्वयं को ही प्रकाशमय न कर वरन् सारे कला समाज को एवं सम्पूर्ण कला जगत में एक नई रोशनी का समावेश करेगा। और यह कार्य आपने सन् १९६१ से १९६३ और ६४ में ऑल इण्डिया फाईन आर्टस एण्ड क्राफ्ट सोसायटी के प्रदर्शनी स्थल में अपने चित्रों की प्रदर्शनी कर अपनी कला प्रतिभा और समाज को नये विचारों से अवगत कराया। सन् १९६३ में बम्बई में ही आपके चित्रों को एक चुनौती मिली। १९६५ और १९६६ में आपके दिल्ली शिल्पीचक्रा, दिल्ली में, १९६५ में जहाँगीर आर्ट गैलरी, बम्बई में १९६८ में श्री धरणी आर्ट गैलरी, नई दिल्ली में तथा ताज आर्ट गैलरी, बम्बई में समय की सारी चुनौतियों को स्वीकार कर कला के नये आयमों को बनाते हुए उनमें सरल एवं स्वाभाविक रूप प्रदान किया। कला के क्षेत्र में आपके बढ़ते चरणों को देखकर दिल्ली शिक्षा विभाग में कला अध्यापक के पद पर आपकी नियुक्ति हुई। नन्हें बच्चों में कला की प्रतिभा को जागृत करने की जिम्मेदारी आपने सहर्ष स्वीकार ली। १९६८ में बच्चों की कला प्रदर्शनी का आयोजन आपने किया। जिसकी काफी चर्चा हुई थी।

२७ दिसम्बर, १९७० को इण्डियन एक्सप्रेस दिल्ली में श्री आरा के साथ आनन्द देव के चित्र प्रकाशित किये गये। 'संगीत की आत्मा' पर ऑल इण्डिया फाईन आर्टस एण्ड क्राफ्टस सोसायटी विभाग द्वारा आयोजित प्रदर्शनी से आपकी कला की जबरदस्त सराहना की गई।

सन् १९७२ और १९७५ में दिल्ली आर्ट टीचंस द्वारा १९७२ में वेनटुरा आर्ट गैलरी, दिल्ली से लेकर आज तक आपके चित्र भारत के विभिन्न नगरों उपनगरों से होते हुए संसार के चित्र पटल पर अपनी छाप छोड़ रहे हैं। देश-विदेशों में कला यात्रा होने के कारण आपका कला ज्ञान दिन प्रतिदिन अग्रसर होने लगा।

कला के क्षेत्र में ही नहीं वरन् कविता के क्षेत्र में भी अपनी कमियों को स्वयं बताना और मानना स्पष्टवादिता का प्रमाण है। आनन्द देव कहते है—"मेरी भाषा तो रंगों और रेखाओं की भाषा रही है, मुझे समझना हो तो मेरे चित्रों को देखो और कला जगत की गहराईयों में झाँको।"

नवीन दिशाओं की खोज में आनन्द देव ने श्री शैलो मुखर्जी और बी० सी० सान्याल का निर्देशन प्राप्त कर अपनी कला को आपने नया मोड़ दिया। आपने पाश्चात्य तकनीक का प्रयोग नवीन प्रयोगों के आधार पर कर भारतीय कला आत्मा से समन्वय किया, जिसे शिल्पी चक्रा, आईफेक्स में खुली प्रदर्शनी, अशोक होटल, कला संगम आदि स्थानों पर प्रदर्शित चित्रों का कलाकारों, कला आलोचकों तथा समाज ने जी भर कर आनन्द लिया और कला जगत में आनन्द देव सिर्फ़ आनन्द के नाम से जाने लगे। डॉ० चाल्स, के० के० नयार, मलिक आदि ने जी भरकर इस चित्रकला आन्दोलन की चर्चा एवं सराहना की।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, दिल्ली के लिए जब राम किंकर, महा शिल्प तैयार कर रहे

थे उस समय आनन्द बराबर उनके पास जाते थे। आनन्द के स्वतन्त्र विचारों को किंकर जी बड़ ध्यान से सुनते थे। अकेलेपन में भी आप कभी नहीं घबराए। सन् १९६५ में अमृतसर में अयरी इच्छो गिल तक सैनिकों की सेवा करते हुए आपको देखा गया। और यही पर बनाए गए रेखा-चित्र कला समाज में तथा हिन्दुस्तान साप्ताहिक में मुख्य रूप से छपे। डॉ०सचिदानन्द वात्सायन की कविताओं के साथ इन रेखाचित्रों को दिनमान में छापा गया। अज्ञेय की अपनी कविता संग्रह 'कितनी नावों में कितनी बार' का मुख्य पृष्ठ बनाया। खाना बदोश बच्चों के चित्रों को मध्यवर्ग द्वारा स्वीकार करा कर उनकी आर्थिक सहायता करना इनके जीवन का अंग बन गया।

अब आता है बम्बई का पंचतारा जीवन जहाँ आपने जहाँगीर आर्ट्स गैलरी छोड़कर ताजमहल होटल स्वीकार कर हर वर्ष चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन करने लगे। धन का मोह आपको अच्छा नहीं लगा। प्रथम कला बिनाले को लेकर जहाँ बर्मा-कर्मा-आनन्द देव को देखते थे वहाँ चर्चा कला सम्बन्धी विचारों की होती थी। प्रथम चुनाव में ही भारत से चयन १५ कलाकारों में आपका नाम था। आपके द्वारा लाया गया परिवर्तन किसी एक वर्ग को पसन्द नहीं है वरन देश-विदेश के कलाकारों को प्रोत्साहित कर कला कार्यों को आगे बढ़ाने का कार्य आपने आरम्भ किया और उनमें कई परिवर्तन भी किए। परिवर्तन को लेकर कटु आलोचना भी की गई पर आप अपने रास्ते पर खड़े रहे। इतनी बड़ी उपलब्धियों को क्या समय भुला देगा।

ललित कला अकादमी में जूझे रहते हुए आपको अपनी तूलिका उठाने का समय कम मिला था पर जितना समय मिला उसका सदुपयोग कर कला रचना प्रक्रिया में संलग्न रहे। परोपकारी की भावना आपके चित्रों के माध्यम से राष्ट्रीय प्रदर्शनी में प्रगट होने लगी। इस समय बम्बई में प्रमुख चित्र खरीदे गए 'मेरा गाँव', 'टारचर', 'साईकी' (रंग भेदनी तिपर) 'चिड़िया का उड़ना' 'रोटी', 'ज्ञान गुदड़ियाँ', 'कबीर की चादर', 'क़ैदी की बेटी', (बिसमिल की कविता पर) आदि चित्रों को देखकर लगता है कि कलाकार हर वातावरण में कला प्रक्रिया को जीवन प्रदान करने की क्षमता रखता है। अपना जीवन अर्पित करने वाली प्रक्रिया को वह कैसे भूल सकता है। आनन्द देव का एक चित्र 'देश' नामक पत्रिका में छपा जो काफी चर्चित रहा। देश-विदेशों में सामाजिक बुराई के विरोध में चित्र रचना की, जिसमें 'नारी देह' का चित्र बहुत प्रसिद्ध है। सन् १९६८ की सकल प्रदर्शनी को देखकर सांसारिक आत्मज्ञान व मानव धर्म थे। स्त्री चित्रों में स्त्री की भंगिमायें, सिंदूर का पेंच नारी, जीवन से जुड़े हुए काले रंग की रेलिंग, आशा की किरण झलकाती है तथा मोक्ष की कल्पना साकार होती है। नीले रंग की छाया जीवन धारा सी लगती है। आनन्द देव के द्वारा हिन्दी नामों के प्रयोग को लेकर सराहना के साथ-साथ कटु प्रहार भी हुए।

क्यूबा की यात्रा के दौरान आपने रेखा चित्र बनाए जिनमें सीमित रेखाओं के द्वारा वहाँ के जन जीवन, नृत्य, गायन करते हुए आगे-पीछे झूमते, नाचते-गाते स्त्री-पुरुष रेखांकित हैं। मानवता एक अँधेरे से झूमती, गाती आगे बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। सहज समझ में नहीं आता कि यह धूमिल चमक निराशा से आशा की ओर कैसे और क्यों मुड़ गई। आनन्द देव के अनुसार "कला किसी एक का धन नहीं है।" १९८६ में 'होम एन टू ए टीचर' प्रदर्शनी आपने शैलोज मुखर्जी के समय का चित्र 'स्वप्न' का प्रदर्शन किया। क्यूबा में कैदियों को कमरे में बन्द कर गैस से सजा दी जाती थी उससे जो धब्बे दीवार पर पड़ गये थे इसके माध्यम से रेखाओं द्वार' चित्र बनाए। बगीचे के दृश्य में जिसमें हिरन, तितली आदि के चित्र जवान रेखाओं तथा जवान

भावनाओं के द्वारा चित्रित किए गए हैं। आनन्द देव के अनुसार कला पर उम्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक बार उनके कार्य का अनुभव करने हेतु ललित कला अकादमी नई दिल्ली के गढ़ी कार्यशाला द्वारा संचालित उनके कक्ष में गया। उस समय रात्रि के ८ बज रहे थे। चारों ओर अँधेरे को घेरे शान्ति व्याप्त थी। हल्के से दरवाजा खोल मैं स्टूडियो में प्रवेश कर गया। आनन्द देव कैनवास पर रंग की कटोरी तथा तूलिका लेकर चित्र रचना में मस्त थे! नीले तथा बादामी रंग की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे। कैनवास और तूलिका के मध्य रंग ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे चित्रकार रंगों से सौन्दर्यानुभूति के साथ साथ आनन्द अनुभूति प्राप्त करता जा रहा हो। स्वयं ही तूलिका अपना मार्ग निर्धारित कर एक रूप धारण करती जा रही थी। चेहरे पर मासूम सी मुस्कराहट, आवाज में मिठास, भाव और रंगों की परिपक्वता अपने समय पर पूरा भरोसा, कुछ कर दिखाने की दृढ़ इच्छा, दिल्ली की धरती के सारे गुण अपने दामन में समेटे, जिस व्यक्तित्व से मेरी भेंट हुई वह आनन्द देव ही हैं। तथाकथित उस्तादों के बनाए हुए नामों के कनटोप उतार कर फेंकने वालों और एक बँधी-बँधाई डगर से हट कर चलने वालों को संसार हमेशा विस्मय से देखता है या फिर नफरत से। आनन्द देव इस लिहाज से भाग्यशाली हैं कि इनके हिस्से में प्यार ही आया और इसी भाग्य के सहारे कला जगत में आगे ही आगे नये पर नये कदम रखते जा रहे हैं।

संस्था उपलब्धि

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की गतिविधियाँ

□ कृष्ण कुमार गोस्वामी

भारत एक बहु-भाषी देश है। इसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। लेकिन व्यापक सम्प्रेषण की भाषा हिन्दी है। भारत की समूची जनसंख्या के एक तिहाई भाग की मातृभाषा हिन्दी है और हिन्दीतर प्रदेशों के तिहाई भाग की भी संपर्क भाषा यही है। इसीलिए संविधान-निर्माताओं ने संविधान के अनुच्छेद ३४३ के अन्तर्गत देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में गौरवान्वित किया। हिन्दी जहाँ अपने प्रदेशों में सामाजिक, सांस्कृतिक अस्मिता की प्रतीक है वहाँ भिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में सामाजिक, संस्कृति और सामान्य आचार-विचार की द्योतक भी है। राष्ट्रीय स्तर पर अनेकता में यह एकता की परिचायक है। इसी अन्तरभारती स्वरूप के कारण हिन्दी अपने प्रयोजनमूलक क्षेत्रों का विस्तार करती हुई अपने परिप्रेक्ष्य का संवर्धन करती जा रही है। इस बढ़ते हुए व्यापक संदर्भ में हिन्दी का दायित्व बढ़ जाने के कारण हिन्दी-भाषी क्षेत्रों तथा हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों में इसके शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य तीव्र गति से हो रहा है। इस सारस्वत कार्य में विभिन्न संस्थाएँ संलग्न हैं। इनमें एक है 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान'।

'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान' मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा और संस्कृति विभाग द्वारा स्थापित एक स्वायत्तशाषी संस्था है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ में दिए गए निर्देशों को कार्यान्वित करने के लिए १९६१ में इसकी स्थापना हुई थी। इससे पूर्व यह संस्थान आगरा में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अर्न्तगत अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय के रूप में कार्य कर रहा था। इस महाविद्यालय का उद्देश्य था हिन्दीतर-भाषी क्षेत्रों में छात्रों और अध्यापकों को हिन्दी प्रदेश में प्रशिक्षण देते हुए हिन्दी का वातावरण दिया जाए ताकि उन्हें हिन्दी का सहज प्रशिक्षण मिल सके। बाद में भारत सरकार ने इसे सरकारी संस्था के रूप में ग्रहण कर लिया जिसका संचालन केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल नामक पंजीकृत संस्था के अन्तर्गत किया गया। इस संस्थान का मुख्यालय आगरा में है और इस समय इसके अन्य केन्द्र दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग और मैसूर में हैं।

संस्थान के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं:—

1. हिन्दी अध्यापकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों को भाषा शिक्षण के संबंध में आधुनिकतम तकनीकों की जानकारी देना।
२. हिन्दीतर-भाषी भारतीयों और विदेश से आए विदेशियों को द्वितीय भाषा और विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करना।
३. हिन्दी शिक्षण की नई तकनीकों के विकास के लिए शोध कार्य करना और समुचित

शिक्षण सामग्री का निर्माण करना।

४. हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में शोध कार्य करना और अन्य भाषाओं तथा उनके साहित्य के साथ हिन्दी का तुलनात्मक अथवा व्यतिरेकी अध्ययन करना।

५. विभिन्न कार्य क्षेत्रों के अर्थात सरकारी अधिकारी, बैंक अधिकारी, नर्सों, विमानपरिचारिकाओं आदि के लिए हिन्दी का प्रयोजनमूलक प्रशिक्षण प्रदान करना।

६. अखिल भारतीय हिन्दी की सम्प्रेषणीय क्षमता विभिन्न पक्षों और भाषाओं को उजागर करने के लिए समाज-भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन कराना।

७. हिन्दी भाषा शिक्षण प्रणाली और साहित्य सम्बन्धी पुस्तकों का प्रकाशन करना।

८. विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी प्रशिक्षण के लिए विस्तार कार्य आयोजित करना।

९. हिन्दी भाषा, भाषाविज्ञान, शिक्षण प्रणाली, व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, तुलनात्मक साहित्य आदि विषयों पर संगोष्ठी, विचार गोष्ठी, सम्मेलन आदि का आयोजन करना और प्रसार-व्याख्यान दिलाने की व्यवस्था करना।

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का मुख्य कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण और अनुसंधान है लेकिन इसके साथ-साथ वह हिन्दी के प्रचार-प्रसार कार्य में भी संलग्न रहता है। संस्थान के दिल्ली और आगरा केन्द्रों में अधिकांशतः शिक्षण-प्रशिक्षण कार्य होता है।

दिल्ली केन्द्र

दिल्ली केन्द्र संस्थान का मुख्य और महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। १९७१ में इसकी स्थापना भारत सरकार के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए त्रैमासिक और द्विमासिक पाठ्यक्रमों के लिए की गई थी। इसमें सरकारी अधिकारियों को हिन्दी में प्रशासनिक काम-काज करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रारम्भ में इस पाठ्यक्रम में भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों और विभागों के उपसचिव या उससे उच्च स्तर के अधिकारी प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। लेकिन बाद में इसमें कनिष्ठ कर्मचारी भी भाग लेने लगे। अब तक संस्थान में इस प्रकार के ६५ पाठ्यक्रम संपन्न हो चुके हैं, लेकिन प्रतिभागियों की संख्या में कमी होती जा रही है।

सन् १९७२ से विदेशी छात्रों के लिए अंशकालिक और सांध्यकालीन हिंदी पाठ्यक्रम प्रारम्भ किए गए। ये पाठ्यक्रम वैज्ञानिक पद्धति से चलाए जाते थे जिससे छात्रों के हिंदी सीखने में बड़ी आसानी होती थी। इस पाठ्यक्रम की उपयोगिता को देखते हुए भारत सरकार ने 'विदेशों में हिन्दी' योजना और 'सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम' के अन्तर्गत भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर आए विदेशी छात्रों को हिन्दी पढ़ाने का कार्य इसी संस्थान को सौंप दिया। तभी से संस्थान में २४-२५ देशों से ५०-६० छात्र हर वर्ष हिन्दी सीखने आते हैं। इन देशों में मुख्य रूप से अमेरिका, सोवियत संघ, यू० के०, फ्रांस, जर्मनी, पोलैंड, चीन, जापान, कोरिया, फीजी, गियाना, सूरीनाम, ट्रिनीडाड आदि देश हैं। ये विदेशी पाठ्यक्रम चार भागों में विभक्त हैं। (१) प्रमाण-पत्र (२) डिप्लोमा (३) एडवांस्ड डिप्लोमा (४) अनुप्रयुक्त भाषा दक्षता डिप्लोमा। विदेशी छात्रों के प्रवेश लेने के बाद इनकी परीक्षा ली जाती है और फिर उन्हें विभिन्न पाठ्यक्रमों में रखा जाता है।

इन पाठ्यक्रमों में भाषा कौशल अर्थात पढ़ना, समझना, लिखना और बोलना सिखाया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य का भी परिचय दिया

जाता है। अनुप्रयुक्त भाषा दक्षता डिप्लोमा वास्तव में व्यावसायिक है जिसका डिप्लोमा प्राप्त करने के बाद विदेशी छात्र अपने देश में अध्यापक या अनुवादक या द्विभाषिया या सांस्कृतिक दूत का कार्य कर सकता है।

संस्थान के दिल्ली केन्द्र में उपर्युक्त पाठ्यक्रम दिन के समय होते हैं। भाषाविज्ञान और अनुवाद के क्षेत्र में आज काफी प्रगति हुई है। इन क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों की आज काफी माँग है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संस्थान में दो मुख्य सांध्यकालीन पाठ्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

१. पोस्ट एम० ए० अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान (हिन्दी) डिप्लोमा

२. पोस्ट एम० ए० अनुवाद सिद्धांत और व्यवहार डिप्लोमा।

इन पाठ्यक्रमों में भाषाविज्ञान और उसके अनुप्रायोगिक पक्षों का शिक्षण दिया जाता है तथा उन्हीं के आधार पर अनुवादक तथा भाषाशिक्षक तैयार किए जाते हैं। इसके साथ-साथ स्कूल तथा कॉलिज अध्यापकों को साहित्य शिक्षण का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। इन दोनों पाठ्यक्रमों की काफी सराहना हुई है।

इन नियमित पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त संस्थान का दिल्ली केन्द्र पहले भारत सरकार के कार्यालयों या उपक्रमों के साथ मिलकर प्रयोजनमूलक हिन्दी कार्यशालाओं का आयोजन करता था जिससे हिन्दी में सरकारी कामकाज करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। संस्थान में सरकार अनुवादकों के लिए भी नवीकरण पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त संस्थान केन्द्रीय विद्यालयों तथा नवोदय विद्यालयों में सेवारत अध्यापकों के लिए भी हिन्दी प्रशिक्षण का कार्य समय-समय पर करता रहता है। इसमें संस्थान के अध्यापक विशेष रूप से भाग लेते हैं। आजकल इस केन्द्र ने विदेशियों को कम्प्यूटर द्वारा हिन्दी पढ़ाने की परियोजना ली है। इस परियोजना के अन्तर्गत इलैक्ट्रोनिकी विभाग द्वारा भारत सरकार के सहयोग से साफ्टवेयर तैयार किया जा रहा है।

आगरा केन्द्र

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का मुख्यालय आगरा में है। इसमें शिक्षण-प्रशिक्षण, सामग्री निर्माण आदि कई कार्यक्रम होते हैं। आगरा में एक वर्षीय हिन्दी 'शिक्षा पारंगत' और हिन्दी 'शिक्षा निष्णात' के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। ये पाठ्यक्रम बी०एड० और एम० एड० के समकक्ष हैं। शिक्षा पारंगत और शिक्षा निष्णात पाठ्यक्रमों में हिन्दीतर प्रदेशों के सेवारत अध्यापकों को प्रवेश दिया जाता है जो अपने-अपने प्रदेशों की सरकार से प्रतिनियुक्त होकर आते हैं। इन पाठ्यक्रमों की बढ़ती माँग को देखते हुए संस्थान ने १९८१ से शिक्षा पारंगत का पत्राचार पाठ्यक्रम भी आरम्भ कर दिया है जिसमें उन अध्यापकों को लिया जाता है जो प्रतिनियुक्त नहीं हो पाते। हर सत्र में लगभग साढ़े तीन सौ विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं।

नागालैंड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश के विद्यार्थियों के लिए चतुर्थ वर्षीय गहन हिन्दी शिक्षण पाठ्यक्रम तथा प्रवीण पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं जिसमें विद्यार्थियों को हिन्दी के चारों कौशलों का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हर वर्ष संस्थान द्वारा भाषा संचेतना विकास शिवरों का भी आयोजन किया जाता है। जिसमें असम, मणिपुर, मिजोरम, नागालैंड, कर्नाटक, गुजरात, उड़ीसा आदि विभिन्न प्रदेशों के छात्राध्यापक भाग लेते हैं। इसमें हिन्दी-संरचना, भाषा-शिक्षण और हिन्दी साहित्य पर व्याख्यान देने के साथ-साथ छात्राध्यापकों द्वारा

पाठ्योजनाएँ तैयार की जाती हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी प्रसार कार्यक्रम भी चलाए जाते हैं। इन कार्यक्रमों में हिन्दी शिक्षण के विभिन्न पहलुओं पर और इस क्षेत्र में हुई तकनीकी प्रगति के बारे में जानकारी दी जाती है। अब तक ये कार्यशालाएँ सिक्किम, गुजरात, महाराष्ट्र कर्नाटक आंध्र प्रदेश, उड़ीसा आदि प्रदेशों में आयोजित की गई हैं।

संस्थान के शिक्षण-सामग्री-निर्माण एकक हिन्दीतर भाषी प्रदेशों के लिए पाठ्य पुस्तकें और शिक्षण सामग्री तैयार करता है। १९७५—८० के बीच संस्थान से राज-भाषा विभाग, गृह मन्त्रालय, भारत सरकार के विशेष अनुरोध पर हिन्दी शिक्षण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार के कर्मचारियों के लिए हिन्दी शिक्षण सामग्री तैयार की थी। इसके अतिरिक्त भीली, कुरुख आदि विभिन्न जनजातीय भाषाओं के विद्यार्थियों को हिंदी सिखाने के लिए पाठ्य सामग्री तैयार की गई है। विदेशियों के लिए शिक्षण सामग्री का निर्माण किया जा रहा है। अब तक उसमें लेखन कौशल, मौखिक कौशल और सरंचना के लिए आधार पाठ और साहित्य संकलन तैयार किए गए है।

शिक्षण सामग्री निर्माण के अतिरिक्त भाषा प्रोद्यौगिकी और दृश्य श्रव्य सामग्री भी तैयार की गई। इसमें पूर्वांचल, पश्चिमांचल और अन्य अहिन्दी भाषियो के लिए उच्चारण पाठ तैयार किए गए हैं। यह उच्चारण पाठ नागा एवं मिजो भाषियों के लिए विशेष रूप से तैयार किए गए हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषा-भाषी के स्तर और उनके विभिन्न भाषागत आधार के अनुसार अनुतान युक्त वाचन पाठमाला भी तैयार की गई है।

दिसम्बर १९८५ मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा विभाग की ओर से संस्थान में बी०बी०सी का एक कंप्यूटर सेट स्थापित किया गया है। कंप्यूटर में भाषा शिक्षण परक अनुप्रयोग की दिशा में कार्य करने की संस्थान की योजना है। संस्थान के निष्णात, पारंगत, चतुर्थ वर्षीय पाठ्यक्रम में कंप्यूटर शिक्षण देने का भी संस्थान कार्य कर रहा है। इसी प्रकार का एक कंप्यूटर कक्ष दिल्ली केन्द्र में भी है।

संस्थान शिक्षण कार्य के साथ-साथ अनुसंधान कार्य में भी संलग्न है। इस अनुसंधान कार्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रदेशों में समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण किए जाते हैं। अब तक संस्थान ने बोकारो, राउरकेला के इस्पात संयंत्रों में विशाखापट्टनम के भारत हैवी वैसल्स एंड प्लेट्स, विशाख रिफाइनरी, विशाखापट्टनम शिपयार्ड, गोवा में मोरमगाव पोर्ट ट्रस्ट, गोवा-शिपयार्ड तथा मद्रास फैक्ट्री प्रतिष्ठानों में व्यावहारिक हिन्दी सम्बन्धी सर्वेक्षण कार्य किया है। इसके अतिरिक्त वाणिज्य में प्रयुक्त प्रयोजनमूलक हिन्दी की लिखित सामग्री एकत्रित की गई है ताकि प्रयोजनमूलक हिन्दी के स्वरूप का निर्धारण किया जा सके।

संस्थान हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के विद्वानों द्वारा कम से कम वर्ष में एक बार प्रसार-व्याख्यानों का आयोजन करता है। इसके अतिरिक्त नवीकरण तथा पुनश्चर्या पाठ्यक्रम भी चलाए जाते हैं जिनमें विश्वविद्यालयी अध्यापक और विद्यालयी अध्यापकों के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं।

संस्थान का एक प्रमुख कार्य हिन्दी शिक्षण-प्रशिक्षण से सम्बन्धित शोधपरक सामग्री का प्रकाशन है। हिन्दी शिक्षण विशेषकर द्वितीय भाषा या विदेशी भाषा के रूप में आधुनिक प्रविधियों के बारे में पूरी अनुसंधानात्मक सामग्री होती है। संस्थान अनुसंधान तथा शिक्षण सामग्री निर्माण विषयक विविध योजनाओं के अन्तर्गत सम्पन्न कार्यों और संस्थान के अध्यापकों

द्वारा लिखी गई शिक्षण-प्रशिक्षण सम्बन्धी मौलिक पुस्तकों, उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्धों तथा पी-एच०डी०के शोध प्रबन्धों का प्रकाशन करता है। संस्थान द्वारा आयोजित संगोष्ठियों, सम्मेलनों का विवरण तथा प्रसार व्याख्यानों का भी प्रकाशन करता है। अब तक ८५ पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। इसके अतिरिक्त संस्थान थोक खरीद योजना के अन्तर्गत हर वर्ष एक लाख रुपये से अधिक की पुस्तकें खरीदता है और इसे अहिन्दी भाषा क्षेत्रों के महाविद्यालयों, विद्यालयों और पुस्तकालयों को भेजता है।

इसके अतिरिक्त संस्थान अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान तथा भाषा शिक्षण से सम्बन्धित विषयों पर अर्धवार्षिक शोध पत्रिका 'गवेषणा' का प्रकाशन करता है। अब तक इसके ४८ अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

संस्थान का आगरा में अपना विशाल पुस्तकालय है। जिसमें भाषा विज्ञान, भाषा शिक्षण हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य, अनुवाद, शैली विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर हिन्दी और अंग्रेजी में पुस्तकें उपलब्ध हैं। संस्थान के विभिन्न केन्द्रों में भी अपने-अपने पुस्तकालय हैं।

हैदराबाद, गुवाहटी, शिलाँग और मैसूर केन्द्र

संस्थान के हैदराबाद, गुहावटी, शिलाँग और मैसूर केन्द्रों में पूर्वांचल, दक्षिण भारतीय और महाराष्ट्र एवं गुजरात के सेवारत अध्यापकों के लिए पुनश्चर्या और नवीकरण पाठ्यक्रम विभिन्न स्थानों पर आयोजित किए जाते हैं जहाँ इन अध्यापकों को शिक्षण-प्रशिक्षण की नई तकनीकों तथा प्रविधियों की जानकारी दी जाती है।

संबद्ध महाविद्यालय

असम, मणिपुर, नागालैंड, मिजोरम, कर्नाटक राज्यों द्वारा स्थापित शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय संस्थान से सम्बद्ध महाविद्यालय हैं। इनमें शिक्षापारंगत तथा गहन पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं जिनकी परीक्षा संस्थान द्वारा आयोजित की जाती है।

इस प्रकार संविधान में हिन्दी सम्बन्धी धाराओं की भावना को ध्यान में रखकर केन्द्रीय हिन्दी संस्थान हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में शैक्षिक दृष्टि से सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है ताकि इसका प्रचार-प्रसार मातृभाषा, द्वितीय भाषा और विदेशी भाषा के रूप में हो सके। संस्थान से अभी और भी अपेक्षाएँ हैं।

इस अंक के पाठकीय में पत्रों को सम्मिलित नहीं किया जा सका। आगामी अंक में पत्र प्रकाशित किए जायेंगे। यह अंक भी आपको कैसा लगा इसकी अपेक्षा रहेगी।—**संपादक**

विशेष

दिल्ली की भूली-बिसरी साहित्यिक गतिविधियाँ

दिल्ली कवि समाज, इन्द्रप्रस्थ कवि समाज और शनिवार समाज

□ ईश कुमार ईश

यमुना के दक्षिणी तीर पर बसी दिल्ली जो ऐतिहासिक परम्पराओं में पली, राजनैतिक कुलाँचों से आगे बढ़ी, सांस्कृतिक प्रगति से नये से नये मोड़ों पर कई बार ठिठकी, वह आज भी अपने साहित्यिक गुरुत्व को उन्नत ललाट के साथ अडिग हिमालय की भाँति स्थिर रखे हुए है। विगत लगभग १२०० वर्षों के बीच तुर्कों, मुगलों, पठानों और अंग्रेजों ने अपने-अपने शासनकाल में अपनी भाषाओं के माध्यम से अपनी संस्कृतियों को भी दिल्ली पर थोपा, जिसे इसने एक तपस्विनी की भाँति सहा और जैसे स्वर्ण तप-तप कर निखरता है, उसी भाँति इसका साहित्यक वर्चस्व भी निखरता रहा, कहना न होगा कि फारसी एवं अरबी अपनी नज़ाकत के साथ राज्या-श्रय के आधार पर विशाल वटवृक्ष की भाँति खूब फल-फूल चुकी थी और दिल्ली की जलवायु में रच-बस जाने का दावा कर रही थी। ग़ालिब, जौक, मीर, दर्द, नजीर, जफर आदि शायरों ने दिल्ली में फारसी उर्दू को इतना गहरा बोया था कि अब उसके ऊपर दूसरा रंग चढ़ना असंभव सा लग रहा था। यह भी वास्तविकता है कि उस समय के दिल्ली के साहित्यक उद्यान में कोयलें कूकने में संकोच करती थीं, उपवन और उद्यान लगभग नष्ट होकर चमन के रूप में चर्चित थे जिनमें बुलबुलें चहकती थीं। कमल की कोमलता किसी झुरमुट में लुक-छुप गई थी और गुलाबों की गुलाबी बेगमी अदा में चारों ओर मुस्करा रही थी। ऐसे परिपक्व फारसी उर्दू के वाता-वरण में दिल्ली में हिन्दी के परम्परागत साहित्यिक कदम उठाने की बात सोचना भी एक साहस की बात थी। कुछ साहसी व्यक्तियों ने यह बीड़ा उठाया और हिन्दी का बिगुल बजाते हुए खम ठोंककर मैदान में आ गए। फलस्वरूप दिल्ली में 'कवि समाज, दिल्ली' की स्थापना हुई। यह बात लगभग सन् १९३६-३७ की है। **कवि समाज, दिल्ली** के संस्थापक मुख्य रूप से तो पं०दीना नाथ 'दिनेश' थे, जो बाद में गीता के यशस्वी काव्यानुवादक एवं व्याख्याता के रूप में सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हो गए। परन्तु इनके सहयोगी थे सर्वश्री पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश', शम्भुनाथ शर्मा 'शेष', बालकृष्ण वैद्य, राधेलाल पंकज और ब्रह्म भट्टाचार्य कविवर पंडित छाजूराम शर्मा 'छवेश'।

कवि समाज, दिल्ली के इन पाँच कवियों में श्री 'छवेश' जी वृद्ध थे, प्रज्ञाचक्षु थे तथा ब्रजभाषा के कवि थे। श्री राधेलाल 'पंकज' भी ब्रजभाषा के कवि थे। अतः सर्वश्री छवेश और

पंकज तो समाज की श्रीवृद्धि को गौरव मात्र प्रदान करते रहे और खड़ी बोली के अवतरण के अन्तर्गत संस्थापित कवि समाज के कर्णधार सर्वश्री दिनेश, करुणेश और शेष ही रहे। इनमें भी दिनेश 'दिनेश' बनकर चमके।

इसमें दो राय नहीं है कि श्री दिनेश एक विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे और उनका संपूर्ण साहित्यिक जीवन धर्म और कर्म के दो पहियों पर परिचालित होकर गतिमान रहा। चूँकि उन्होंने गीता का सुन्दर अनुवाद किया था, धार्मिक मान्यताओं को नये संदर्भ में व्याख्यायित किया था तथा इस प्रकार उन्होंने धार्मिक अंधानुकरण का लाभ उठाने वाले नामधारी मठाधीशों तथा महामंडलेश्वरों के प्रति विद्रोह का स्वर उदघोषित किया था, अतः वे साहित्यिक जीवन के जगप्रहरी के रूप में बहुचर्चित होकर सामाजिक जीवन से गहरे जुड़ गए थे, भले ही कुछ लोग उनके अन्त तक विरोधी बने रहे। तत्कालीन रेडियो के डायरेक्टर जनरल श्री बुखारी को हर मंगलवार को गीता ज्ञान पर प्रवचन के लिए श्री दिनेश जी को जनता की माँगपर आमंत्रित करना पड़ा था। तभी उन्होने श्री बुखारी को सबसे पहला हिन्दी कवि-सम्मेलन रेडियो पर रखने के लिए विवश किया। जिसमें भाग लेने वाले केवल पांच कवि थे—१. श्री दिनेश, २. श्री करुणेश, ३. श्री शेष, ४. श्री बालकृष्ण भट्ट वैद्य और ५. श्री छवेश। अध्यक्षता छवेश जी ने की थी।

वैसे उन दिनों हिन्दी कवि-समाज का अर्थ 'दिनेश' और 'दिनेश' का अर्थ कवि-समाज था। हिन्दी की सेवा के लिये श्री 'दिनेश' जी हर समय तैयार रहते थे। चूँकि डालमिया और बिड़ला जैसे धनिक व्यक्ति भी 'दिनेश' जी की 'श्री हरि गीता' और प्रवचन शैली से प्रभावित थे, अतः हिन्दी के किसी भी आयोजन में धन की आवश्यकता की पूर्ति 'दिनेश जी' के कहने भर से हो जाती थी।

श्री पं० दीनानाथ 'दिनेश' केवल मात्र धार्मिक व्यक्ति न थे वरन् राष्ट्रीय भावना के पोषक भी थे। उनकी राष्ट्रीयता का परिचायक एक उदाहरण इस प्रकार है—

आज युग साकार होकर जागरण संदेश लाया।
जाति जीवन जाग जाये,
भारती प्रिय प्राण पाये,
पूर्व पुण्य प्रभात आये,
काटती तम तोम छाया।
आज युग साकार होकर जागरण संदेश लाया।
देश का अभिमान जागे,
शान्ति का सम्मान जागे,
और नव-निर्माण जागे
जो बदल दे देश काया।
आज युग साकार होकर जागरण संदेश लाया।

जब श्री दिनेश धार्मिक जगत् की सम्पत्ति बन गये तब दिल्ली में हिन्दी की गतिविधि के विकास का भार श्री पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' के ऊपर आ पड़ा। ये उद्यान विशेषज्ञ थे और गुरुद्वारा रोड पर इनकी नर्सरी थी। अतः इनका कवि पल्लवित, पुष्पित और सुरभित तो रहता ही था। इनकी एक विशेष प्रवृत्ति उल्लेखनीय है कि अपने जीवन तथा दैनिक सफर में पीछे

मुड़कर देखना इन्हें अभीष्ट न था। ताँगों आदि सवारी में भी वे आगे ही बैठते थे, यदि आगे जगह न होती तो पीछे जगह होते हुए भी वे उसे छोड़ देते थे और दूसरे ताँगे में बैठते थे। हिन्दी के प्रचार कार्यों में भी इन्होंने मुड़कर पीछे नहीं देखा। फिर इनको सहयोग मिल गया था शेष और ईश जैसे कर्मनिष्ठ युवकों का। इन तीनों की सामूहिक मिशनरी भावना का नाम उस समय 'ईश एण्ड कम्पनी' के नाम से जाना जाने लगा था। यही कारण था कि श्री करुणेश जी को दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री पद का कार्यभार भी सौंप दिया गया था।

इकदिल (इटावा) के निवासी करुणेश एकदिल होकर हिन्दी के प्रचार का कार्य कर रहे थे। दिल्ली में तो कवि समाज की मासिक गोष्ठियों के लिए यदि किसी का निमन्त्रण सुलभ न हुआ तो करुणेश जी की नैर्सरी रिजर्व थी। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन और कराची अधिवेशन की मंच-सज्जा श्री करुणेश द्वारा ही सम्पन्न की गई थी और उक्त दोनों अधिवेशनों में अखिल भारतीय कवि सम्मेलनों की व्यवस्था भी करुणेश जी ने की थी। वैसे तो उनकी अभी कवितायें सुन्दर काव्य सौष्ठव का उदाहरण होती थीं, परन्तु एक विशेष कविता ने उन्हें प्रसिद्ध कर दिया था जो तात्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन से प्रभावित होकर अंग्रेजों को भारत से चले जाने को प्रेरित करते हुए व्यंग्यात्मक शैली में लिखी गई थी—

परदेशी ! अपने घर जाओ।
घर पर बच्चे रोते होंगे,
आँसू से मुँह धोते होंगे।
अब और न उनको तरसाओ।
परदेशी ! अपने घर जाओ।
जब से इस घर तुव चरण दुरे,
हमने दिन देखे बुरे-बुरे।
अब और न दुर्दिन दिखलाओ।
परदेसी अपने घर जाओ।

× × ×

श्री दीनानाथ 'दिनेश' के पश्चात सबसे अधिक चर्चित कवि शेष थे। इनका पूरा नाम था शंभुनाथ शर्मा 'शेष' दिल्ली का ऐसा कोई कोना अछूता न था जहाँ कवि-गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों का आयोजन शेष द्वारा न किया गया हो। दिल्ली का प्रत्येक हिन्दी प्रेमी शेष से जुड़ा था और शेष—अपने नाम से, काम से तथा कलाम से सबके लिए सुलभ थे। उर्दू का ऐंट्रेंस पास शेष जो कुछ छोड़ आया था उसे उसने हिन्दी के क्षेत्र में आकर पूरा किया। हिन्दी का 'क ख ग' भी न जानने वाले शेष ने सीधे प्रभाकर की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर बी० ए० की डिग्री के पश्चात वे हिन्दी तथा हिन्दी कविता की धरोहर बन गए। लगता है शेष का उर्दू से हिन्दी में प्रवेश सरस्वती को बहुत भाया और वे रस रूप होकर उनमें बोल उठीं। उनकी रचनाओं में शब्द चयन तो मोती की लड़ियों की तरह सुव्यवस्था के साथ चमचमाता है। प्रकृति चित्रों को सहजता और सुकुमारता के साथ कविता रूपी पादपों की टहनियों (चरणों) में पल्लवित करते हुए अन्तरानुभूति के पुष्पों से लहर-लहर कर देने की वासता को विससित करने में तो शेष जादूगर था। यह बात अलग है कि उन दिनों दिल्ली में कविता की पुस्तक छपने का

कोई संयोग न था। हिन्दी का पाठक भी अभी भली प्रकार जाग्रत नहीं हो पाया था। अतः हिन्दी कविता पुस्तक से प्रकाशक को समुचित अर्थ लाभ न होने के कारण काव्य प्रकाशन की बात गहरे पानी में से कौड़ी ढूंढ़कर लाने जैसी थी। स्कूलों तथा कॉलिजों में पढ़ाये जाने वाले उत्तर प्रदेश के नामधारी, बनारसी अथवा इलाहाबादी महन्त ही कवि होते थे, अतः वे ही प्रकाशकों की आय के साधन स्रोत थे। उर्दू की दिल्ली में तो हिन्दी अर्धशिक्षितों की भाषा थी। अत: शेष को कौन छापता? उस समय जिनकी कविता पुस्तकें प्रकाश में आयीं वे सब स्थानीय कवियों ने अपने पैसों से प्रकाशित की थीं और मित्रों में मुफ्त बाँटी थीं, जैसे पीयूष की **ग्रामबाला, सरितदीप, अवगुण्ठन**, आदि अथवा रघुवर दयालु त्रिवेदी की **शर्वाणी** आदि। परन्तु शेष के पास तो धन था नहीं, दूसरी ओर उनकी रचनाओं को पढ़ने और मनन करने की ललक हम लोगों में थी तो बहुत आग्रह करने पर जैसे-तैसे श्री दिनेश ने अर्थ लाभ को ताक में धर कर अपने यहाँ से शेष का प्रथम कविता संग्रह **'उन्मीलिका'** प्रकाशित कर दिया। हिन्दी कविता आज कितने ही वादों की सीढ़ियाँ चढ़ चुकी है और कितने वादे पूरे किये गये, इस विवाद में हम पड़ना नहीं चाहते। परन्तु शेष की रचनाओं की ताज़गी आज भी ताज़ी लगती है—कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं:—

पावन ग्राम प्रभात सुहानी।
तमचुर बोल रहा है छत पर,
चुहु चुहु से मुखरित है तरुवर,
गीत गा रही है चक्की पर,
किसी-किसी घर, घर की रानी।
× × ×
प्राप्त हुई औ, पंछी बोले।
किरणें मुस्कायीं अंबर में, लहरें नाच उठीं सागर में।
पृथ्वी पर निद्रा के रथ में पलकों मे खाय हिचकोले॥
जीवन भर आया जीवन में, भ्रमर मनाते हैं यह मन में।
कोई आये औं' कलियों के रेशम घूंघट को फिर खोले॥

साधारणतया ग़ज़लें उर्दू भाषा के स्वरूप को ही चरितार्थ करती हैं परन्तु शेष की ग़ज़ल का नमूना देखिये—

वीणा की झंकार न होती भौंरों का गुंजार न होता,
भाव जगत् के उपवानों पर यदि मेरा अधिकार न होता।
तूने तो अपनी इच्छा से थे केवल पाषाण बनाये,
मेरी श्रद्धा के अभाव में हे अमूर्त साकार न होता।
जड़ हो जाती रूप चेतना तेरी मानस के घनतम में
मेरी मिट्टी का लघु दीपक यदि उसका आधार न होता।
तूने केवल शब्द दिये थे मैंने गीतों की रचना की,
कैसे तेरा नाम चमकता जो मुझ सा स्वरकार न होता।
तूने अपने मन की कर ली मुझको साधन हीन बनाकर,
मैं भी यदि मन की कर पाता, फिर क्या तू करतारन होता।

इसके पश्चात् प्रचार तंत्र की इस दुनिया में जब शेष 'आजकल' के सम्पादक और बाद में रेडियो में प्रोग्राम एक्जीक्युटिव बनकर हिन्दी जगत् में उभरे तो इनकी एक पुस्तक **'सुबेला'** और प्रकाशित हुई। श्री शेष जी द्वारा आयोजित एक शरद् पूर्णिमा पर 'नौका विहार कवि सम्मेलन' तो दिल्ली में हिन्दी के इतिहास की चिरस्मरणीय घटना है। किन्तु अब तो शेष की स्मृति शेष है।

'कवि समाज दिल्ली' ने हिन्दी के विकास का मार्ग तो प्रशस्त कर ही दिया था। अतः कवि समाज में अन्य अनेक हिन्दी प्रेमी तथा कवि अपने नये उत्साह और उमंगों के साथ प्रविष्ट हुए। कुछ नाम इस प्रकार हैं— सर्वश्री आनन्दस्वरूप विद्यार्थी (अध्यापक सनातन धर्म हाई स्कूल), ईश कुमार 'ईश', बनारसीदत्त शर्मा 'सेवक', डॉ० नगेन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गोपीनाथ 'अमन' और विश्वेश्वर प्रसाद 'मनुव्वर' (ये दोनों उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि थे और दोनों लखनऊ के थे। हिन्दू संस्कृति अथवा राम, कृष्ण के परिपोषक तथा उपासक होने के कारण भी उर्दू के अतिरिक्त हिंदी से भी प्रेम रखते थे), विद्यादत्त प्रेमी, अजान चतुर्वेदी, कैलाशचंद्र 'पीयूष', जगदीश लाल 'दीश' और शंभुनाथ तिवारी आदि। उस समय की गोष्ठियों की अध्यक्षता के लिए डॉ० नगेन्द्र लगभग रिजर्व थे। बाद में डॉ० युद्धवीर सिंह, पं० रामचन्द्र तिवारी, हकीम जे० पी० कथूरिया, राजेन्द्र लाल हांडा, अमन साहब, मुनव्वर साहब आदि महानुभावों ने भी अपने यहाँ गोष्ठियाँ रखने की स्वीकृति दे दी थी और कवि-समाज की गोष्ठियों की अनेक बार अध्यक्षता भी की थी। इस प्रकार सबके सहयोग से हिन्दी कवि समाज का विस्तार तथा हिन्दी की श्रीवृद्धि होने लगी थी।

यशोकामना जीवन की सबसे बड़ी कामना है, परन्तु परिस्थितियों की विवशतायें व्यक्ति के मार्ग को अवरुद्ध कर देती हैं, फिर भी कुछ लगनशील व्यक्ति समस्याओं की जंजीरें तोड़ने का संकल्प, संकट वरण करके भी करते हैं और आगे बढ़ते हैं। ऐसे ही दृढ़संकल्पी थे श्री कैलाशचन्द्र पीयूष, जिन्होंने अपनी जीवन संबंधी आवश्यकताओं की भी परवाह न करके हिन्दी कवि-समाज के दायरे में अपने ही पैसों से तथा जिन धनिकों के बच्चों को वे पढ़ाने जाते थे, उनसे कुछ धन माँगकर **'ग्राम बाला'**, **'सरित दीप'** और **'अवगुंठन'** तीनों पुस्तकें छापी थीं। सबसे पहले किसी प्रकाशक से यदि दिल्ली में किसी कवि की पुस्तक प्रकाशित हुई तो उसके लिए गोपालदास 'नीरज' को ही भाग्यशाली कहा जाएगा, परन्तु वह महत्त्वहीन सिद्ध हुई यद्यपि आगे चलकर नीरज हिन्दी काव्य जगत में ख्याति और सम्मान के भाजन बने।

उपर्युक्त कवियों में से श्री सेवक 'स्वतंत्र'(साप्ताहिक) के संपादक बनकर झाँसी चले गये तथा बाद में 'विश्वमित्र' (दैनिक) के सम्पादक होकर कलकत्ता निवासी बन गये। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इलाहाबाद चले गये तथा डॉ० नगेन्द्र रेडियो में हिन्दी यूनिट के समाचार प्रमुख बने तथा बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बने। डॉ० नगेन्द्र आज हिन्दी जगत के प्रख्यात समालोचक के रूप में समादृत हैं। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी सुप्रसिद्ध कहानीकार तथा उपन्यासकार के रूप में अनेक पुरस्कार-विजेता होकर हिन्दी जगत के प्रयागवासी उल्लेखनीय व्यक्ति हैं।

इन्द्रप्रस्थ कवि-समाज : यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शेष जी की रेडियो पर नियुक्ति हो जाने के पश्चात् कवि समाज का रिकार्ड उनके पास ही पड़ा रहने के कारण तथा उन्हें समय न मिलने के कारण कवि समाज की गतिविधियाँ कुछ दिनों के लिए रुक गई थीं। परन्तु २८ जून,

१९५३ को **'इन्द्रप्रस्थ कवि समाज'** की संस्थापना ने कवि समाज की कमी को दूर कर दिया। 'इन्द्रप्रस्थ कवि समाज' की नियमित रूप से मासिक गोष्ठियाँ होती थीं, जिनमें अनेक नई प्रतिभायें भी भाग लेती थी। इस संस्था के अन्तर्गत ३० गोष्ठियाँ आयोजित की गईं। श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' के सभापतित्व में आयोजित 'तुलसी जयन्ती' महोत्सव इस संस्था की विशेष उपलब्धि कही जा सकती है। रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' उस समय के जाने-माने हिन्दी विद्वान थे। 'महारथी' पत्र के सर्वेसर्वा होने के कारण उनका महारथी नाम रूढ़ हो गया था। वे नागरी प्रचारिणी सभा, दिल्ली के महामंत्री भी थे तथा संपादन कला के विशेषज्ञ भी।

'इन्द्रप्रस्थ कवि समाज' की एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि श्री छबेश जी के सुपुत्र पं०लक्ष्मीनारायण शर्मा घड़ीवालों ने अपने पिता की स्मृति में 'इन्द्रप्रस्थ कवि समाज' के तत्वावधान में प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाली काव्य पुस्तकों में से श्रेष्ठतम को 'छबेश' पुरस्कार से पुरस्कृत करने की घोषणा की थी। परन्तु ४-५-१९५७ को कतिपय महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों ने कवि-समाज के पुनर्गठन के नाम पर इस जीवंत संस्था का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया और उसके पश्चात् दिल्ली की काव्यात्मक भूमिका 'अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग' में परिवर्तित हो गयी तथा यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। पं० लक्ष्मीनारायण भी भर्तृहरि के वैराग्य शतक को पढ़कर विरागी हो गए।

आज स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भले ही हिन्दी राजकीय स्थितियों के कारण विकास की ओर उन्मुख हुई है, परन्तु उस समय की पारस्परिक प्रेम-भावना और संगठित रूप में हिन्दी के लिए न्यौछावर करने की प्रवृत्ति से हम बहुत दूर चले गये हैं। स्वार्थ लोलुपता, अर्थोन्मुखी वृत्ति ने हिन्दी की आन्तरिक शक्ति को ह्रास के द्वार तक पहुँचा दिया है, जिसके कारण हमारी सांस्कृतिक विरासत दाँव पर लगी हुई है। आगे की स्थितियाँ हमारी पीढ़ी को कहाँ और किस ओर ले जायेंगी, कहा नहीं जा सकता। निस्वार्थ भाव से हिन्दी की सेवा करने वाले व्यक्तियों का आज अभाव होता जा रहा है।

इन्द्रप्रस्थ कवि समाज दिल्ली की श्रीवृद्धि में कुछ और व्यक्तियों ने भी अब अपना योगदान देने की कृपा की। इनमें प्रमुख हैं सर्वश्री उदय शंकर भट्ट, विष्णुदत्त मिश्र 'तरंगी', उर्दू तेज के संपादक रामलाल वर्मा, विद्यावती वर्मा, भगवती देवी विह्वला, क्षेमचन्द्र 'सुमन', निर्मला कुमारी माथुर, शान्ति सिहल, विष्णुदत्त कविरत्न, रघुबर दयालु त्रिवेदी, रामेश्वर 'अशान्त', शैलेन्द्र कुमार पाठक, नगीनचन्द्र 'प्रदीप', चिरंजीलाल 'एकाकी', मास्टर गुरुचरणदास, सत्यदेव शर्मा, जगदीश विद्रोही और बाबूराम पालीवाल आदि।

कहना न होगा कि दिल्ली हर दशक में अपनी करवटें बदलती रही। हिन्दी की गतिविधियाँ भी इसमें अपवाद न थीं। वैसे अब कवि-समाज द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलनों का दायरा बढ़ने लगा था। आसपास के नगरों में जैसे ग़ाज़ियाबाद, मेरठ, सहारनपुर, हापुड़, सिकन्दराबाद, खतौली, मुजफ्फर नगर, बड़ौत, मथुरा, हाथरस तक दिल्ली के कवियों की चर्चा होने लगी थी। कवि-समाज के कवियों द्वारा कविता के क्षेत्र में अपनाई गई गीत पद्धति उर्दू के मुकाबले में खड़ी होने लगी थी। इस गीत विधा को अपनाकर दिल्ली कवि समाज के कवियों ने भारत के प्रख्यात कवियों के बीच में अपना अस्तित्व प्रस्थापित किया। इनमें प्रमुख थे—सर्वश्री गोपालदास 'नीरज' (बाद में वे कानपुर चले गए फिर अलीगढ़), गोपाल प्रसाद व्यास, चिरंजीत, देवराज 'दिनेश', मधुर शास्त्री, प्रियतम दत्त चतुर्वेदी 'चंचल', सत्यप्रकाश बजरंग, रामावतार

त्यागी, रामानंद दोषी, बाल स्वरूप राही, गोपाल कृष्ण कौल और इन्दुमती कौशिक। अर्जुन के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत श्री चिरंजीत अपने समय के एक श्रेष्ठ पत्रकार तो थे ही, किन्तु वह वास्तव में सुन्दर गीतकार थे। कवि समाज और शनिवार समाज में उनके सुमधुर गीतों की धूम रहती थी। दिल्ली से बाहर के कवि-सम्मेलनों में भी वे शामिल होते थे।

'शेष' के निधन के पश्चात् कवि-समाज के प्रधानमंत्री पद का कार्य-भार मेरे ऊपर डाल दिया गया। बहुत दिनों तक मुझे शेष और करुणेश द्वारा आयोजित सर्वश्री हकीम जे० पी० कथूरिया, राजेन्द्र लाल हांडा, मुनव्वर साहब, डॉ० युद्धवीर सिंह, विद्यावती वर्मा, रघुबर दयालु त्रिवेदी, अजान चतुर्वेदी तथा 'करुणेश' जी की नर्सरी आदि में आयोजित गोष्ठियाँ याद आती रहीं। यह सच्चाई है कि उस समय के कवियों में आर्थिक लोभ-लालच न था, अतः हिन्दी प्रचार का कार्य मिशनरी भावना से होता था, यद्यपि मुझमें शेष जी की भाँति आयोजन तथा संगठन शक्ति न थी, दूसरे गरीबी की मार से ठुका-पिटा मैं हीन भावना का शिकार हो चुका था, अतः किसी से अपने यहाँ गोष्ठी रखने के लिए कहने में भी संकोच करता था। परन्तु किसी न किसी के यहाँ गोष्ठी रखे जाने का निमन्त्रण प्राप्त हो ही जाता था और मैं उसकी सूचना पैदल चलकर एक-एक सदस्य तथा कवि को देने जाता था और फिर सबकी सहयोग भावना का बल पाकर मैंने कभी थकान अनुभव नहीं की।

कहना न होगा कि हिन्दी की बढ़ती हुई प्रगति और विशेषकर काव्यात्मक प्रवृत्तियाँ कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत अथवा महत्वाकांक्षा की द्योतक बनकर उभरीं और परिणामस्वरूप कुछ करने की इच्छा लिए १९५३ में निर्माण प्रकाशन के सहयोग से सर्वश्री गोपाल कृष्ण कौल और रामावतार त्यागी ने संयुक्त प्रयत्न करके **'राजधानी के कवि'** नामक पुस्तक में दिल्ली के छोटे-बड़े ६१ कवियों की एक-एक अथवा दो-दो रचनायें प्रकाशित करके यशार्जन की भूख शान्त की। इसी प्रेरणा ने दूसरी महत्वाकांक्षा को जन्म दिया और तभी १९५४ में 'हिन्दुस्तान' (दैनिक) के सहायक सम्पादक एवं नवोदित कवि श्री रामानंद दोषी की महत्वकांक्षा ने अँगड़ाई ली और उन्होंने २२ मित्र कवियों से २०-२० रुपये एकत्र करके 'तूलिका' नाम का काव्य-संग्रह प्रकाशित किया। परन्तु इनका प्रकाश अपनी सीमा में ही फैल कर समाप्त हो गया। कुछ और नवोदित कवियों की बलवती महत्वाकांक्षा ने अपनी धनराशी से प्रकाशकों को माध्यम बनाकर अपनी पुस्तकें प्रकाशित कीं अथवा करवायीं। इनमें हरिश्चन्द्र पाठक की 'अँजुरी भर धूप', ओम प्रकाश मिश्र की 'जयभारत जयभारती' तथा शान्ति सिंहल की 'अलका' उल्लेखनीय है। प्रकाशन की दृष्टि से मैं उपेक्षा का शिकार रहा। जैसे-तैसे सन् १९६०में शारदा मंदिर से मेरी प्रथम काव्य पुस्तिका **'सुमंगला'** प्रकाशित हुई, परन्तु दैव योग से शारदा मंदिर के मालिक सुधाकर का तभी निधन हो गया और उनके सुपुत्र जो कलकत्ता में नौकरी करते थे, प्रकाशन समाप्त कर गये। मेरी सुमंगला का क्या हुआ? कुछ पता नहीं। कुछ प्रतियाँ जो मेरे पास थीं, मित्रों में बाँट दी गईं। उसके पश्चात् नवस्थापित अनिल प्रकाशन मंदिर ने 'श्रमदान' नामक बाल कथाओं का संग्रह प्रकाशित किया। राजस्थान में लायब्रेरियों के लिये वह स्वीकृत भी हो गई थी, परन्तु एक वर्ष भी वह प्रकाशन अपना अस्तित्व कायम न रख सका। कुछ धर्म प्राण व्यक्तियों की प्रेरणा से मैंने संस्कृत के महाकवि पंडित राज जगन्नाथ की गंगा लहरी का काव्यानुवाद किया, उसे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा गया पर निःशुल्क वितरित किया गया। ऐसे ही दुर्गा सप्तशती और राम रक्षा स्रोत के दुर्लभ काव्यानुवाद भी धर्म के क्षेत्र में चर्चित हैं।

कहना न होगा कि अनेक प्रतिभाशाली कवियों के स्वर प्रकाशन के अभाव में कुंठा के शिकार हो गये।

कुछ भी हो हिन्दी की चहुँमुखी प्रगति में दिल्ली कवि-समाज का योगदान विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसने अनेक लेखकों और कवियों को आगे बढ़ाया तथा उनमें लेखन सामर्थ्य भरा। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि स्वतन्त्रता से पूर्व की स्थितियों तक कवि समाज के किसी भी कवि ने अपनी कविता का धनोपार्जन की दृष्टि से सौदा नहीं किया और दिल्ली से बाहर के निमंत्रणों में भी मिशनरी भावना से हिन्दी की समृद्धि को सामने रखकर काम किया। केवल आने-जाने की व्यवस्था और साधारण जलपान अथवा दिल्ली से बाहर भोजन आदि का उत्तरदायित्व कवि-सम्मेलन के संयोजकों के ऊपर होता था।

दिल्ली की जनता तथा इसके आसपास के वातावरण में जागरण अब अँगड़ाइयाँ लेने लगा था। काव्य में गीतात्मकता के साथ ही शब्दार्थ का भी महत्व बढ़ा, साथ ही दिल्ली का कवि परिवार भी समृद्ध हुआ। छोटे-बड़े अनेक कवि अपनी महत्वाकांक्षाओं के साथ काव्य-यज्ञ में होता बनने के लिए आ गये। ये थे सर्वश्री विश्वदेव शर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भगवद्दत्त शिशु, बाल मुकुन्द मिश्र, उर्मिला वार्ष्णेय, शरदेन्दु, लक्ष्मीनारायण गोयल, जगदीश शरण गुप्त, रघुबीर शरण व्यथित, रामेश्वराचार्य, कमल साहित्यालंकार, देवकीनंदन विकल, मोहनलाल श्रीवास्तव, रमेश गौड़, हरिकृष्ण कश्यप उमंग, प्रियदर्शी, हरिश्चन्द्र पाठक अजेय, ललित मोहन जोशी, रमेश रंजक, सुधेना, परदेसी, जवाहर चौधरी, शेरजंग गर्ग, ब्रजमोहन आदि। इस नामावली में बहुत संभव है कुछ नाम स्मृति-दोष के कारण आगे-पीछे हो गये हों अथवा रह भी गये हों। परन्तु इन सबने ही दिल्ली की साहित्यिक तथा काव्यात्मक रिक्तता को भरा है।

दिल्ली कवि समाज का विस्तार : स्वतंत्रता के पश्चात् तो यह कवि परिवार अखिल भारतीय स्तर का बन गया, भले ही हिन्दी कवि समाज का अस्तित्व समाप्त हो गया था। इस समाज में अखिल भारतीय स्तर के कवि भाग लेते थे। उल्लेखनीय नाम हैं—सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, रामधारीसिंह दिनकर, भगवती चरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री नारायण चतुर्वेदी, हरिवंश राय बच्चन, गिरिजा कुमार माथुर और रमानाथ अवस्थी आदि। भारतीय स्तर के विशिष्ट कवियों के आगमन से 'इन्द्र प्रस्थ कवि समाज' की पहचान काव्यसौष्ठव और काव्य चारुत्व के कारण अलग बन गई थी।

शनिवार समाज : दिल्ली की काव्यात्मक प्रवृत्तियाँ जिन्होंने दिल्ली के साहित्यिक धरा-तल को उर्वर बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अपने साथ गद्यविधा को लोकप्रिय बनाने की दिशा में भी सक्रिय हो गई। कतिपय मूर्धन्य गद्य लेखकों ने भी हिन्दी की प्रगति को जीवनोन्मुखी करने की सदाकांक्षा लेकर 'शनिवार समाज' नामक संस्था की स्थापना की। शनिवार समाज की स्थापना में श्री विष्णु प्रभाकर, कान्ति चन्द्र सौनरिक्सा, डॉ०नगेन्द्र, चिरंजीत, गोपाल प्रसाद व्यास प्रमुख थे। यह बात सन् १९४३-४४ के आस-पास की है। इसके संयोजक थे तत्कालीन कथा-शिल्पी श्री जैनेन्द्र कुमार। हिन्दी की रचनात्मक स्थिति को सुदृढ़ करने में 'शनिवार समाज' ने जिस सेमिनार पद्धति को संजोया वह हिन्दी जगत् के लिए उदाहरण थी। इसमें भाग लेने वाले लेखक थे—सर्वश्री जैनेन्द्र कुमार, नगेन्द्र, विजयेन्द्र स्नातक, विष्णु प्रभाकर, यशपाल जैन, रामचन्द्र तिवारी, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, वीरेन्द्र त्रिपाठी, महावीर अधिकारी, गोपाल कृष्ण कौल, विद्याभूषण अग्रवाल, रामचन्द्र शर्मा महारथी, दशरथ ओझा, रामसरन शर्मा,

मन्मथनाथ गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, अज्ञेय, शची रानी गुर्टू, प्रोफेसर रामधन शर्मा, सत्यवती मलिक, मोहन सिंह सेंगर, हरिदत्त शर्मा, बाँके बिहारी भटनागर आदि ।

शनिवार समाज प्रत्येक शनिवार को संयोजित होता था और दिल्ली की शिखर साहित्यिक हस्तियों द्वारा सामूहिक मन्थन, चिन्तन और जीवन-दर्शन की सैद्धांतिक मान्यताओं का नीर-क्षीर विवेचन करने में अपनी शैली में अनूठा था । प्रत्येक शनिवार की बैठक में किसी विशेष कथाकार को कहानी पढ़ने और अधिकारी लेखक को प्रदत्त विषय पर लेख पढ़ने के लिए कहा जाता था । फिर उस पर परिचर्चा होती थी । प्रत्येक लेखक उस परिचर्चा में भाग लेने का अधिकारी था तथा उसके विचार स्वागत योग्य होते थे । विरोधात्मक अथवा प्रशंसात्मक वाक् शैली की प्रस्तुति में तनिक भी कटुता की गुंजायश नहीं थी । वैसे तो शालिग्राम की बटिया क्या छोटी और क्या बड़ी, सभी पूजनीय तथा माननीय होती हैं, परन्तु नवयुवक विजयेन्द्र स्नातक का साहित्यिक स्वरूप कम-से-कम मुझे तो सबसे पहले शनिवार समाज में ही देखने को मिला था । इन लेखकों में से अनेक ऐसे थे जो पहले कवि थे, और मैं दिल्ली की काव्यात्मक प्रवृत्तियों के संयोजनों में सक्रिय जुड़ा होने के नाते, उनसे पूर्व परिचित भी था, परन्तु शनिवार समाज में श्री विजयेन्द्र स्नातक की कुशल तर्कशैली और विवेचन की प्रस्तुति निश्चय ही प्रभावशाली थी और मैं कह सकता हूँ कि स्नातक संभवत: वहीं से उभर कर चमके तथा मैं भी उनका प्रशंसक बन गया । फिर तो अनेक जयन्तियों अथवा साहित्यिक उत्सवों में श्री विजयेन्द्र स्नातक जी से अच्छा परिचय हो गया था और जब श्री स्नातक राणा प्रताप बाग में नव-निर्मित मकान में रहने लगे थे, तभी एक विशेष कवि-गोष्ठी भी उनके निवास स्थान पर आयोजित की थी । 'शनिवार समाज' ने अनेक लेखकों को प्रकाश दिया, राहें दीं और साहित्य की गतिविधि पर चिन्तन-मनन की सामर्थ्य दी, सृजन शक्ति दी । कहना न होगा कि दिल्ली कवि समाज और शनिवार समाज जैसी संस्थाओं ने दिल्ली की साहित्यिक तथा काव्यात्मक प्रवृत्तियों की प्रगति को न केवल विकासोन्मुख किया, प्रत्युत् संयोजित तथा सुसंगठित भी किया । इन संस्थाओं की सक्रियता के परिणामस्वरूप 'दिल्ली प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' भी अस्तित्व में आया । प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली को नये रूप में गठित करने और उसकी शाखाएँ स्थापित करने में श्री गोपाल प्रसाद व्यास का योगदान भुलाया नहीं जा सकता । सम्मेलन की शाखाएँ दिल्ली की प्रत्येक बड़ी कॉलोनी और मुहल्लों में बन गयीं । व्यास जी प्रारम्भ से ही उसके प्रमुख कार्यकर्ता और प्रधानमंत्री के रूप में काम कर रहे हैं । सम्प्रति व्यास जी दिल्ली में हिंदी-भवन के निर्माण में संलग्न हैं ।

'करुणेश' जी के पश्चात् सम्मेलन को सबसे अधिक बल दिया था मौलिकचन्द्र शर्मा ने । यह दिल्ली की साहित्यिक प्रतिभाओं के पारस्परिक सहयोग का ही परिणाम था कि दिल्ली में सन् १९५५ में दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन आयोजित हुआ तथा सम्मेलन की 'साहित्य परिषद' में, जिसकी अध्यक्षता महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने की थी, 'साहित्यकार का दायित्व' विषय पर सर्वश्री बनारसी दास चतुर्वेदी, उदयशंकर भट्ट, जैनेन्द्र कुमार, नरेन्द्र शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के भाषणों की संकलन पुस्तिका आत्माराम एंड संस ने प्रकाशित की थी । इन भाषणों का संकलन-संपादन गोपाल कृष्ण कौल ने किया था ।

इस प्रकार दिल्ली का यह संक्षिप्त हिन्दी साहित्य का इतिहास अथवा दिल्ली की साहित्यिक भूली-बिसरी गतिविधियों का सामान्य परिचय है । दिल्ली के तत्कालीन हिन्दी के पत्रकार

सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार तथा बाद में मुकुट बिहारी वर्मा, अक्षय कुमार जैन आदि ने भी हिन्दी की विकासोन्मुखी गतिविधियों को सतत अग्रसर किया, इसके लिए हिन्दी उनकी भी ऋणी रहेगी। सबके सामूहिक सहयोग तथा संगठन शक्ति के बल पर ही आज हिन्दी राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है पर इसकी राष्ट्रीय स्थिति रचनात्मक रूप में हमारे सामने इन छोटे-छोटे प्रयासों से जानी जा सकती है। हिन्दी की सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ केवल मनोरंजनात्मक सृजन से अर्थलोलुपता की शिकार न हों तथा जनसाधारण की रुचियों को ह्रास की ओर न जाने दें। साहित्यकार के इसी दायित्व के निर्वाह को सम्पादित करने का लक्ष्य सदैव हमारे सामने रहे, यही संकल्प हमें लेना है। साहित्यकार, लेखक और कवि, समाज का प्रतिनिधि होता है, अतः उसके ऊपर समाज को कल्याण के प्रशस्त पथ पर ले जाने और स्वस्थ एवं आनंदमय दिशा दिखाने का दायित्व भी है। इस दायित्व का निर्वाह आज से पचास वर्ष पहले कवि समाज, इन्द्रप्रस्थ कवि-समाज और शनिवार समाज ने जिस भावना से किया था उसी निःस्वार्थ भाव से आज उसे फिर जागृत करना है। दिल्ली वासियों की इन स्वयं सेवी साहित्यिक संस्थाओं को विस्मृत नहीं करना चाहिए। इन संस्थाओं द्वारा जो कार्य हुआ वह हमारा प्रेरणास्रोत बने यही हमारी मंगल कामना है।

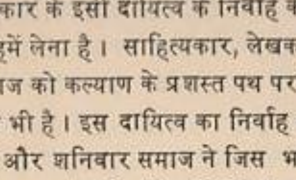

(पृष्ठ ८ का शेष)

सामान्य यानि दोनों की है।

वर्तमान समय में यह आम प्रचलन हो गया है कि हम लोग हिन्दी के प्रयोग के लिए उपदेशात्मक भाषा का सहारा लेते हैं। मैं आपको उपदेश देता हूँ कि हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए, आप इसी बात को दूसरे के लिए कहते हैं कि हिन्दी का प्रयोग बढ़ाया जाना चाहिए, परन्तु वास्तव में देखा जाये तो हम स्वयं अपने-अपने कामों में हिन्दी को बढ़ावा नहीं देते हैं। उदाहरण के लिए हमारे पारिवारिक कार्य हैं, जिसमें हम निजी पत्र लिखते हैं, परिवार में परस्पर बातचीत करते हैं, विभिन्न शुभ अवसरों पर निमंत्रण पत्र देते हैं, टेलीफ़ोन पर बातचीत करते हैं तथा अपने दोस्तों और मित्रों में पारस्परिक विचार-विमर्श करते हैं इन सभी कामों में अधिकतर अंग्रेजी का प्रयोग चल रहा है। हम छोटे-छोटे बच्चों को भी अंग्रेजी शब्दावली रटा कर उनको शिष्टाचार के तौर-तरीके समझाने का प्रयास करते हैं। विवाह आदि के निमन्त्रण-पत्र अंग्रेजी में छपवाना अपनी प्रतिष्ठा की बात समझते हैं। इसी प्रकार पारस्परिक बातचीत में तो ग़लत सही अंग्रेजी शब्दों, मुहावरों और वाक्यांशों का प्रयोग करने में गौरव का अनुभव करते हैं। हमारे बच्चे जब तक कॉनवेंट स्कूल में न पढ़ें तब तक हम शिक्षा का उद्देश्य पूरा होना नहीं मानते। ये सब बातें देखने में बहुत छोटी-छोटी सी हैं, परन्तु हम इन कामों में ही हिन्दी अपना लें तो उससे एक ऐसा वातावरण बनेगा जो हिन्दी के अनुकूल होगा और हमारी भावी पीढ़ी के मन में हिन्दी के प्रति सम्मान की भावना जागेगी और हिन्दी के संस्कार पनपने लगेंगे।

हिन्दी को व्यावहारिक रूप से प्रयोग में लाने के लिए हम सबको अपनी-अपनी तरह से सहयोग देना है और इस भाषा को अपने दैनिक कामकाज में अपना कर इसकी प्रतिष्ठा बढ़ानी है, इसे बढ़ावा देना और अंग्रेजी के स्थान पर इसे स्थापित करना है। हम सभी को किसी और की प्रतीक्षा न कर स्वयं हिन्दी को अपने कामकाज की भाषा बनाते हुए इसे बढ़ावा देना चाहिए। हम लोग बाजार चीजें खरीदने के लिए जाते हैं, रेल में सफर करते हैं, देश के एक भाग से दूसरे भाग तक यात्रा करते हैं, अपनी भाषा के अलावा अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में पहुँचते हैं। इन सभी अवसरों पर परस्पर हिन्दी में बातचीत करने में कोई कठिनाई सामने नहीं आती और हमारी आवश्यकता के अनुकूल सारे कार्य भी चल जाते हैं। यदि किसी प्रकार की मिली-जुली भाषा या कहिए सरल भाषा का प्रयोग हम अपने काम-काज में भी करें तो वह लोकप्रिय होगी और जिन लोगों की मातृ भाषा हिन्दी नहीं है उन्हें समझने, बोलने और लिखने में सुविधा भी रहेगी।

हमारी बातचीत में यदि अन्य भाषाओं के, यहाँ तक कि कोई शब्द अंग्रेजी का भी आजाए तो हिन्दी के प्रचार-प्रसार की दृष्टि और उसे लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से हमें खुल कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि जब माध्यम परिवर्तन होता है तो स्वाभाविक है कि अन्य भाषाओं के शब्द भी बराबर इस भाषा पर प्रभाव डालेंगे और अपनी बात दूसरे तक पहुँचाने में हमें सुविधा मिल जायेगी। अंग्रेजी भाषा के दरवाजे व खिड़कियाँ अन्य भाषाओं की शब्दावली के लिए सदा खुले रहे और उसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रियता प्राप्त की और इसी कारण लोगों को भी अपनाने में आसानी रही। हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष को मजबूत करने के लिए यह बात बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी और इससे हमें अंग्रेजी से भी छुटकारा मिल जाएगा और हिन्दी का प्रयोग हमारी आशाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल बढ़ता चला जायेगा। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है कि हम गूढ़ एवं संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के मोह में पड़कर अन्य

भाषा-भाषियों के लिए कठिनाई पैदा नहीं करनी चाहिए। सभी भाषाओं को मिलकर आगे बढ़ना है। हमें अपने देश की भाषाओं के प्रति मन से जुड़ना है। कठिन-सरल की बात छोड़कर, हिन्दी-हिन्दीतर की बात छोड़कर, अंग्रेजी के अंधे मोह को छोड़कर मन में भाषाई स्वाभिमान जगाना है और अपनी अस्मिता की पहचान करनी है। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की सहज-वाहिका शक्ति के रूप में भारतीय भाषाओं का गौरव भी बढ़ाना है। इसके लिए हमें अपनी हीन भावना और अंग्रेजी से जुड़ी हुई झूठी प्रतिष्ठा का दामन छोड़ना होगा।

इस सबसे हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि जब तक हम अपनी मानसिकता को बदल कर हिन्दी के प्रति लगाव उत्पन्न नही करेंगे, इसे मन से नहीं जोड़ेंगे तब तक न तो संविधान द्वारा प्रदत प्रावधान, नियम, अथवा कानून ही सहायक सिद्ध होंगे और न सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर किए जा रहे प्रयासों से ही सफलता मिलेगी, भले ही हम कितनी बार हिन्दी दिवस मना लें और भाषा सम्मेलन, राजभाषा संगोष्टियाँ या विश्व स्तरीय सम्मेलन आयोजित क्यों न कर लें। प्रश्न भाषाई स्वाभिमान का है, अपनी भाषाओं व बोलियों को मन से जोड़ने का है, अपनी माटी, धरती तथा अपनी अस्मिता से जुड़ने का है।

स्वतंत्रता के पावन पर्व तथा हिन्दी दिवस के उपलक्ष्य में पाठकों को हार्दिक बधाई !

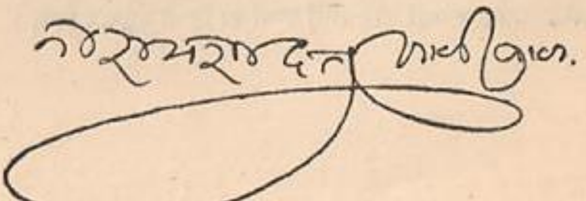

(पृष्ठ २ का शेष)

सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं घुमक्कड़ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने आपको परिव्राजक बनाया। २३ वर्ष की आयु में यानि १९२८ में आप श्रीलंका पहुँचे। वहाँ आपने उपसंपदा पाई व त्रिपिटक का अध्ययन किया और आप आनन्द कौसल्यायन बन गये। धीरे-धीरे शोध और सृजन की तरफ आपका रुझान बढ़ता गया। आपने संस्कृत, पाली, अंग्रेजी के अलावा सिंहली में भी कुशलता हासिल की। १९३२ में धर्मदूत बनकर आप लन्दन गये। चीन, जापान, थाईलैंड आदि देशों की यात्राएँ आपने कीं।

श्रीलंका के विद्यालंकार पीरिवेण (विश्वविद्यालय) में आपने राहुल सांकृत्यायन के साथ मिलकर शोध कार्य किया जिसके लिए आपको डी० लिट्० की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। १० वर्ष तक विद्यालंकार पीरिवेण में हिन्दी संकाय के डीन रहे। नागपुर विश्वविद्यालय सीनेट के आप सदस्य भी रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने आपको साहित्य वाचस्पति की उपाधि प्रदान की। नालन्दा महाविद्यालय की ओर से पाली तथा बौद्ध धर्म की सेवा के लिए आपको विद्यावारिधि की उपाधि भी प्रदान की गयी।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, विद्वान और साहित्यकार भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने सौ से अधिक पुस्तकों की रचना की। डॉ० अम्बेडकर के विख्यात ग्रन्थ 'बुद्ध एण्ड हिज धर्मा' और बौद्ध जातक कथाओं और पाली ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया।

प्रस्तुति : **हरिसुमन बिष्ट**

इन्द्रप्रस्थ भारती के

रचनाकारों से अनुरोध

१. **इन्द्रप्रस्थ भारती** में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री सरल एवं सुबोध भाषा में होनी चाहिए।

२. इन्द्रप्रस्थ भारती में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री के साथ मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण-पत्र भेजना आवश्यक है।

३. अनुवाद के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना आवश्यक है।

४. 'साहित्य-भारती' और 'विश्व-साहित्य' स्तम्भ मूल भाषा से अनूदित रचनाओं को प्राथमिकता दी जाएगी है।

५. सामग्री कागज़ के एक ओर हाशिया छोड़कर, एक ही ओर लिखी हो, अन्यथा टाइप करा कर भेजने से सुविधा होगी।

६. पत्रिका त्रैमासिक होने के कारण स्वीकृति रचनाएं प्रकाशित होने में थोड़ा समय लगता है। किन्तु निर्णय की सूचना यथाशीघ्र भेज दी जाती है।

७. समीक्षा के लिए पुस्तकों का चयन हम स्वयं करते हैं। कृपया अपने आप समीक्षा करके भेजने का कष्ट न करें।

—सम्पादक

भारत सरकार समाचार पत्र प० सं० ४७२८२ ८८

हिन्दी अकादमी, दिल्ली

महत्त्वपूर्ण कार्य व उपलब्धियाँ

साहित्यिक गोष्ठियाँ, सम्मेलन, परिचर्चा आदि

गोष्ठियाँ :

शिक्षा गोष्ठी, पत्रकारिता गोष्ठी, अनुवाद गोष्ठी, 'मुंशी प्रेमचन्द' संगोष्ठी, 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी' संगोष्ठी, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' संगोष्ठी, 'मैथिलीशरण गुप्त' संगोष्ठी, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद' संगोष्ठी,

'हिन्दी और राष्ट्रीय एकता' संगोष्ठी, 'हिन्दी-उर्दू आपसी संबंध' संगोष्ठी, 'आचार्य काका कालेलकर' संगोष्ठी, 'महामना मालवीय' संगोष्ठी,

'संत रविदास' संगोष्ठी 'सुब्रह्मण्य भारतीय' संगोष्ठी एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के साथ संगोष्ठी।

परिचर्चा और सम्मेलन :

हिन्दी शिक्षक सम्मेलन, हिन्दी कार्यकर्ता सम्मेलन, 'स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दी साहित्यकारों का योगदान' परिचर्चा, 'साहित्य और सौहार्द' परिचर्चा, 'साहित्य और सद्भाव' परिचर्चा, 'हिन्दी के बीस वसंत' परिचर्चा, 'हिन्दी हम सबकी' परिचर्चा, हिन्दी सप्ताह/पखवाड़े का आयोजन, साहित्यकार भेटवार्ता, 'अखिल भारतीय हिन्दी कार्यकर्ता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रतिनिधि स्वागत' सम्मेलन।

कवि सम्मेलन :

अकादमी द्वारा प्रतिवर्ष गणतंत्र दिवस तथा स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में क्रमशः २३ जनवरी तथा १२ अगस्त को राष्ट्रीय कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। राष्ट्रीय एकता साम्प्रदायिक सौहार्द की भावना के प्रचार और प्रसार के लिए अकादमी द्वारा कुछ विशेष कवि-सम्मेलनों का आयोजन भी किया गया जिनमें 'एकता के स्वर', 'चेतना के स्वर', 'वंदना के स्वर', 'मैथिलीशरण गुप्त जन्म शताब्दी कवि-सम्मेलन', १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की स्मृति में हिन्दी, उर्दू, पंजाबी भाषाओं का सम्मिलित कवि सम्मेलन प्रमुख हैं।

डॉ० नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, द्वारा हिन्दी अकादमी, दिल्ली के लिए प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं० ११, विश्वास नगर, दिल्ली-११००३२ में मुद्रित।